समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन (1990-2015)

SAMKALIN HINDI UPANYASON MEIN ABHIVYAKT STREE-JEEWAN (1990-2015)

(DEPICTION OF WOMEN-LIFE IN THE CONTEMPORARY HINDI NOVEL) (1990-2015)

(पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध)

शोध निर्देशक

प्रो. ओमप्रकाश सिंह

शोधार्थी

रेणु चौधरी

भारतीय भाषा केंद्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली 110067

2019

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
Jawaharlal Nehru University
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Language
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत **New Delhi-110067, INDIA**

अध्यक्ष

CHAIRPERSION

Date: 19/07/2019

CERTIFICATE

This is to certify that the Mr./Ms **RENU CHOUDHARY,** a bona-fide Research Scholar of Centre of Indian Language, SLL&CS has fulfilled all the requirements as per the University Ordinance for the submission of Ph.D. thesis entitled **"SAMKALIN HINDI UPANYASON MEIN ABHIVAYKAT STRI-JEEWAN (1990-2015)" (DEPICTION OF WOMEN-LIFE IN THE CONTEMPORARY HINDI NOVEL (1990-2015).**

This may be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of Ph.D.

PROF. OMPRAKASH SINGH
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. OMPRAKASH SINGH
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

Date: 19 /07/2019

DECLARATION

I hereby declare that the Ph.D. thesis entitled **"SAMKALIN HINDI UPANYASON MEIN ABHIVAYKAT STRI-JEEWAN (1990-2015)" (DEPICTION OF WOMEN-LIFE IN THE CONTEMPORARY HINDI NOVEL (1990-2015)** submitted by me is the original research work. it has not been previously submitted for any other University/Institution to the best of my knowledge

I further declare that no plagiarism has been committed in my work. If anything is found plagiarize in my thesis, I will be solely responsible for the act.

Renu Choudhary

RENU CHOUDHARY

उनके लिए जिनसे मेरा वजूद है...

विषय-सूची

भूमिका: **1-6**

अध्याय 1 : हिन्दी उपन्यास और स्त्री-जीवन **7-41**

1.1 प्रारंभिक युग

1.2 प्रेमचंद युग

1.3 प्रेमचंदोत्तर युग

1.4 स्वातंत्र्योत्तर युग

अध्याय 2 : समकालीन परिदृश्य और स्त्री-जीवन के बदलते सरोकार **42-67**

2.1 समकालीनता का अर्थ और आशय

2.2 समकालीन परिदृश्य और स्त्री-जीवन

2.2.1 बदलते आर्थिक संबंध और स्त्री

2.2.2 बाजार, मीडिया और स्त्री सरोकार

2.2.3 समाज, परिवार, धर्म, राजनीति और स्त्री

2.3 पितृसत्ता के बदलते रूप और स्त्री प्रतिरोध

अध्याय 3 : पुरुष उपन्यासकारों की दृष्टि में स्त्री-जीवन के विविध पक्ष **68-101**

3.1 पारिवारिक दायित्व और पति-पत्नी संबंध

3.2 स्त्री मुक्ति का प्रश्न

3.3 स्त्री यौनिकता और दैहिक मुक्ति का प्रश्न

3.4 चयन और निर्णय का अधिकार

3.5 प्रेम, विवाह और विवाहेत्तर संबंध

3.6 मां, बहन, पुत्री, पत्नी, प्रेयसी के विविध रूप

3.7 स्त्री के सामाजिक, सांस्कृतिक सरोकार

अध्याय 4 : स्त्री उपन्यासकारों की दृष्टि में स्त्री-जीवन के विविध पक्ष **102-152**

4.1 पारिवारिक दायित्व और पति-पत्नी संबंध

4.2 अस्मिता का प्रश्न और स्त्री

4.3 विवाह संस्था का बदलता स्वरूप और स्त्री

4.4 मातृत्व का सवाल और स्त्री

4.5 स्त्री की सामाजिक स्थिति

4.5.1.राजनैतिक अधिकार और स्त्री प्रश्न

4.5.2 आर्थिक प्रश्न और स्त्री

4.5.3 धर्म में स्त्री का स्थान

4.6. शोषित और उत्पीड़ित स्त्रीः मुक्ति के सवाल

अध्याय 5 : स्त्री और पुरुष उपन्यासकारों का दृष्टि-भेदः स्त्री-जीवन के संदर्भ में **153-176**

5.1. दैहिक स्वतंत्रता तथा यौन मुक्ति

5.2. प्रेम, विवाह, पारिवारिक जीवन का चित्रण

5.3 आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न

5.4 स्त्री जीवन का मानसिक पक्ष

5.5 स्त्री संघर्ष और मुक्ति के सवाल

अध्याय 6 : समकालीन हिन्दी उपन्यास का शिल्प और भाषा **177-189**

6.1.स्त्री-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए स्त्रियों की भाषा

6.2. स्त्री-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए पुरुषों की भाषा

उपसंहार **190-200**

संदर्भ ग्रंथ सूची **201-211**

भूमिका

दुनिया की आधी आबादी आज से नहीं सदियों से शोषित रही है। शुरू से ही मैंने स्त्री उत्पीड़न की पीड़ा को करीब से महसूस किया है। इसकी वजह मेरे आस-पास का माहौल था। जब भी मैं पड़ोस की किसी स्त्री को उसके पति या किसी अन्य पुरुष द्वारा प्रताड़ित होती देखती तो बेचैन हो जाती। बचपन से ही मैं स्त्री-जीवन से संबंधित कहानी और उपन्यासों को पढ़ती रही हूँ। मन में यह सवाल तभी से उठता रहा है कि स्त्री की नियति आखिर ऐसी क्यों है? समाज में अनपढ़ तथा पढ़ी-लिखी स्त्रियों के बीच अंतर को देखकर बचपन में ही मैंने यह निश्चय किया था कि मैं भी खूब पढ़ूँगी। इसलिए जब मैं जे.एन.यू आयी और शोध करने का मौका मिला तो स्त्री जीवन के जटिल यथार्थ एवं समस्याओं को और करीब से जानने की इच्छा प्रबल हो गई। अत: मैंने अपने शोध का विषय स्त्री जीवन को चुना और अपने शोध निर्देशक प्रो. ओमप्रकाश सिंह से विचार-विमर्श किया। सर ने अपनी सहमति 'समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन (1990-2015)' विषय पर दे दी। फिर क्या था, सर की अनुमति मिलते ही शोध-कार्य की लम्बी प्रक्रिया की तरफ बढ़ने लगी।

इस तरह मैंने शोध-कार्य शुरू किया। मैं अपने शोध-कार्य के माध्यम से स्त्री-जीवन की जटिलताओं और उसकी समस्याओं को जानने-समझने की कोशिश की हूँ। अगर मैं स्त्री-जीवन से संबंधित समस्याओं को थोड़ा भी बेहतर ढंग से अपने शोध-प्रबंध में व्यक्त कर पाई हूँ तो यह मेरी बड़ी उपलब्धी होगी। मैं जहां से हूँ, वहाँ स्त्री की स्थिति आज भी बहुत खराब है। वहाँ आज भी लोग अपनी बेटियों को पढ़ाना नहीं चाहते। बेटे के पीछे खूब पैसे खर्च करते हैं लेकिन बेटियों का जल्द से जल्द विवाह करके उन्हें पारिवारिक जिम्मेदारियों में बांध देना चाहते हैं। दरअसल हमारी सामाजिक निर्मिति ही ऐसी है। यहां स्त्रियों को पुरुषों से, कमतर आंका जाता है। इसकी वजह सामाजिक विकास में स्त्री-पुरुष के बीच की सामाजिक विषमता है। बचपन से ही स्त्री लैंगिक भेद-भाव का शिकार होती है। पितृसत्तामक व्यवस्था में स्त्री सदियों से दोयम दर्जे का जीवन यापन करती आयी है और इसी दोयम दर्जे की जीवन की त्रासदी का यथार्थ सामाजिक उत्पीड़न है। स्त्री का शोषण आज से नहीं बल्कि वर्ण व्यवस्था पर आधारित सामाजिक संरचना से गुजरते हुए सामंत काल से लेकर आधुनिक काल तक के इतिहास में दृष्टिगोचर होता है। भारत के समकालीन सामाजिक परिदृश्य को देखें तो आज भी हमारे सामने शोषण की दिल दहला देने वाली घटनाएं मौजूद हैं। भारत का कोई भी ऐसा राज्य नहीं जहाँ स्त्री शोषण की घटनाएं आए दिन न घटती हों? दिल्ली में ही अभी कुछ वर्ष पहले 'निर्भया कांड' और 'आरुषि कांड' जैसी रोंगटे खड़े कर देने

वाली घटनाएं घटीं, जिसने भारत ही नहीं विश्व समाज को झकझोर कर रख दिया। यह सामाजिक बिडंबना ही है कि स्त्री घर में माता और लक्ष्मी कही जाती है और बाहर उसके साथ बलात्कार किया जाता है। बाहर ही नहीं बल्कि घर के अंदर भी उसे बलात्कार जैसी जघन्य पीड़ा को सहन करना पड़ता है। पितृसत्तात्मक समाज एक ऐसी विडबंना की रचना करता है, जो कहता कुछ है और करता कुछ और बालजाक के शब्दों में ''उससे नौकरानी जैसा व्यवहार करो पर उसको समझा कर रखो कि वह महारानी है।''[1] भारतीय समाज में ही नहीं बल्कि दुनिया के हर देश में स्त्रियों का शोषण अनेक स्तरों पर होता रहा है।

आज यह कहा जा रहा है कि स्त्री शिक्षित हो रही है और आर्थिक रूप से मजबूत हो रही है 21वीं शदी में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिला कर काम कर रही है। यह बात सच है कि स्त्री आज स्वावलंबी हुई है। उन सारे क्षेत्रों में अपनी पहचान बना रही है जहाँ एक समय उन क्षेत्रों में स्त्री के लिए जाना वर्जित था। इसके बावजूद स्त्रियों को यह समाज आज भी दोयम दर्जे का नागरिक समझता है। समाज में इतनी सारी वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद उसका ढांचा अभी भी सामंती और पितृसत्तात्मक ही है। घर से लेकर बाहर तक स्त्रियों के लिए बड़े-बड़े नारे, उनके शिक्षित करने के लिए योजनाएँ बनायी गयीं लेकिन अभी भी घर में उन्हें माँ, बेटी, बहन और पत्नी की भूमिका से बाहर देखने के लिए यह पितृसत्तात्मक समाज तैयार नहीं है। आज स्त्री ने तमाम सामाजिक, नैतिक और आचरण संबंधी मूल्यों को उपयोगिता की दृष्टि से देखना प्रारंभ किया। वर्तमान समय में वे इतनी शिक्षित हैं कि अपनी तमाम समस्याओं की जड़े तलाश सकती है। वैश्वीकरण के दौर में उनकी दृष्टि में भी विकास हुआ। आज जो उपन्यास लिखे जा रहे हैं, उनके स्त्री पात्र अपनी स्थिति के प्रति जागरूक हैं। वे एक बेहतर भविष्य के निर्माण के लिए प्रतिबद्ध हैं। सवाल यह है कि पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संरचना में रहते हुए बेहतर भविष्य मिल पायेगा या इस पूरी संरचना को तोड़ते हुए उसे आगे बढ़ना होगा ? अत: प्रस्तुत शोध-प्रबंध 'समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन' (1990-2015) के अंतर्गत मैंने इन 25 सालों में (1990 से 2015) हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त स्त्रियों की दशा और दिशा की संभावनाओं को खँगालने का कार्य किया है।

वैश्वीकरण के बाद सबसे ज्यादा परिवर्तन मनुष्य के जीवन में हुआ। इससे मनुष्य के दैनिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव का असर स्त्री-जीवन पर भी पड़ा। फलस्वरूप स्त्री-जीवन के परिदृश्य में बदलाव आने शुरु हुए। हिन्दी उपन्यासकारों ने इस बदलते हुए परिदृश्य का दस्तावेजीकरण किया, जिसे पकड़ने का कार्य भी मैंने प्रस्तुत शोध-प्रबंध में किया है। इस बिन्दु

[1] उद्धृत, सीमोन द बोउवार, स्त्रीः उपेक्षिता, पृ-335

पर भी बात की है कि किस तरह से बदलते परिदृश्य के स्त्री-लेखन में स्त्रियां सक्रिय भूमिका निभाने लगीं, जो पुरुष वर्चस्व को चुनौती देने जैसा था । पुरुष वर्चस्व के विरोध का मतलब था पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों में स्त्रियों की बराबरी की हिस्सेदारी और भागीदारी। जिन क्षेत्रों में अभी तक पुरुषों का दबदबा बना हुआ था, उन क्षेत्रों में अब स्त्रियां भी हस्तक्षेप करने लगीं हैं। एक समय ऐसा भी था जब स्त्री के लिए उपन्यास पढ़ने का मतलब उसका मस्तिष्क भ्रष्ट हो जाना और तथाकथित सामाजिक संरचना का ढ़ह जाना समझा जाता था। अब ऐसा समय आ गया है जहां स्त्रियां न सिर्फ उपन्यास पढ़ रही हैं बल्कि स्वयं उपन्यास रच भी रही हैं। अपनी पीड़ा को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त कर रही हैं। स्त्रियों के निमित्त भारतीय सामाजिक वर्जनाओं के टूटने की यह एक चुनौतिपूर्ण मिसाल है। उपन्यास के क्षेत्र में स्त्रियों का इस प्रकार दस्तक देना स्त्रियों द्वारा लायी गयी सामाजिक और साहित्यिक क्रांति का प्रतीक है। समकालीन समय में स्त्री और पुरुष दोनों ही स्त्री को केन्द्र में रख कर उपन्यास लिख रहे हैं। स्त्री-जीवन एक विराट फलक है। हमें यह देखने की जरूरत है कि स्त्री-पुरुष रचनाकार जिस वर्ग के स्त्री समाज को अपने उपन्यास में अभिव्यक्त कर रहे हैं, क्या उस वर्ग के पात्रों के साथ वे न्याय कर पा रहे हैं? उनकी दृष्टि में कोई भेद तो नहीं है, इसका तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। साथ ही यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि जो समस्याएँ समाज में हैं, क्या उसे उपन्यास में लाया जा रहा है? अगर नहीं तो क्यों? या फिर कहीं ऐसा तो नहीं कि पितृसत्तात्मक समाज का वर्चस्व आज भी खत्म होने का नाम नहीं ले रहा है? क्योंकि पुरुषत्व को अपना वर्चस्व हिल जाने का डर है इसीलिए तो वह स्त्री के हक-अधिकार के बारे में नहीं सोचते। यही वजह है कि पहाड़-जैसा सवाल कि समानता कैसे आएगी बना हुआ है? इन सारे प्रश्नों को केन्द्र में रखकर प्रस्तुत शोध-प्रबंध में विचार-विमर्श किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध छः अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय **'हिन्दी उपन्यास और स्त्री-जीवन'** है। इस अध्याय में हिन्दी उपन्यासों में स्त्री-जीवन किस तरह प्रस्तुत हुआ है इस पर विचार किया गया है। इसके अलावा इस अध्याय में 1990 तक के उपन्यसों में स्त्री का जीवन किस तरह बदला है? उस पर भी प्रकाश डाला गया है। साथ ही इसमें उपन्यासों का अध्ययन चार कालखण्डों में बाँट कर किया गया है। प्रारंभिक युग, प्रेमचंद युग, प्रेमचंदोत्तर युग तथा स्वातंत्र्योत्तर युग के उपन्यासों में चित्रित स्त्री-जीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन किया गया है।

दूसरा अध्याय **'समकालीन परिदृश्य में स्त्री-जीवन के बदलते सरोकार'** है। इस अध्याय में समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन के संदर्भों के आधार पर समकालीन परिदृश्य में स्त्री-जीवन के बदलते सरोकारों पर विचार किया गया है। सामाजिक पहलू

के अंतर्गत इस अध्याय में यह विचार किया गया है कि समाज में स्त्री-पुरूष के बीच कैसा संबंध है? बाजार, विज्ञापन और आर्थिक दुनिया में स्त्री का विविध रूप कैसा है? संविधान में स्त्रियों को कौन-कौन से मूलभूत अधिकार प्राप्त हैं? पहले से लेकर अब तक क्या स्त्रियों के जीवन में कोई बदलाव आया है? और यदि नहीं आया है तो क्यों नहीं आया। क्या पितृसत्तात्मक समाज के शोषण से स्त्री मुक्त हो पाएगी? इन सभी सवालों पर इस अध्याय में प्रकाश डाला गया है। साथ ही साथ इस अध्याय में यह भी दिखाया गया है कि स्त्री की राजनीतिक भागीदारी कैसी है? सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं से जूझती स्त्री का प्रतिरोध कैसा है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए अंत में स्त्री-जीवन के बदलते परिदृश्य का अध्ययन कर मूल्यांकन किया गया है।

तीसरा अध्याय **'पुरुष उपन्यासकारों की दृष्टि में स्त्री-जीवन के विविध पक्ष'** है। इस अध्याय के अंतर्गत पुरुषों द्वारा लिखे गये उपन्यासों में स्त्री-जीवन के विभिन्न पहलुओं को कैसे अभिव्यक्त किया गया है ? जो अभिव्यक्त हुआ है वह कितना यथार्थपूर्ण है ? आदि बिन्दुओं पर विचार किया गया है। इस अध्याय में पुरुषों द्वारा लिखे गये उपन्यासों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं का समय, स्थान एवं परिवेश के आधार पर जाँच-पड़ताल किया गया है।

इसी तरह मैंने शोध के चौथे अध्याय **'स्त्री उपन्यासकारों की दृष्टि में स्त्री-जीवन के विविध पक्ष'** में यह देखने का प्रयास किया है कि स्त्री उपन्यासकार स्त्री-जीवन को समकालीन समय में किस तरह से अभिव्यक्त कर रही हैं ? क्या आज की स्त्री उपन्यासकार स्त्री के शोषण, वैयक्तिक जीवन, प्रेम, विवाह, तलाक, पारिवारिक बंधन आदि को यथार्थपूर्ण तरीके से अभिव्यक्त कर पा रही हैं? क्या स्त्री रचनाकार आदर्श को त्याग कर स्त्री के यथार्थ को दर्शा पा रही हैं? क्या स्त्री उपन्यासकार अपने अंतर्मन की पीड़ा को अच्छी तरह से अभिव्यक्त कर रही है? क्या वह अपने अस्तित्व और अस्मिता के प्रति जागरुक हुई है? इन सभी प्रश्नों पर इस अध्याय में विस्तार से विचार किया गया है।

शोध-प्रबंध का पाँचवां अध्याय **'पुरुष और स्त्री उपन्यासकारों का दृष्टि-भेदः स्त्री जीवन के संदर्भ में'** है। इस अध्याय के अंतर्गत यह देखने की कोशिश की गई है कि स्त्री-पुरुष रचनाकारों के उपन्यासों में स्त्री-जीवन के श्रम, शोषण, वैयक्तिक जीवन, प्रेम, विवाह, यौनिकता, तलाक, पारिवारिक बंधन आदि को किस तरह प्रस्तुत किया गया है ? इसका तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। साथ ही साथ इस अध्याय में यह भी पड़ताल की गई है कि पुरुष और स्त्री उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री-जीवन के संदर्भ में दृष्टि भेद है या नहीं? अगर है तो उसके क्या कारण हैं? इन कारणों को तलाशते हुए उनके तह तक जाने की कोशिश इस अध्याय में की गई है।

शोध के छठे अध्याय **'समकालीन हिन्दी उपन्यास का शिल्प और भाषा'** में इस बात की चर्चा की गई है कि समकालीन स्त्री केन्द्रित हिन्दी उपन्यास की संरचना, शिल्प और भाषा में किस तरह का परिवर्तन आया है? स्त्री-जीवन पर जब एक स्त्री लिखती है तो उसकी भाषा, कहने ढंग, शब्दों का चुनाव तथा टोन किस तरह का होता है। जब पुरुष स्त्री-जीवन पर लिखता है तो उसके शब्द और टोन, भाषा तथा कहने का ढंग कैसा होता है ? स्त्री और पुरुष की भाषा में क्या अंतर है? इस अंतर का क्या कारण है? आदि ऐसे तमाम महत्वपूर्ण बिन्दुओं को जाँचने-परखने की कोशिश की गई है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध का लेखन मेरे श्रद्धेय शोध निर्देशक प्रो. ओमप्रकाश सिंह के स्नेहासिक्त, मार्गदर्शन और सहयोग के कारण ही संभव हो पाया। उनके साथ किए गए विचार-विमर्श और समय-समय पर उनके द्वारा दिये गये बहुमूल्य सुझाव ही मेरे संबल बने। शोध के विषय चयन से लेकर शोध-प्रबंध को पूरा करने तक सर का सुझाव अमूल्य रहा है। सर का आभार प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं। सर के सहयोग और मार्गदर्शन का ही परिणाम है कि मैं इस शोध-प्रबंध को पूरा कर पाई। अंत में भारतीय भाषा केन्द्र, जे.एन.यू. पुस्तकालय, तीनमूर्ति पुस्तकालय, साहित्य अकादमी पुस्तकालय को भी धन्यवाद देती हूँ जिनका सहयोग मुझे शोध-प्रबंध लिखने के दौरान मिला।

शोध-कार्य के दौरान एम. ए. के अध्यापकों टी. जे. रेखारानी मैडम और अभिषेक रौशन सर का सहयोगात्मक रवैया मेरे लिए लाभकारी रहा, उनको मैं हृदय से धन्यवाद देती हूँ। शोध कार्य को व्यवस्थित बनाने और त्रुटिहीन बनाने में निहाल सर का महत्वपूर्ण योगदान रहा जिन्होंने मेरी बांगला मिश्रित हिन्दी को डांट-डांट कर सुधारा। उनको आभार प्रकट कर उनके स्नेह को मैं कम नहीं करना चाहूँगी। प्यारी गुड़िया को कैसे भूल सकती हूँ जिसे नेट की तैयारी करवाते समय अपने हिन्दी के ज्ञान को भी बढ़ाने का अवसर मिला।

संदीप सर के बारे में क्या लिखूं, उनका सहयोग जे.एन.यू. में मेरे नामाकंन से लेकर आज तक मिलता रहा है। मैं चाहूँगी यह सहयोग आगे भी बना रहे। सर को बहुत बहुत धन्यवाद। कंचन दीदी का मार्गदर्शन शोध-प्रबंध लिखने में बहुत ही महत्वपूर्ण रहा। उनको बहुत बहुत धन्यवाद। मैंने अपने शोध के विषय में शिव, सुशील, विजय, कंचन, उमेश, सोनम इन सभी से विचार-विमर्श किया। ये लोग मेरे शोध-कार्य के सहभागी रहे हैं। साथी कवि निशांत को धन्यवाद।

शोध-कार्य के दौरान जैनेन्द्र, रामानुज, अशोक, लीना, धीरेन्द्र, मंजू, ओम, ओम मीणा, देव, आकृति आदि दोस्तों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहयोग मिलता रहा। इन सभी दोस्तों को

हृदय से धन्यवाद। इसके साथ ही मेरे जूनियर्स में कल्पना कविता पासवान, कंचनलता, सोनम सिंह, गौरव, सुमित, अश्वनी जिनका सहयोग मेरे शोध-प्रबंध में रहा। सभी को बहुत-बहुत धन्यवाद। इसके साथ ही भारतीय भाषा केन्द्र के रमेश भैया और रावत सर को बहुत बहुत धन्यवाद जिन्होंने एम. फिल. के दौरान से लेकर पीएच.डी. तक ऑफिस में किसी भी कार्य के लिए पूर्ण सहयोग किया।

अपने माता-पिता के बारे में क्या लिखूँ, उन्हीं से मेरा अस्तित्व है। वे हैं, तभी मैं हूँ। यह शोध-प्रबंध उनके संघर्षों का ही फल है। शोध-प्रबंध लिखने के दौरान मेरी छोटी बहन शीला, अनिकेत, छोटू, गोलू और दीदी का भावनात्मक सहयोग किसी न किसी रूप में मिलता रहा। जिनकी बातों से मैं अपनी परेशानियों को भूल जाती हूँ। इन्हीं सब के सहयोग का अपेक्षित परिणाम है- यह शोध-प्रबंध।

रेणु चौधरी

अध्याय-1

हिन्दी उपन्यास और स्त्री-जीवन

1.1. प्रारंभिक युग

1.2. प्रेमचंद युग

1.3. प्रेमचंदोत्तर युग

1.4. स्वातंत्र्योत्तर युग

हिन्दी उपन्यास और स्त्री-जीवन

'उपन्यास' शब्द दो शब्दों से मिल कर बना है – उप + न्यास। 'उप' का अर्थ है समीप और 'न्यास' का अर्थ है--रखना अर्थात् 'समीप रखना'। उपन्यास के लिए अंग्रेजी में 'नॉवेल' शब्द का प्रयोग होता है। 'न्यू इंग्लिश डिक्शनरी' के अनुसार ''नॉवेल वह विस्तृत गद्यात्मक आख्यान प्रधान रचना है जिसमें वास्तविक जीवन का अनुकरण करने वाली घटनाओं और पात्रों का एक व्यवस्थित कथा-वस्तु के रूप में वर्णन रहता है।''[1]

हिन्दी साहित्य जगत में उपन्यास एक नवीन विधा है, जिसका प्रारंभ 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जाता है। दरअसल हिन्दी में गद्य साहित्य के शुरुआत के साथ ही उपन्यास का आविर्भाव हुआ। उपन्यास का फलक काफी विस्तृत होता है। उसे मानव जीवन का प्रतिबिम्ब कहा गया है। जिसमें मानव जीवन की कथा, मानव की भाषा में कही जाती है। एक तरह से देखा जाए तो उपन्यास में मानव जीवन की कथा अधिक जीवंतता के साथ चित्रित होती है। साहित्य की समस्त सर्जनात्मक विधाओं में उपन्यास सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधा है। इसमें मानव जीवन के हर एक पहलू को पूरी तन्मयता के साथ अभिव्यक्त किया जाता है। संभवतः उपन्यास में मानव जीवन की सर्वांगीण छवि को अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है। रैल्फ फॉक्स का कहना है ''मनुष्य के जीवन को सर्वांगीण रूप में जितना उपन्यास चित्रित कर सकता है, उतना साहित्य का दूसरा अंग नहीं कर सकता।''[2] मैनेजर पाण्डेय मिशेल जेराफा के हवाले से कहते हैं ''उपन्यास ऐसी कला है जिसमें मनुष्य सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से निरुपित होकर सामने आता है।''[3] इस तरह उपन्यास मानव जीवन के सामाजिक और ऐतिहासिक घटनाओं को रेखांकित करता है।

उपन्यास को प्रेमचंद मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा मानते हैं। उनका कहना है ''मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्र मात्र समझता हूं। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।''[4] उपन्यास गद्य की प्रमुख विधाओं में सबसे आधुनिक विधा है। डॉ. गोपाल राय ने उपन्यास के उदय के बारे में लिखा है ''ईसवी सन् की पहली सहस्त्राब्दी में दुनिया की किसी भी भाषा में उपन्यास नहीं मिलता। संभवतः उपन्यास के उदय और विकास के लिए जो परिस्थितियां अपेक्षित थीं वे प्रथम सहस्त्राब्दी तक अस्तित्व में नहीं आयी थीं।...उपन्यास के अनुकरण और पल्लवन के लिए जरूरी बुनियादी संरचना के रूप में गद्य का विकास और मुद्रण यंत्र का आविष्कार आवश्यक था। यूरोप में तेरहवीं शताब्दी में मुद्रण यंत्र का आविष्कार हुआ, जिससे गद्य के विकास में अभूतपूर्व तेजी आयी। सामंतवाद के स्थान पर पूंजीवाद के उदय का भी समय लगभग यही है। पूंजीवाद के साथ मध्यवर्ग का भी विकास हुआ, जिसने अपनी विशालता और बौद्धिक जागरुकता के कारण विशाल पाठक

वर्ग का भी रूप ले लिया। चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में यूरोप में मध्यवर्गीय पाठक वर्ग पैदा हो गया था, जिसने वहां उपन्यास के उदय के लिए बुनियादी संरचना के निर्माण में योग दिया। फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व ही यूरोप में उपन्यास अस्तित्व में आ गया।''[5] दरअसल भारत में उपन्यास का उदय उन्नीसवीं सदी के मध्य से माना जाता है, उस समय देश में अंग्रेजों का राज था। एक तरह से देखा जाए तो उपन्यास पूँजीवादी सभ्यता की देन है। रामदरश मिश्र का मानना है ''पूँजीवादी सभ्यता के विविध जीवन-सत्यों को कथा के माध्यम से व्यक्त करने के लिए ही इसकी उत्पति हुई है।''[6] इस तरह पूँजीवादी सभ्यता में मानव जीवन मूल्यों को अभिव्यक्त करने के लिए एक जनप्रिय विधा का रूप उपन्यास है।

आधुनिक युग में उपन्यास का उदय यूरोप में हुआ। वहां पर इसके उदय के अनुकूल जमीन पहले से ही तैयार हो गई थी। बाद में यह विधा धीरे-धीरे पूरे विश्व में फैलकर विश्वव्यापी बन गया। यह सच है कि उपन्यास एक ऐसा माध्यम है जो अन्य साहित्यिक रूप की तुलना में अधिक समाजबद्ध, इतिहास-निर्भर और समय-सापेक्ष है। मैनेजर पाण्डेय फ्रांस की मादाम स्तेल का हवाला देते हुए लिखते हैं ''उन्हीं समाज में उपन्यास का विकास होता है जहाँ स्त्रियों का स्थान ऊंचा हो और व्यक्तिगत जिन्दगी में लोगों की गहरी दिलचस्पी हो।...भारत में उपन्यास का जब उदय हुआ तब भारतीय समाज में स्त्री रूढ़ियों में जकड़ी, आदर्शों से घिरी और यातनाओं में जी रही थी, इसलिए आरंभिक भारतीय उपन्यासों में वह कहीं भारतीय और पाश्चात्य मूल्यों के द्वन्द्व की रणभूमि बनी दिखाई देती है, तो कहीं आदर्श की प्रतिमा और वीरांगना के रूप में चित्रित हुई है। वह कहीं पतिता है तो कहीं पतिव्रता। कहीं-कहीं उपन्यासकार की पुरानी मूल्य चेतना और नई सुधारवादी दृष्टि के बीच द्वन्द्व भी स्त्री के माध्यम से व्यक्त हुआ है। यह स्थिति बंगला के बंकिम और शरत, हिन्दी के प्रेमचंद और गुजराती के गोवर्धनराम त्रिपाठी के उपन्यासों में दिखाई देती है। अनेक उपन्यासकारों ने भारतीय परिवार में स्त्री के उत्पीड़न की करुण कथा कही है।''[7] शरदचंद के उपन्यासों में स्त्री के प्रति गहरी सहानुभूति है। स्त्री इनके यहां रूढ़िवादी परंपरा को तोड़ती दिखाई देती है। जिस पुरुषवादी व्यवस्था में स्त्री के अस्तित्व को पुरुष के साथ जोड़कर देखा जाता हो, वैसी परिस्थिति में स्त्री को वैयक्तिक स्वतंत्रता कहाँ मिल पाती है? शुरुआती दौर में जितने भी उपन्यास लिखे गए उन सभी उपन्यासों में स्त्री शोषण और स्त्री उत्पीड़न का अंकन किया गया है। आरंभिक उपन्यासों में 'उमराव जान अदा' ही एक ऐसा उपन्यास है जिसमें स्त्री-जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति मिलती है। इस उपन्यास में लखनऊ के सामंती समाज में एक वेश्या स्त्री के जीवन की करुण कथा का चित्रण मिलता है। 'बाद के दिनों में भारतीय सामाज में स्त्री की स्थिति में बदलाव आने के कारण ही स्त्री के अस्तित्व, व्यक्तित्व, उसके जीवन की आजादी की अभिव्यक्ति रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरतचंद, प्रेमचंद, जैनेन्द्र और नागार्जुन के उपन्यासों में देख सकते हैं।

हिन्दी में उपन्यास लिखने की प्रेरणा बंगला साहित्य से प्राप्त हुई है। भारतेन्दुयुगीन हिन्दी उपन्यासों पर टिप्पणी करते हुए रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है ''नाटकों और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंगभाषा की देखा-देखी नये ढंग के उपन्यासों की ओर ध्यान जा चुका था। इस समय तक बंगभाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए।''[8] यह कहने की जरूरत नहीं है कि हिन्दी में उपन्यास लेखन की शुरुआत बंगभाषा की वजह से हुआ। हिन्दी में उपन्यास का विकास बंगला और मराठी के बाद शुरू हुआ। हिन्दी में 'भाग्यवती' 1877 ई. के पूर्व बंगला में सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के कई उपन्यास लिखे जा चुके थे। भवानीचरण बन्द्योपाध्याय का 'नवबाबू विलास' (1825 ई.) और टेकचंद ठाकुर का 'आलालेर घरेर दुलाल' (1857 ई). बंगला में बहुत लोकप्रिय थे।

हिन्दी उपन्यास में स्त्री-जीवन पर बात करने से पहले, स्त्री-जीवन है क्या, इसे समझने की जरूरत है? समाज में स्त्री का क्या स्थान है ? उनका क्या हक है ? इस विषय पर जब हम अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि प्राचीन काल में स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी। उस समय समाज में मातृसत्तात्मक परिवार था। मातृसत्तात्मक समाज में गृहस्थी का संचालन स्त्री द्वारा किया जाता था। उस समय वंश, परिवार सभी स्त्री के नाम से ही चलता था। परिवार की मुखिया स्त्री होती थी। इसी तरह वैदिक या उत्तर वैदिक युग में भी स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी थी। डॉ. रमेशनंदन का कथन है ''वैदिक साहित्य में प्रयुक्त ऋचाओं के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि नारियों का स्थान पूजनीय था। स्त्रियाँ कुलदेवी मानी जाती थीं, गृहस्वामिनी तो होती ही थीं। क्षत्रिय कुलोत्पन्न नारियों को युद्ध में सारथ्य करने का अधिकार भी प्राप्त था। वे असाधारण विचारिका और पंडित भी होती थीं। वेदों की कितनी ही ऋचाएँ नारियों की रची हुई हैं।''[9]

वैदिक या उत्तर वैदिक युग में स्त्री शिक्षित होती थी तथा यज्ञानुष्ठानों में पुरुषों के साथ भाग लिया करती थी। पुरुषों की भांति शस्त्र चलाना सीखती थी और युद्ध में जाती थी। इस युग में संपूर्ण गृह विधान स्त्री के हाथ में होता था। पिता के संपत्ति में उसका हक होता था। इस युग में स्त्री को अपना पति चुनने का अधिकार था। दरअसल यह युग मानव सभ्यता के विकास का युग था। इस युग में विवाह संस्था विकसित हो चुके थे और इस युग में विवाह तथा संतानोत्पात्ति को सामाजिक जीवन में अत्यधिक महत्व दिया गया। इस समय स्त्रियों की स्थिति अच्छी थी लेकिन समाज में एक पत्नीत्व के साथ ही साथ कहीं कहीं बहुपत्नीत्व की प्रथा थी लेकिन इसके साथ ही इस समय के समाज में बाल विवाह निषेध था। वैदिक युग में स्त्रियों को शिक्षा न दिया जाए ऐसा विचार विद्यमान नहीं था बल्कि स्त्रियों की शिक्षा पर जोर दिया गया। इस युग में अनेक स्त्रियाँ इतनी विदुषी थीं कि उनके बनाए गए मंत्र को वैदिक संहिताओं में भी संकलित किया गया। गार्गी और मैत्रेयी का

नाम आज भी लिया जाता है। भारत के इतिहास में स्त्रियों के लिए यह युग 'स्वर्णिम युग' के नाम से जाना जाता है लेकिन स्त्रियों का यह 'स्वर्णिम' समय देर तक नहीं रहा। जिस तरह वैदिक युग में स्त्री को समाज और धर्म में ऊंचा स्थान प्रात था कालांतर में उसकी स्थिति कमजोर होने लगी। धीरे-धीरे स्त्री चारदीवारी में कैद की जाने लगी जिसके कारण उनका मानसिक और आत्मिक विकास रुक गया। पुरुषवादी व्यवस्था ने समाज के आधे भाग को पंगु बना कर समाज को अवनति की ओर अग्रसर करने लगा। प्राचीन युग में स्त्री को देवी मान कर पूजा जाता था। वहीं आज वह शोषण का शिकार होने लगी। इस पुरुषवादी व्यवस्था में स्त्रियों के उन्नति के मार्ग पर अनेक प्रतिबंध लगाए गए। इसके अतिरिक्त स्त्रियों को शूद्र की कोटी में रखा जाने लगा और उसे सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया। पुरुषवादी सत्तात्मक समाज में स्त्री अब केवल 'भोग्य' की वस्तु बन गई। समाज में स्त्री की स्थिति पालतू पशु के समान हो गई। जो कि प्राचीन युग में नहीं था। पुरुषवादी व्यवस्था में बाल-विवाह, पर्दे की बेड़ियां तथा अशिक्षा धीरे-धीरे स्त्रियों के लिए अभिशाप बन गया।

अठारहवीं शताब्दी में स्त्रियों की स्थिति जितनी खराब थी उसमें कुछ सुधार 19वीं सदी में आया। धार्मिक आडम्बर, रूढ़िगत विचार, परंपरागत सामाजिक संस्कार सभी ने मिलकर अंधकार का ऐसा परिवेश भारतीय समाज के चारों तरफ निर्मित कर दिया जिसे तोड़ सकना सहज संभव नहीं था। इसी युग में राजाराम मोहन राय स्त्रियों के लिए मसीहा बनकर आगे आए और स्त्रियों के उद्धार की वकालत लगातार करते रहे। स्त्रियों पर होने वाले सामाजिक अत्याचारों को उन्होंने खत्म किया तथा स्त्री शिक्षा का प्रबंध किया। साथ ही ज्योतिबा फूले, डॉ. अम्बेडकर, फातिमा शेख आदि ने भी स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए प्रयास किया। फिर भी आधुनिक युग में स्त्री सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित रही।

आधुनिक युग में स्त्री और पुरुष चरित्र के मापदंड अलग-अलग हैं। पुरुषवादी व्यवस्था ने स्त्रियों के लिए सदियों पूर्व जो दकियानूसी और घटिया स्तर की मान्यताएं गढ़ी थी वे वर्तमान समाज में ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। मनुवादी व्यवस्था ने स्त्री को नरक के ऐसे गड्ढे में धकेल दिया जिससे उबरना उसके लिए दुष्कर बना हुआ है। इससे उबरने के लिए वह संघर्ष करती है। स्त्री का यह संघर्ष बुद्ध के समय भी था और आज भी है। मनुवादी व्यवस्था ने शूद्र के साथ ही साथ स्त्री को भी समस्त मानव अधिकारों से वंचित कर दिया। आज इक्कीसवीं सदी में भी स्त्रियाँ मनुवादी व्यवस्था की शिकार बनी हुई हैं। जिसे तोड़ना आसान नहीं दिखता। स्त्री और पुरुष दोनों मनुवादी संस्कारों से ग्रस्त हैं और जब तक स्त्री-पुरुष दोनों की मानसिकता नहीं बदलेगी तब तक स्त्रियों की स्थिति नहीं सुधरेगी। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यते, रमयन्ते तत्र देवता' वाले पुरुष प्रधान समाज ने स्त्री समाज को गुलाम बनाया। जितने भी जटिल से जटिल नियम किसी के लिए बनाए जा सकते थे

उससे भी जटिल नियम स्त्रियों के लिए बनाए गए। आज भी स्त्री को व्यभिचारी और संतान उत्पन्न करने की मशीन माना जाता है। जबकि स्त्री और पुरुष दोनों समाज रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं। इसमें से एक पहिया अगर काम करना बंद कर देता है तो जीवन रूपी गाड़ी रुक जाती है। स्त्री और पुरुष दोनों का समान अधिकार एक स्वस्थ समाज के लिए आवश्यक है।

स्त्री और पुरुष दोनों ही सामाजिक जीवन के प्रधान अंग हैं। स्त्री समाज के आधे हिस्से का प्रतिनिधित्व करती है। यह आधी-आबादी सदियों से पितृसत्तात्मक समाज में शोषित होती रही है। इस आधी आबादी के पास यह अधिकार नहीं है कि वह अपना निर्णय स्वयं ले सके। वह सदियों से पुरुषों द्वारा संचालित होती रही है। इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के कर्तव्य को एक आदर्श माता, आदर्श पत्नी और आदर्श बेटी के रूप में ही पारिभाषित किया जाता है। समाज में पुरुषों का वर्चस्व आज से नहीं बल्कि आनादिकाल से रहा है। इसलिए आज भी स्त्री स्वतंत्र नहीं है। आज स्त्री आजाद हुई है लेकिन उसका दायरा अभी भी सीमित है। वह अपने जीवन का निर्णय स्वयं नहीं ले पाती। वह आर्थिक रूप से संबल तो हुई है फिर भी अपने जीवन का निर्णय लेने में सक्षम नहीं हुई है। स्त्री आज भी पिता, पति, पुत्र पर निर्भर है। उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। अपने अस्तित्व के लिए स्त्री आज भी संघर्ष कर रही है।

आदिकाल से ही स्त्री साहित्य के केन्द्र में रही है। प्रारंभ से ही साहित्य में स्त्री का चित्रण उसके सौन्दर्य से लेकर उसकी पीड़ा तक किसी न किसी रूप में होता रहा है। आधुनिक काल में भी स्त्री साहित्य की केन्द्र बिन्दु बनी हुई है। आधुनिक काल में उपन्यास एक सशक्त विधा के रूप में उभरा है। जिसके केन्द्र में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। चूंकि स्त्री समाज की धूरी होती है इसलिए साहित्य के लिए स्त्री महत्वपूर्ण है। सामाजिक रूप से अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करती स्त्री जीवन के विविध रूप उपन्यास में अभिव्यक्त हुए हैं और आज भी हिन्दी उपन्यास में स्त्री के विविध रूपों का चित्रण हो रहा है।

अध्ययन की सुविधा के लिए हिन्दी उपन्यास को चार कालों में विभक्त किया गया है। 1. प्रारंभिक युग, 2. प्रेमचंद युग, 3. प्रेमचंदोत्तर युग, 4. स्वातंत्र्योत्तर युग।

1.1. प्रारंभिक युग

प्रेमचंद पूर्व हिन्दी उपन्यास की समय सीमा 1877 ई. से 1918 ई. तक माना जाता है। इस युग में सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी-जासूसी आदि उपन्यास लिखे गए। इसके साथ ही इस युग में मनोरंजन प्रधान तथा उपदेशपरक उपन्यास भी लिखे गये । यह युग सामाजिक सुधारों का युग था। इस समय के ज्यादातर उपन्यासों में सुधारवादी आंदोलन का प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस युग के सुधारवादी आंदोलनों ने सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध समाज में नयी चेतना निर्मित की जैसे बाल विवाह, विधवा विवाह आदि सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति आक्रोश की भावना इस युग के उपन्यास में दिखाई पड़ता है। फिर भी स्त्री को इस समय के उपन्यासों में संकीर्णता की दृष्टि से ही देखा गया। स्त्री को केवल उपदेश दिया गया, उसे सिर्फ भोग्य की वस्तु समझा गया।

इस काल के उपन्यासों में स्त्री का अपना कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं दिखाई देता। इस युग के उपन्यासों में स्त्री के आदर्श स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। इस समय समाज में स्त्रियों की स्थिति दयनीय थी और वह चारदीवारी में कैद थी। यह समय नवजागरण का समय था। समाज में चारों तरफ परिवर्तन की लहर चल रही थी। समाज में सुधारवादी आंदोलन चल रहा था। इसी सुधारवादी आंदोलन में स्त्री की स्थिति पर भी बात की जाने लगी। पुरुष उपन्यासकार स्त्री के आदर्श छवि को गढ़ रहे थे। वे एक ऐसे स्त्री चरित्र को गढ़ रहे थे जो पढ़ी-लिखी हो, घर परिवार को संभालने वाली हो, लेकिन विचारों से तर्कशील न हो, सिर्फ एक आदर्श बहू हो। इस तरह के स्त्री चरित्र को गढ़ना कहीं न कहीं पितृसत्तात्मक समाज को बढ़ावा देना था, जिससे पुरुषों का वर्चस्व बना रहे। कुछ पुरुष उपन्यासकार स्त्री-जीवन के सुधार की बात कर रहे थे तथा स्त्री शिक्षा पर जोर दे रहे थे। हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में पं. गौरीनाथ का उपन्यास 'देवरानी जेठानी की कहानी' (1870), श्रद्धाराम फुल्लौरी का 'भाग्यवती' (1877), लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' (1882), राधाकृष्ण दास का 'निःसहाय हिन्दू' (1885) और जगमोहन सिंह का 'श्यामा-स्वप्न' (1885), आदि प्रमुख उपन्यास है, जिनमें परंपरा और आधुनिकता का द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। इन उपन्यासों का केन्द्र बिन्दु स्त्री-जीवन है। इस युग के उपन्यासों में नया नगरीय समाज और मध्यवर्ग के जीवन का द्वन्द्व अभिव्यक्त हुआ है। साथ ही साथ स्त्री-जीवन से जुड़े कई सवालों को कई रूपों में इस युग के उपन्यासों में चित्रित किया गया है। हिन्दी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी 'स्त्री-पक्ष' पर केन्द्रित उपन्यासों की रचना हुई। मलयालम का पहला उपन्यास ओ. चन्तूमेनन का 'इन्दुलेखा' (1889), गुजराती में गोवर्धन राम त्रिपाठी का 'सरस्वतीचन्द्र' (1901), बंगला में बंकिम की 'दुर्गेश-नन्दिनी' और 'कपाल-कुंडला' में स्त्री-जीवन ही केन्द्र में है।

स्त्री शिक्षा को केन्द्र में रखकर 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास लिखा गया। इस उपन्यास में स्त्री शिक्षा के साथ गृहस्थ धर्म का भी उपदेश दिया गया है। पंडित गौरीदत्त नें 'देवरानी जेठानी की कहानी' की भूमिका में लिखा है ''मैंने इस कहानी को नये रंग-ढंग से लिखा है।...इस पुस्तक में स्त्रियों की ही बोलचाल और वही शब्द जहाँ जैसा आशय है लिखे हैं और यह वह बोली है जो इस जिले के बनियों के कुटुंब में स्त्री-पुरुष वा लड़के बोलते चालते हैं...इस पुस्तक में यह भी दर्शा दिया है कि इस देश के बनिये जन्म, मरण, विवाह आदि में क्या-क्या करते हैं पढ़ी और बेपढ़ी स्त्रियों में क्या-क्या अंतर है, बालकों का पालन और पोषण किस प्रकार होता है और किस प्रकार होना चाहिए, स्त्रियों का समय किस किस काम में व्यतीत होता है और क्यों होना उचित है? बेपढ़ी स्त्रियाँ जब एक काम को करती हैं उसमें क्या-क्या हानि होती है और पढ़ी हुई जब उसी काम को करती हैं तो उससे क्या-क्या लाभ होता है?''[10] इस उपन्यास में स्त्री-शिक्षा के साथ मध्यवर्गीय बनिया समाज के जीवन का भी यथार्थ चित्रण हुआ है। उस समय सदियों से चली आ रही अंधविश्वास और अनेक कुप्रथाएं समाज में व्याप्त थीं, जैसे--बीमारी दूर करने के लिए झाड़फूंक का प्रयोग किया जाता था। शीतला मां नाराज न हो जाएं इस डर से बच्चों को चेचक का टीका नहीं लगाया जाता था। परिवार की अनपढ़ स्त्रियाँ छोटे बच्चों को सुलाने के लिए अफीम खिलाती थीं। कम उम्र में ही लड़के-लड़कियों का विवाह कर दिया जाता था। समाज की इस बदलती मानसिकता का यथार्थ चित्रण 'देवरानी जेठानी' की कहानी में हुआ है जिससे लगता है कि सामाजिक कुप्रथा के प्रति लोगों की सोच बदलने लगी थी।

मदरसों या घरों में पढ़ाई के जरिए शिक्षा का प्रसार किया गया। यह कहना अनुचित न होगा कि स्त्रियों के नए व्यक्तित्व की रूपरेखा तैयार की जाने लगी थी। परिवार में स्त्री की हैसियत कैसी होनी चाहिए, इस पर बात न करके स्त्री के लिए नई भूमिकाएं तैयार की गईं। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने अपने उपन्यास 'भाग्यवती' की भूमिका में लिखा है ''बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखूं जिसे पढ़ने से भारतखंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो... यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी-लिखी तो होती हैं, परंतु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश-विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से वरत-व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती।''[11] यानि स्त्री को घर से बाहर निकलने की छूट अब भी नहीं दी जा रही थी। सिर्फ स्त्री के जीवन की जो समस्याएं थीं उसमें सुधार की बात की जा रही थी क्योंकि सुधारक चाहते ही नहीं थे कि स्त्री घर से बाहर निकले। वे इतना भर चाहते थे कि स्त्री सिर्फ घर के अंदर की दुनिया से परिचित हो। उसकी भी एक सीमा तय की गई थी। इस युग के भारतीय स्त्री की स्थिति पर लेखक विचार करते हैं और भारतीय संस्कृति की विशिष्टता के रूप में स्त्री की छवि को दिखाने की कोशिश करते हैं। पश्चिमी मेमसाहबों की आलोचना करते हैं लेकिन 'भारतीय लेखक यह नहीं समझ पाते हैं कि खुद

यूरोप में भी स्त्री की स्थिति उतनी अच्छी नहीं थी। वहां भी सामाजिक कार्यों और व्यक्तित्व के आधार पर कड़ा लैंगिक भेद-भाव देखने को मिलता था।'

भारतीय परिदृश्य पर स्त्री की छवि को दो तरह से गढ़ा जा रहा था एक अच्छी स्त्री और दूसरी बुरी स्त्री। अच्छी स्त्री वह कहलाती है जो घर-परिवार को संभालती है। सीने पिरोने का काम करती है। घर के कामकाजों का हिसाब रखती है। अच्छी स्त्री की छवि सर्वगुण निपुण दिखाया गया है तो बुरी स्त्री को कुछ नहीं आता तथा उसके अंदर अगुण ही अगुण होता है। वह घर-परिवार को ठीक से संभाल नहीं सकती। इस तरह स्त्री छवि को उस समय के समाज द्वारा गढ़ा जा रहा था। कहीं न कहीं लेखक इस समय अच्छी और बुरी स्त्रियों के बीच के अंतर को दिखाने की कोशिश कर रहे थे तथा उनके स्वरूप को अलग-अलग ढंग से गढ़ रहे थे। 'देवरानी-जेठानी की कहानी' में भी हम दो भाइयों की बहुओं के बीच के अंतर को देखते हैं। लेखक ने एक तरफ स्त्री की एक ऐसी छवि को गढ़ा है जिसे घर का कामकाज नहीं आता बल्कि वह हमेशा लड़ती रहती है। वहीं दूसरी तरफ लेखक ने दूसरे भाई की बहू को इस रूप में गढ़ा है जो हर काम में निपुण है और अपनी सेवा से घर के सभी सदस्य को प्रसन्न रखती है। उसकी प्रसन्नता का कारण यह है कि वह सुबह उठकर घर का सारा काम समय पर करती है। यहाँ तक कि नहा-धोकर भगवान का नाम भी लेती है। इस उपन्यास में कहीं न कहीं लेखक एक आदर्श बहू की छवि को गढ़ते दिखाई पड़ते हैं। उस समय पुरुष लेखकों की यही मानसिकता थी कि स्त्री का जीवन तभी सार्थक हो सकता है जब वह परिवार में एक अच्छी स्त्री बन पाती है, नहीं तो उसे कुलटा कहा जाता था। यानी कुल मिला कर हम यह कह सकते हैं कि उस समय समाज में स्त्री की जो स्थिति थी उसमें सुधार लाने की बात की जा रही थी और यह सुधार शिक्षा के क्षेत्र में किया जा रहा था। वैभव सिंह लिखते हैं ''स्त्रियों पर घर-परिवार चलाने की नए सिरे से जिम्मेदारी तय की गई जिसमें उनसे समझदार होने की अपेक्षा तो की गई, पर पुरुषों के अधिकार क्षेत्र से उन्हें बाहर ही रखा गया। हर किस्म के पर्दे का भी परोक्ष व प्रत्यक्ष समर्थन दिख जाता है। स्त्रियों के लिए सबसे बड़ी सीख यह नहीं है कि वह अपना काम निपुणता से करें बल्कि ज्यादा अहम सीख यह है कि वे पुरुषों के अधिकारों को बरकरार रखने में उनका सहयोग करें।''[12] कहीं न कहीं यह मानसिकता थी कि पुरुष का वर्चस्व पूरी स्त्री जाति और समाज में बना रहे। इस समय स्त्री को बहुत पढ़ाने की बात नहीं होती थी बल्कि एक ऐसी स्त्री की कल्पना की जा रही थी जिसको सिर्फ अक्षर ज्ञान हो, ताकि गृहस्थी संभालने में उससे सहायता मिले। विदुषी स्त्री की कल्पना नहीं की जा रही थी, जो बहुत पढ़ी-लिखी हो, बल्कि कम पढ़ी-लिखी स्त्री की छवि को गढ़ा जा रहा था। समाज में स्त्री-जीवन से संबंधित कई समस्याएं थीं जिससे स्त्री आये दिन जूझती थी लेकिन उन समस्याओं पर कोई बात नहीं होती। हम देख सकते हैं कि इस दौर के समस्त साहित्य में पुरुष समाज द्वारा औरतों पर किये गये तरह- तरह के शोषण का

जिक्र नहीं मिलता है। सिर्फ स्त्रियों के शिक्षा का महिमागान किया गया है। जबकि घरेलू हिंसा, भेदभाव आदि ऐसे कई मुद्दे हैं जिनका वर्णन उस समय के साहित्य में न के बराबर मिलता है। वैभव सिंह लिखते हैं ''इस दौर के सुधारवादी उपन्यासों में परिवार में पुरुष की तुलना में स्त्रियों की हीनता पर खास ध्यान न देकर उन्हीं को शिक्षा व समझदारी के जरिए बेहतर परफार्म करने के लिए संदेश दिया गया। हैसियत व अधिकारों के स्तर पर स्त्री-पुरूष के बीच की असमानता को सामने लाने की बजाय औरत को औरतों से भिड़ा दिया गया और दिखाया जाता है कि किस प्रकार स्त्रियाँ ही स्त्रियों के खिलाफ साजिशें करती हैं और इन चीजों से अनजान पुरुषों में खुद कभी दुर्भावना नहीं होती, बल्कि कभी-कभी स्त्रियों के भड़काने पर ही वे गलत फैसले ले लेते हैं।''[13] समाज में हमेशा दोष स्त्रियों के ही मत्थे आता है, गलती चाहे स्त्री की हो या न हो।

इस तरह की रूढ़ीवादी परंपरा को 'भाग्यवती' उपन्यास में भी देख सकते हैं। नायिका भाग्यवती काफी पढ़ी-लिखी और समझदार स्त्री है। ननद व जेठानियां उसे चोरी के इल्जाम में फंसा देती हैं जिससे आग-बबूला होकर उसके ससुर पंडित जगदीश यह फैसला करते हैं कि भाग्यवती को घर से बाहर निकाल दिया जाए। ऐसे में कई सवाल उठते हैं कि क्या केवल शिक्षा का समर्थन करने मात्र से समाज में प्रचलित कुरीतियां दूर हो जाएंगी? सवाल यह भी है कि कन्या जन्म पर शोक का विरोध करने से समाज में प्रचलित रूढ़ियाँ खत्म हो जाएंगी? बच्चों के लालन-पालन व घरेलू कामकाज में हो रहे भेद-भाव को दूर करने से या सदियों से समाज में बने अंधविश्वासों का विरोध करने के बाद स्त्री की दयनीय स्थिति में सुधार आ सकता है? परिवार में पुरुषों की सदियों पुरानी वर्चस्वशाली भूमिका को तोड़े बिना क्या स्त्री को सचमुच अधिकार मिल सकता है जिससे कि वह आजादी व सम्मान का जीवन जी सकेगी? समाज द्वारा स्त्री को स्त्री बनाया जाता है और उसके पहनावे से लेकर आचरण तक को नियंत्रित किया जाता है। सिमोन ठीक कहती हैं ''स्त्री पैदा नहीं होती है बल्कि बना दी जाती है''[14] आज भी स्त्री का घर या घर के बाहर जब भी यौन उत्पीड़न होता है या उससे छेड़खानी की जाती है तो दोष हमेशा स्त्री को दिया जाता है कि जरूर उसने कोई भड़काऊ कपड़े पहने होगे या अपनी हरकतों से पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित किया होगा। ऐसे में समाज या परिवार में स्त्री की दशा में वास्तविक सुधार तभी आ सकता है जब उसे बराबरी का अधिकार मिले, स्त्री या पुरुष कह कर भेद-भाव न किया जाए। वह भी पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिला कर चले। उत्पादन व संपत्ति के स्वामित्व में उसे पूरा अधिकार मिले।

हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों पर नवजागरण का प्रभाव दिखाई पड़ता है। उस दौरान जितने भी सुधारवादी आंदोलन चल रहे थे उसके केन्द्र में स्त्री ही थी। सवाल यह उठता है कि जितने आंदोलन उस समय चल रहे थे क्या सचमुच वह स्त्री के जीवन में सुधार लाना चाहते थे? अगर ऐसी बात थी तो स्त्री के आदर्श रूप को ही क्यों मान्यता दी जा रही थी? वही स्त्री श्रेष्ठ क्यों

कहलाती है जो परिवार में सभी का ध्यान रखती हो? गरिमा श्रीवास्तव 'वामा शिक्षक' उपन्यास के प्रस्ताविका में लिखती हैं ''स्त्री-सुधार संबंधी चिंताएँ हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासकारों में प्रायः एक-सी नजर आती हैं। ये उपन्यासकार एक ओर परंपरा से टकराते दिखाई दिए तो दूसरी ओर नवजागरण की चेतना का उन पर जो प्रभाव पड़ा था, उससे वे समाज को अपने अनुरूप निर्मित करने की इच्छा से भी परिचालित हो रहे थे। हालाँकि जीवन के प्रति जिस परिपक्व यथार्थवादी दृष्टि का परिचय आगे चलकर प्रेमचंद ने दिया उसका नितांत अभाव इस दौर के उपन्यासों में है। सामाजिक सुधारवाद के उद्देश्य से परिचालित होकर, एक विशेष 'मिशन' के तहत हिन्दी के सभी प्रारंभिक उपन्यास लिखे गये।''[15] गौरतलब है कि इनमें एक भी रचनाकार स्त्री नहीं है लेकिन उस समय के ये चारों महत्वपूर्ण उपन्यासकार पं. गौरीदत्त, ईश्वरी प्रसाद, कल्याणराय तथा श्रद्धाराम फिल्लौरी ही स्त्री की समस्याओं को अपनी रचनाओं में रेखांकित कर रहे थे। या यूं कहें कि स्त्री समस्याओं को अपनी रचनाओं के केन्द्र में रखते हैं। उस समय के सभी उपन्यासकार परिवार की समस्याओं को सामाजिक समस्याओं से जोड़कर देख रहे थे। इन उपन्यासों में भारतीय स्त्री की सकारात्मक भूमिका का स्वरूप दिखाई पड़ता है। पितृसत्तात्मक समाज में इस तरह की अपेक्षाएं की जा सकती हैं, उस समय की मांग थी कि स्त्री अगर पढ़ी-लिखी होगी तो कम खर्च करेगी, समझदारी से गृहस्थी का संचालन करेगी, जिससे पूरे परिवार और समाज की उन्नति होगी। 'वामा शिक्षक' उपन्यास में उपन्यासकार यह भी दिखाने का प्रयास करते हैं कि ''स्त्री यदि पढ़ी-लिखी होगी तो वक्त-बेवक्त (पति के मर जाने पर) आत्मनिर्भर रूप से सम्मान का जीवन जी सकती है।''[16] इसलिए प्रारंभिक दौर में जितने भी उपन्यास लिखे गये उनमें ज्यादातर उपन्यास स्त्री शिक्षा को केन्द्र में रखकर लिखे गये हैं। 'वामा शिक्षक' में गंगा कहारिन से बहस करती है। देश-दुनिया, राजनीति इत्यादि से दूर- दूर तक का उसका कोई संबंध नहीं होता है। उस समय जो उपन्यास लिखे जा रहे थे, उसमें कुछ ही उपन्यास ऐसे थे जिसमें समाज में प्रचलित सभी समस्याओं की तरफ लेखक का ध्यान गया हो नहीं तो उस समय एक ही ढर्रे पर उपन्यास लिखा जा रहा था। कुछ उपन्यास में बाल-विवाह की समस्याओं को उठाया गया, लेकिन विधवा विवाह की समस्या से इस समय के उपन्यास टकराते दिखाई नहीं देते। जबकि यह उस युग की ज्वलंत समस्या थी। कुछ उपन्यास जैसे--'देवरानी-जेठानी की कहानी' तथा 'वामा शिक्षक' में विधवाओं के पुनर्विवाह की दूर- दूर तक कहीं कोई चर्चा दिखाई नहीं देती। अगर चर्चा की भी गई है तो उसका स्वर काफी धीमा रहा है। सिर्फ श्रद्धाराम द्वारा रचित 'भाग्यवती' में विधवा की पक्षधरता मिलती है। इस समय जितने भी उपन्यास लिखे गये उनमें कहीं भी स्त्री-पुरुष का वैचारिक संघर्ष नहीं दिखाई देता। एक तरह से देखा जाए तो स्त्री-स्त्री के आपसी संघर्ष और बहस-मुसाहिबे तो चित्रित हुए हैं। जैसे-- 'देवरानी जेठानी', 'छोटी बहन, बड़ी बहन', सास-बहू की आपसी टकराहटों को कथानक में स्थान दिया गया है। जिससे ऐसा लगता है कि समाज और परिवार में सारे कलह की जड़ स्त्रियाँ ही हैं। विशेषकर

अनपढ़ और अशिक्षित स्त्रियाँ, जिनके भड़काने की वजह से ही पुरुष गलत निर्णय ले लेते हैं। इन्हीं की दुर्भावना एवं कलहकारी स्वभाव के चलते संयुक्त परिवार टूटकर एकल परिवारों में बदल जाते थे। पुत्र अपने माता-पिता से दूर हो जाते हैं। बाल विधवा होने पर इन स्त्रियों से अपेक्षा की जाती है कि वे चुपचाप सारी घर-गृहस्थी संभाले। भोजन, वस्त्र के अतिरिक्त भी उनकी कोई आवश्यकता हो सकती है इस बारे में कोई नहीं सोचता। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों को शिक्षित किए जाने की जरूरत महसूस तो की गई लेकिन उतना ही जितने में वह स्वच्छंद और उच्छृंखल न हो। घर और परिवार की जिम्मेदारी को भली-भांति निबाहे, पुरुषों से कभी वाद-विवाद न करे। 'वामा शिक्षक' में दो भाइयों की पत्नियों का स्वभाव अलग-अलग है। बड़ी बहू कामचोर और अनपढ़ है जबकि छोटी बहू पढ़ी-लिखी। स्त्रियों के आदर्श रूप को लेखक ने छोटी बहू के माध्यम से प्रस्तुत किया है। छोटी बहू सब काम हँसी-खुशी करती, न कभी नाक-भौं सिकोड़ती। छोटी बहू सब तरह का सीना-पिरोना, टोपियाँ और दुपट्टे में गोटा किनारी टाँकना और गोखरू मोड़ना जानती थी। चारों लड़कियों के सुत्थन, सदा अपने हाथ से सीकर पहनाया करती और तरह-तरह की टोपियाँ इनको पहनाया करती और अपनी सास और जेठानी के सब कपड़े बैठी-बैठी सिया करती। जब कोई काम न हो तो लड़कियों के लिए गुड़ियाँ बनाया करती वह स्त्री कभी खाली नहीं बैठती, कुछ न कुछ करती...।''[17]
'वामा शिक्षक' में गंगा पढ़ी-लिखी समझदार स्त्री है। गंगा अपने पति को नौकरी छोड़कर व्यवसाय करने की उचित सलाह देती है। यह भी धारणा बनी हुई थी कि अगर पढ़ी-लिखी स्त्री विधवा होती है तो वह खुद अपना देखभाल कर सकती है। साथ ही साथ नैतिक मूल्यों की रक्षा भी कर सकेगी। 'वामा शिक्षक' में ''गंगा की छोटी बहन किशोरी असमय ही विधवा हो जाती है, लेकिन पढ़ी-लिखी और हस्तकला में पारंगत होने के कारण कलाबत्तू की टोपियाँ बना-बनाकर बेचती है और अपने परिवार का बेड़ा पार कर लेती है। स्त्री शिक्षा पर परिवार की उन्नति-अवनति निर्भर करती है। इसे दिखाने के लिए अक्सर दो विपरीत स्वभाव वाले स्त्री चरित्रों की योजना की गई। 'देवरानी-जेठानी', अकबरी असगरी, गंगा-राधा, किशोरी-पर्वती-- ऐसे ही विपरीत युग्म हैं, जिनके माध्यम से शिक्षित और अशिक्षित स्त्री के पारस्परिक विभेद को दर्शाया गया । विभिन्न पात्रों के संवादों से स्त्री-पुरुष के विभेद को भी दर्शाया गया और कहा गया कि पुरुष स्त्री से श्रेष्ठ है और उसकी श्रेष्ठता को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने का काम स्त्री को करनी चाहिए।''[18] पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री शुरू से ही सामाजिक और पारिवारिक बंधन में पिसती रही है। उसका शोषण घर-बाहर सभी जगहों पर होता रहा है। आरंभ में जितने भी उपन्यास लिखे गये उसके केन्द्र में स्त्रियाँ ही रही हैं। वैभव सिंह अपनी किताब भारतीय उपन्यास और आधुनिकता' में लिखते हैं ''आरंभिक उपन्यासों के केन्द्र में स्त्रियाँ ही हैं क्योंकि स्त्री-पुरुष संबंधों के विकास पर उपन्यास का स्वरूप निर्भर रहा है। अशिक्षित व परिवार के कैदखाने में घुटती स्त्री सभ्यता के विकास के दावों के आगे प्रश्नचिन्ह खड़ा करती है और चूंकि उपन्यास सभ्यता विकास व उस विकास की बिडंबना का चित्रण करने वाली

विधा भी है, इसलिए स्त्रियों की स्वाधीनता व उनकी चेतना का विकास उपन्यास के केन्द्रीय लक्ष्य में बदल जाता है। इसलिए हिन्दी से लेकर अन्य सभी भारतीय भाषाओं के ढेरों उपन्यासों के नाम भी स्त्रियों के नाम पर हैं।''[19]

प्रारंभिक उपन्यासों में दो तरह की स्त्रियाँ केन्द्र में रही है। एक अच्छी स्त्री दूसरी बुरी स्त्री। बुरी स्त्री वह होती है जो अनपढ़ तथा घर परिवार में मेल-मिलाप नहीं रखती, पति की बात भी नहीं मानती। यहां तक कि वह कम खर्च में घर भी नहीं चलाती। ऐसी स्त्री को समाज सही नहीं कहता। अच्छी स्त्री वही कहलाती है जो पितृसत्तात्मक समाज में फिट बैठती हो। उस समय या आज भी वही स्त्री सर्वश्रेष्ठ कहलाती है जो पढ़ी-लिखी होती है, पर्दे में रहती है, अपनी निजी इच्छाओं को अभिव्यक्त नहीं करती, कम से कम धन में गृहस्थी की अच्छी व्यवस्था कर लेती है, कभी बहस नहीं करती, विशेषकर पुरुषों से। 'वामा शिक्षक' की रचना आर्यों की लड़कियों को सामाजिक अंधविश्वासों, रूढ़िग्रस्तता और अशिक्षा से बचाने के लिए की गई थी। इसके कथानक में स्वाभाविकता और विश्वसनीयता है। भारतीय साहित्येतिहास के समाजशास्त्रीय अध्ययन के बीज हमें इस उपन्यास में मिलते हैं। तत्कालीन समाज की अनेक कुप्रथाओं जैसे बालविवाह, आडंबर, अशिक्षा आदि का यथार्थ चित्रण इसे पठनीय बनाते हैं। भारतीय समाज में अशिक्षा को स्त्री की दुर्दशा के मूल कारणों में पहचाना जाना 'वामा शिक्षक' की उपलब्धि है। हालाँकि उपन्यास में स्त्री-पुरुष समानता की बात कहीं नहीं कही गई है लेकिन स्त्रियों का शिक्षित होना और अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ना 'पितृसत्तात्मक' व्यवस्था में पुरुषवादी वर्चस्व को कमजोर करने के लिए उठाए गए कदम के रूप में देखा जाना चाहिए। उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधारकों ने 'स्त्री समानता' के प्रश्न को नहीं उठाया था। वे इस बात से परिचित थे कि स्त्री शिक्षा के बिना स्त्री समानता की बात कहना व्यर्थ है। 'स्त्री शिक्षा' वस्तुतः स्त्री के विकास की धुरी है। स्त्री की 'पहचान' एवं 'आत्मनिर्भर छवि' स्त्री शिक्षा के बिना संभव नहीं थी। इस युग में हिन्दी उपन्यास का भारतीय नवजागरण से गहरा संबंध रहा है। भारतीय नवजागरण में स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को केन्द्रीय महत्व मिला। औपनिवेशिक शासन के विरोध की चिंतन प्रक्रिया में स्वतंत्रता की आकांक्षा और नए समाज की परिकल्पना का प्रमुख स्थान था। इसी दौर में अयोध्यासिंह उपाध्याय भी लिख रहे थे। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' (1899) तथा 'अधखिला फूल' (1907) इनके दो सामाजिक उपन्यास हैं। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' में अनमेल विवाह के परिणामों को चित्रित किया गया है। इस उपन्यास में अनमेल विवाह का मूल कारण कुल को माना गया है जिसकी बलि देवबाला चढ़ती है। 'अधखिला फूल' में धर्म के कुप्रभावों को दिखाया गया है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि इस युग के उपन्यासकार स्त्री शिक्षा पर जोर देते दिखाई पड़ते हैं। इस युग के उपन्यासों में सामाजिक कुरीतियों के प्रति नयी चेतना तो दिखाई देती है लेकिन उसके विरुद्ध कोई सामाजिक संघर्ष नहीं दिखाई देता बल्कि समस्या का चित्रण मात्र किया गया है।

1.2.प्रेमचंद युग

प्रेमचंद के आगमन से हिन्दी उपन्यास का वास्तविक युग आरम्भ हुआ। प्रेमचंद के पूर्व जो उपन्यास लिखे गए वे मनोरंजन प्रधान थे। रामदरश मिश्र का कहना है कि ''उपन्यास साहित्य की सृष्टि जिस उद्देश्य को लेकर हुई थी उस उद्देश्य की पूर्ति प्रेमचंद पूर्व के उपन्यासों द्वारा नहीं हुई।...प्रेमचंद ने पहली बार उपन्यास के मौलिक क्षेत्र, स्वरूप और उद्देश्य को पहचाना। पहचाना ही नहीं उसे भव्य समृद्धि प्रदान की, काफी ऊंचाई तक ले गए।''[20] प्रेमचंद का उपन्यास साहित्य अपने युग में मील का पत्थर बना क्योंकि प्रेमचंद ने पहली बार उपन्यास में मानव जीवन को प्रमुख स्थान दिया। कहा जाता है कि उपन्यास अपने युग के सामाजिक जीवन का प्रतिबिंब होता है जो कि प्रेमचंद के उपन्यासों में दिखता है। भारतीय सामाजिक परिदृश्य के यथार्थ का एक महत्वपूर्ण पक्ष समाज और परिवार में स्त्री की स्थिति से संबंधित होता है। स्त्री की स्थिति में जो थोड़ा बहुत सुधार हुआ है उसमें हम भारतीय नवजागरण के महत्वपूर्ण योगदान को देख सकते हैं। प्रेमचंद के पूर्व कई उपन्यासकार स्त्री-सुधार पर उपन्यास लिख रहे थे। बल्कि यह भी कहना असंगत नहीं है कि प्रमेचंद पूर्व के सामाजिक उपन्यास स्त्री केन्द्रित रहे हैं लेकिन उस समय के उपन्यासों में स्त्री की सारी समस्याओं पर बात नहीं की गई और न ही स्त्री-संबंधित परंपरागत दृष्टिकोण में ऐसा कोई क्रांतिकारी बदलाव दिखता है। गौरतलब है कि प्रेमचंद पूर्व के उपन्यासों में अधिकतर उपन्यासकार नारी विषयक परंपरागत आचार संहिता के समर्थक थे। मनुवादियों ने जिस तरह समाज में स्त्री के चरित्र को गढ़ा, उसका विरोध नहीं मिलता है लेकि स्त्रियों की शिक्षा की बात की जाती है जहाँ तक तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों का संबंध है, उनमें नारी के व्यक्तित्व को स्वतंत्र रूप से नहीं उभारा गया बल्कि रीतिकालीन कवियों के समान इनके रुप सौन्दर्य और कोमलता का वर्णन किया गया।

प्रेमचंद युग में स्त्री की स्थिति अच्छी नहीं थी। उस समय विशेषकर मध्य वर्ग और उच्च वर्ग की स्त्री दोहरी दासता की शिकार थी। उसे न तो पारिवारिक सम्पति में हक मिलता था और न ही वह स्वतंत्र रूप से अपना जीवन जीने में समर्थ थी। उस समय ज्यादातर स्त्रियाँ शिक्षा से वंचित थीं। गोपाल राय लिखते हैं ''स्त्री की जगह केवल गृहिणी के रूप में घर में थी या घर के बाहर वेश्या के कोठे पर। लड़कियों के विवाह के लिए तिलक-दहेज जुटाना अनिवार्य था और उनका विवाह होना भी जरूरी था। विवाह के पश्चात समाज स्त्रियों के प्रति अत्यन्त कठोर रूप अपना लेता

था। सामाजिक बंधनों और स्वीकृत प्रथाओं के कारण स्त्री की जिन्दगी गुलामी का पर्याय थी।''[21] दुनिया की आधी आबादी कही जाने वाली स्त्री सदियों से इस पितृसत्तात्मक समाज में दोयम दर्जे का जीवन जीने के लिए बाध्य रही है। उस समय समाज में दहेज प्रथा का बोलबाला था, गरीब माता-पिता अपनी बेटी की शादी के लिए तिलक-दहेज जुटा नहीं पाते थे जिसके कारण वे लोग अपनी कन्याओं का विवाह अयोग्य, निर्धन या बूढ़े व्यक्तियों से कर देते थे। जिसके कारण लड़कियों की जिन्दगी नरक बन जाती थी। इसकी एक झलक प्रेमचंद के उपन्यासों में देख सकते हैं। प्रेमचंद के जितने भी उपन्यास हैं वे स्त्री केन्द्रित हैं, जिसमें स्त्री की समस्या पर बात की गयी है। समाज में स्त्री का शोषण कई स्तरों पर होता है, प्रेमचंद के समय में समाज में विधवा विवाह, दहेज प्रथा, लड़कियों का कम उम्र में अधेड़ उम्र के आदमी से विवाह कर देना आदि समस्याएं थीं। प्रेमचद अपने उपन्यासों में इन सारी समस्याओं को उठा रहे थे। प्रेमचंद ने 'सेवासदन' और 'निर्मला' में इस यथार्थ का उल्लेख मार्मिक रूप से किया है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यास 'गबन' में विधवा स्त्री के जीवन की समस्या का मार्मिक चित्रण किया है। एक विधवा स्त्री को समाज में किस तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है उसका उदाहरण 'गबन' उपन्यास में रतना की दुर्दशा द्वारा प्रेमचंद ने दिखाया है। यह तत्कालीन समाज में विधवा की असहाय स्थिति का उदाहरण है। इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री चाहे मध्य वर्ग की हो या उच्च वर्ग की, दोनों ही दासता की जंजीरों से जकड़ी होती हैं। प्रेमचंद के उपन्यास 'रंगभूमि' में अभिजातवर्गीय इन्दु की दयनीय स्थिति इसे सिद्ध करती है। गोपाल राय लिखते हैं ''प्रेमचंद के नारी पात्र अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति बेचैन तो हैं, पर वे विद्रोह की दिशा में बहुत दूर तक नहीं जा पाते। वस्तुतः प्रेमचंद अपने नारी विषयक विजन में अन्तर्विरोध के शिकार हैं। एक तरफ वे समाज में स्त्री की स्थिति के प्रति अत्यन्त संवेदनशील हैं, पर दूसरी तरफ नारी विषयक पुराने आदर्शों के प्रति उनका मोह भी कम नहीं है। 'सेवासदन' की सुमन आरम्भ में कितनी तेजवान है, उसके मन में पुरुष समाज के प्रति विद्रोह की भावना भरी हुई है, पर अंत में परंपरागत आदर्शों की बलि चढ़ जाती है। 'सेवासदन' की शान्ता, 'प्रेमाश्रम' की श्रद्धा और विद्या, 'रंगभूमि' की इन्दु, 'निर्मला' की निर्मला, 'कर्मभूमि' की नैना आदि प्रेमचंद के नारी-आदर्श की प्रतिमा मात्र हैं। 'रंगभूमि' की सोफिया, 'गबन' की जालपा, 'कर्मभूमि' की सुखदा और 'गोदान' की मालती जैसी विद्रोहिणी स्त्रियाँ भी अन्ततः परंपरागत आदर्शों की शिकार हो जाती हैं।''[22] इस तरह के नारी आदर्श को 'गोदान' के मेहता के शब्दों में देख सकते हैं ''औरत वफा और त्याग की मूर्ति है, जो अपनी बेजबानी से, अपनी कुर्बानी से अपने को बिलकुल मिटाकर पति की आत्मा का एक अंग बन जाती है। देह पुरुष की रहती है, पर आत्मा स्त्री की होती है। स्त्री पृथ्वी की भांति धैर्यवान, शान्ति सम्पन्न, सहिष्णु है।''[23] यहां पर प्रेमचंद परंपरा से चली आ रही आदर्श स्त्री के छवि को गढ़ते हुए नजर आते हैं।

प्रेमचंद के समय एक ऐसी स्त्री गढ़ी जाने लगी जो अपने समस्या से लड़ना जानती है, वह पितृसत्तात्मक समाज में अपने अधिकार के खिलाफ लड़ती है। इस समय के स्त्री-जीवन की मूल समस्या अनमेल विवाह और दहेज प्रथा थी। दहेज न दे पाने के कारण अक्सर लड़कियों के मां-बाप अपनी बेटियों का विवाह अधेड़ उम्र के व्यक्तियों से कर देते थे जिससे उसके मरने के बाद स्त्रियाँ कम उम्र में विधवा हो जाती थीं और उसके ऊपर तरह तरह के शिकंजे कसे जाते थे। रामविलास शर्मा का मानना है ''सुमन एक अच्छे स्वभाव की सुंदर-सी लड़की है। उसे हम एक औसत दर्जे की लड़की कह सकते हैं। उसमें अगर कोई विशेषता है तो यह कि वह अन्याय के सामने झुकना नहीं जानती है, वह अपने आत्म-सम्मान को ठुकराया जाना नहीं देख सकती है। उसके पिता थानेदार हैं और अगर किसी अच्छे घर में उसका ब्याह हो जाता तो शायद उसके जीवन में ऐसी कोई घटना न होती।''[24] सुमन का विवाह एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति से हो जाता है जिसे सुमन पसंद नहीं करती क्योंकि उसका पति उसके पिता के समान दिखता है। वह उसके पिता के उम्र का है। सुमन पति-पत्नी के संबंधों को निभा नहीं पाती। प्रेमचंद 'सेवासदन' में जिन समस्याओं को अभिव्यक्त कर रहे हैं, वह पूरे भारतीय समाज की समस्या है। लड़का जितना पढ़ा होगा उसे उतना ही ज्यादा दहेज मिलेगा। यह प्रथा आज भी समाज में व्याप्त है। सुमन का ब्याह दोहाजू वर से कर दिया जाता है क्योंकि उसके पिता को दहेज नहीं देना पड़ेगा। सुमन अपने अनमेल ब्याह से खुश नहीं थी। प्रेमचंद 'सेवासदन' उपन्यास में एक वेश्या स्त्री के जीवन का उल्लेख करते हैं। स्त्री आज भी पराधीन है। प्रेमचंद ने तमाम पुरानी सांस्कृतिक परंपराओं को तोड़ते हुए वर्तमान समाज में स्त्री पराधीनता के वीभत्स रूप को चित्रित किया है। एक वेश्या स्त्री समाज में ज्यादा आजाद और इज्जतदार होती है इस उपन्यास में इस पर बात की गई है। रामविलास शर्मा लिखते है ''पुरुष-स्वामी उसी स्त्री की इज्जत करते हैं जो किसी एक की दासी नहीं है, जो इस हद तक अपनी स्वामिनी है कि अपना तन बेच सकती है। जिस समाज की स्त्रियों में वेश्याएँ ही स्वाधीन हो और पुरुष उन्हीं को सम्मानित करें, ऐसे समाज के भविष्य की कल्पना की जा सकती है।''[25] इस जर्जर समाज-व्यवस्था की विडंबना को प्रेमचंद ने अपने उपन्यास में अभिव्यक्त किया है। प्रेमचंद एक अलग तरह की स्त्री छवि को गढ़ रहे थे। उनके साहित्य में सामाजिक कुरीतियों से लड़ती सुमन वेश्या बनने के बाद भी जिस तरह समाज से लड़ती है वह एक अलग तरह का स्त्री चरित्र है। प्रेमचंद पूर्व के हिन्दी उपन्यासों में स्त्री के लिए पतिव्रत्य होना अनिवार्य होता था। अगर कोई स्त्री पतिव्रत्य का पालन नहीं करती थी तो ईश्वर उसे दंड देता है इस तरह के अंधविश्वास समाज में व्याप्त थे। पहली बार प्रेमचंद के उपन्यास 'सेवासदन' में पति से विद्रोह करने वाली और प्रतिक्रिया में वेश्यावृत्ति अपना लेने वाली स्त्री की छवि सामने आयी। 'सेवासदन' की सुमन को कोई जबरदस्ती वेश्या नहीं बनाता है बल्कि वह स्वयं वेश्यावृति अपनाती है। सामाजिक मजबूरियाँ उसे वेश्यावृति करने के लिए मजबूर करती है। एक तरह से सुमन वेश्या

बनकर अपने पति से ही नहीं बल्कि पूरे समाज से प्रतिशोध लेती है। गोपाल राय का मानना है ''उसके वेश्या बन जाने पर समाज का प्रबुद्ध वर्ग, विशेषकर आर्य समाज, सक्रिय होता है। उसका पति भी पश्चाताप करता है। आर्य समाज के नेता बिट्ठल दास उसके उद्धार के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर देते हैं। सुमन उनसे बातचीत के क्रम में पूरे समाज को बेनकाब कर देती है। यह प्रेमचंद की क्रांतिकारी सामाजिक दृष्टि का परिचायक है। प्रेमचंद ने पतिव्रत्य को नारी चरित्र का एकमात्र मूल्य स्वीकार नहीं किया है। पति, घर और समाज से सुमन का विद्रोह शोषित और दलित नारी का, पुरुष समाज से, विद्रोह का प्रतीक है। सुमन के चरित्र के माध्यम से प्रेमचंद ने विवश नारी की समाज से टकराव की कहानी कहने का प्रयत्न किया है।''[26]

प्रेमचंद युग में स्त्री मुखर हुई। तभी तो 'गोदान' में झुनिया एक विधवा स्त्री होते हुए भी पुरुषों पर करारा टिप्पणी करती है ''मर्द दूसरी औरत के पीछे दौड़ेगा तो औरत भी जरूर मर्दो के पीछे दौड़ेगी। मर्द का हरजाईपन औरत को उतना ही बुरा लगता है, जितना औरत को मर्द क। यही समझ लो। मैंने तो अपने आदमी से साफ-साफ कह दिया था, अगर तुम इधर-उधर लपके तो मेरी भी जो इच्छा होगी, वही करूंगी। यह चाहो कि तुम तो अपने मन की करो और औरत को मार के डर से अपने काबू में रखो, तो यह न होगा। तुम खुले खजाने करते हो, वह छिपकर करेगी। तुम उसे जलाकर सुखी नहीं रह सकते।''[27] झुनिया पढ़ी-लिखी स्त्री नहीं है लेकिन उसके कथन में एक आधुनिक स्त्री की चेतना झलकती है। मतलब उस समय एक बोल्ड स्त्री की छवि गढ़ी जा रही थी। 'गोदान' के ही एक और प्रसंग को हम देख सकते हैं -- मेहता स्त्रियों के संबंधों पर लंबा भाषण देते हैं तो उसके विपक्ष में सरोज आक्रोशित होकर प्रेम विवाह पर कहती है ''हम पुरुषों से सलाह नहीं मांगती। अगर वह अपने बारे में स्वतंत्र हैं, तो स्त्रियाँ भी अपने बारे में स्वतंत्र हैं। युवतियां अब विवाह का पेशा नहीं करना चाहती। वह केवल प्रेम के आधार पर विवाह करेंगी।''[28] सरोज की यह बात कहीं न कहीं स्त्री मुक्ति की दिशा को दर्शाता है लेकिन स्त्री-मुक्ति की जो समस्या है उसका समाधान क्या प्रेम विवाह द्वारा हो जाएगा। सीमोन का कहना है ''स्त्री, पुरुष प्रधान समाज की एक कृति है। वह अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए जन्म से ही स्त्री को अनेक नियमों के ढांचे में ढालता चला गया है।''[29] पितृसत्तात्मक समाज में यह उक्ति सही मालूम होता है क्योंकि स्त्री शुरू से ही मां, बेटी, पत्नी के रूप में परिभाषित की गई है। 'गोदान' में धनिया का चरित्र काफी मुखर है वह एक ऐसी स्त्री है जो घर से लेकर बाहर तक लड़ती है। होरी के इस कथन पर कि ''जब दूसरे के पांवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो इन पांवों को सहलाने में ही कुशल है।''[30] इसके जवाब में धनिया कहती है कि ''विचार था कि हमने जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा, उसकी खुशामद क्यों करें, उसके तलवे क्यों सहलाएं।...उनका मन बराबर विद्रोह किया करता था।''[31] इस तरह धनिया एक विद्रोहिणी स्त्री के रूप में गढ़ी गई है। पंचों द्वारा जब होरी पर

जुर्माना लगाया जाता है तब धनिया पूरी बिरादरी को चुनौती देती हुई कहती है कि ''हमें नहीं रहना है बिरादरी में। बिरादरी में रहकर हमारी मुकुत न हो जाएगी। अब भी अपने पसीने की कमाई खाते हैं, तब भी अपने पसीने की खाएंगे।''[32] धनिया के अलावा मालती, झुनिया, नोहरी, चुहिया, सोना आदि कई स्त्रियाँ हैं जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती देती दिखती हैं। नोहरी अपने पति भोला की पिटाई करती है ''नोहरी ने मारे जूतों के भोला की चांद गंजी कर दी।...उसने (होरी) अपने जीवन में कभी यह न सुना था कि किसी स्त्री ने अपने पति को जूते से मारा हो। जूतों से क्या, थप्पड़ या घूंसे से मारने की भी कोई घटना उसे याद न आती थी और आज नोहरी ने भोला को जूतों से पीटा और सब लोग तमाशा देखते रहे।''[33] यहां प्रेमचंद ने एक अलग तरह के स्त्री छवि को गढ़ा है, जो कि गलत रहने पर अपने पति को भी नहीं छोड़ती। इसी तरह मालती एक अलग तरह की स्त्री पात्र है, जो आर्थिक रूप से सक्षम है और अपने घर की जिम्मेदारी उठाती है। मालती एक आजाद ख्याल महिला है, प्रेमचंद मालती के बारे में उल्लेख करते हैं कि ''मालती बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी।''[34] उसे पश्चिमी सभ्यता में रची बसी दिखाया गया है। वीरेन्द्र यादव का कहना है ''गोदान' का नारी-विमर्श एकलवादी न होकर भारतीय समाज की संरचना के अनुकूल बहुलवादी है। यहां पितृसत्तात्मक समाज का अनुकूलन है, तो उससे मुक्ति की छटपटाहट भी। विवाह संस्था की आलोचना है तो उसके महत्व का रेखांकन भी, पति परमेश्वर का आदर्श है तो तलाक लेने की विवशता भी। प्रेमचंद गोदान मे नारीवाद का कोई एक मॉडल न प्रस्तुत करके नारी-विमर्श का जो व्यापक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, वही भारतीय समाज का नारी यथार्थ है, जो आज भी प्रासंगिक है।''[35]

प्रेमचंद के समकालीन उपन्यासकारों में पाण्डे बेचन शर्मा उग्र, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, वृन्दावनलाल, शिवपूजन सहाय, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, राजा राधिकारमण सिंह, सियारामशरण गुप्त आदि प्रमुख रहे हैं। पाण्डे बेचन शर्मा उग्र प्रेमचंद युग के महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। इनके उपन्यासों में तत्कालीन समाज की कुरीतियों का नग्न चित्रण मिलता है। इनके प्रमुख उपन्यास हैं 'चन्द हसीनों के खतूत' (1927), 'दिल्ली का दलाल' (1920), 'बुधुआ की बेटी' (1928), 'शराबी' (1930) आदि। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की प्रमुख विशेषता यह है कि इन्होंने अपने उपन्यासों में समकालीन यथार्थ के अनछुए पहलुओं का चित्रण किया है। 'चन्द हसीनों के खतूत' में इन्होंने हिन्दू और मुसलमान युवक-युवती के प्रेम-विवाह तथा साम्प्रदायिक सद्भाव का चित्रण किया है जो उस समय के लिए एक साहस का काम था। इस उपन्यास में इन्होंने यह विचार स्थापित किया कि मनुष्य सबसे पहले मनुष्य होता है फिर बाद में हिन्दू या मुसलमान या किसी जाति विशेष का सदस्य। 'दिल्ली का दलाल' उपन्यास में कन्याओं और युवतियों को खरीदने और बेचने वाले संस्थाओं का पर्दाफाश किया गया है। इस प्रकार इस उपन्यास में स्त्री की

दुर्गति का बीभत्स चित्रण किया गया है। 'बुधुआ की बेटी' में अछूतोद्धार की समस्या को रेखांकित किया गया है।

चंडी प्रसाद हृदयेश के प्रमुख उपन्यास 'मनोरमा' और 'मंगल प्रभात' आदि हैं। इन उपन्यासों में समकालीन स्त्री की समस्याएं चित्रित की गई हैं, जैसे--दहेज प्रथा, वृद्ध विवाह, हिन्दू समाज की रूढ़ मान्यताएँ, स्त्री का नैतिक मूल्य से संघर्ष आदि का मार्मिक वर्णन किया गया है। वृन्दावनलाल वर्मा इस युग के प्रमुख उपन्यासकार हैं। 'गढ़कुंडार', 'विराट कि पद्मिनी', 'कचनार', 'लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी' आदि उच्चकोटि के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। इनके यहां स्त्रियाँ समान्य वर्ग से आती हैं। इस युग में जयशंकर प्रसाद ने 'कंकाल' (1930), 'तितली' (1934) तथा अपूर्ण उपन्यास 'इरावती' (1936) लिखा। 'कंकाल' में उन्होंने हिन्दू समाज की विकृतियों तथा अवैध संतानों के यथार्थ को चित्रित किया है। प्रयाग, काशी, हरिद्वार, मथुरा और वृन्दावन जैसे तीर्थ स्थानों में धर्म के नाम पर किये जाने वाले मिथ्याडम्बरों और दुराचारों का यथार्थ रूप में अंकन किया है। इस उपन्यास में प्रसाद स्त्री के प्रति पुरुष के परम्परावादी दृष्टिकोण पर मार्मिक प्रहार करते हैं। एक तरह से 'कंकाल' में तारा समाज के उत्पीड़न की शिकार हैं। इस उपन्यास की सभी स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा किसी न किसी रूप में छली जाती हैं और यह धोखा उन्हें इस समाज के तथाकथित भद्र पुरुष द्वारा मिलता है। इसी तरह उपन्यासकार ने इस उपन्यास में समाज के दलित-शोषित और पीड़ित वर्ग का चित्रण किया है। प्रसाद 'तितली' में यथार्थ की पीठिका पर आदर्श की स्थापना करते दिखाई देते हैं जो प्रेमचंद के प्रारंभिक उपन्यासों से भिन्न नहीं है।

इसी युग में सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने 'अप्सरा' (1931), 'अलका' (1933), 'निरुपमा' (1936) और 'प्रभावती' (1936) नामक उपन्यासों की रचना की। 'अप्सरा' में निराला ने एक अभिजातकुलीन युवक तथा एक वेश्यापुत्री के प्रेम और विवाह का चित्रण किया है। वेश्या समाज की समस्या बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही हिन्दी उपन्यास का विषय रहा है और प्रेमचंद ने 'सेवासदन' में इसे मुकम्मल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया । संवेदनशील रचनाकारों में वेश्या समाज के प्रति बढ़ती सहानुभूति उस नारी- मुक्ति की शुरुआत मानी जा सकती है जो आज के कथा साहित्य का प्रमुख मुद्दा बना हुआ है। निराला के उपन्यासों में सामाजिक परिवर्तन की कामना सर्वाधिक प्रखर रूप में अभिव्यक्त हुई है। निराला के उपन्यासों में कई प्रश्नों को उठाया गया है। वह प्रश्न चाहे वेश्याओं के जीवन से संबंधित हो अथवा किसानों के जीवन से संबंधित अथवा सामाजिक समस्याओं तथा विसंगतियों से।

इसी काल में विश्वंभर नाथ शर्मा 'कौशिक' के उपन्यासों को हम देख सकते हैं, उन्होंने दो उपन्यास 'माँ' (1929) और 'भिखारिणी' (1929) लिखा। 'माँ' उपन्यास में वे एक आदर्श मां का

चरित्र अंकित करने की कोशिश करते हैं। इसी तरह 'भिखारिणी' एक प्रेमपरक उपन्यास है, जिसमें जस्सों के प्रेम के प्रति एकनिष्ठता को उपन्यासकार दिखाते हैं, जबकि रामनाथ विवाह कर अपने जीवन में आगे बढ़ चुका होता है । इसी तरह शिवपूजन सहाय का उपन्यास 'देहाती दुनिया' (1926) ठेठ देहात की भाषा लेकर आया। इस उपन्यास में स्त्री के विभिन्न रूप का वर्णन है। इस उपन्यास में बुधिया नाम की एक स्त्री पात्र है जो रामटहल सिंह की रखैल है । ऐतिहासिक उपन्यासों में चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास 'हृदय की परख' (1931), 'अमर अभिलाषा' (1933), और 'आत्मदाह' (1934) आदि प्रमुख हैं। इन उपन्यासों में भी विधवा विवाह, दहेज-प्रथा और वेश्या जीवन की कई समस्याओं को चित्रित किया गया है। इन उपन्यासों में विवाहित पुरुष का दूसरी स्त्री के प्रति आकर्षण, पाश्चात्य प्रभाव के कारण दाम्पत्य संबंध में आने वाले बदलाव आदि का चित्रण किया गया है।

भगवतीचरण वर्मा द्वारा रचित 'चित्रलेखा' (1934) एक सामाजिक है यह उपन्यास हिन्दी साहित्य जगत में काफी लोकप्रिय हुआ । इस उपन्यास में पाप क्या है? इसकी स्थिति कहाँ तक है? इसकी चर्चा की गई है या यूं कहें कि उपन्यास में पाप-पुण्य, नैतिक-अनैतिक और जीवन की सार्थकता-निरर्थकता के तहत चरित्रों का आकलन किया गया है। इस उपन्यास में चित्रलेखा अपने जीवन में कई प्रश्नों से जूझती हुई दिखाई देती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्रेमचंद युग में स्त्री जीवन की मूल समस्या पर उपन्यासकारों ने ध्यान दिया। इस युग के उपन्यासकारों ने स्त्री जीवन की उन समस्याओं को केन्द्र में रखा जो समाज में व्याप्त थीं। वह समस्या चाहे दहेज की हो या अनमेल विवाह की, इन सारी समस्याओं पर इस युग में बात की गई। इस युग के उपन्यासों में स्त्रियाँ ज्यादा संघर्षशील और कर्मठ हैं। वह अत्याचार और अन्याय के खिलाप लड़ती भी हैं।

1.3.प्रेमचंदोत्तर युग

प्रेमचंदोत्तर काल हिन्दी उपन्यास में परिवर्तन एवं नवीन प्रयोग का काल है। इस काल के उपन्यासों पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव अत्यधिक दिखाई देता है । इस काल के साहित्य पर मार्क्सवाद और फ्रायड का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। इस काल में दो तरह के उपन्यास लिखे गए। एक ओर यशपाल, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त, विष्णु प्रभाकर, अमृत राय आदि मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर वर्ग संघर्ष और वर्ग चेतना को केन्द्र में रख कर उपन्यास लिख रहे थे। वहीं दूसरी ओर जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद जोशी आदि लेखक मनोविश्लेषणवादी उपन्यास लिख रहे थे। इस युग में स्त्री के चित्रण का स्वरूप बदला। जो धारणा पहले थी वह ध्वस्त होती हुई दिखाई देती है। इस

युग में स्वतंत्र स्त्री की छवि गढ़ी गई। इस युग में पहली बार स्त्री के विवाहपूर्व एवं विवाहेत्तर संबंधों का चित्रण किया गया क्योंकि सदियों से ये अधिकार सिर्फ पुरुषों के पास थे, पुरुषों का इतिहास रहा है कि वह एक समय में कई स्त्रियों से विवाह करता था या कई स्त्रियों के साथ उसका संबंध रहता था। इस युग में मानव मन की गुत्थियों को सुलझाया जा रहा था। स्त्री-जीवन की जो समस्याएं समाज में व्याप्त थी वह समस्या प्रेमचंद-युग और प्रेमचंदोत्तर-युग के उपन्यासों में अलग-अलग दिखाई पड़ती है। प्रेमचंद युग में मुख्य रूप से स्त्री की सामाजिक समस्याओं का ज्यादा चित्रण हुआ है। जबकि फ्रायड, युंग, एडलर आदि मनोविश्लेषणवादियों के प्रभाव के कारण प्रेमचंदोत्तर-युग में स्त्री मन की मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाया गया। इस युग में भी समाज में बाल-विवाह, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, दहेज, वेश्यावृत्ति आदि समस्याएं बनी हुई थीं किन्तु अब उनको दूर करने की कोशिश की जाने लगी। इस काल में लेखक ने स्त्री मन की उथल-पुथल, स्त्री-पुरुष के आकर्षण-विकर्षण, और काम-भाव की समस्या को गहराई से देखा। इसके अतिरिक्त नारी की वैयक्तिक और आर्थिक स्वतन्त्रता को जितना सबल समर्थन इस युग के उपन्यासों में मिलता है, उतना पूर्ववर्ती उपन्यासों में नहीं।

प्रेमचंद काल में अविवाहित स्त्री के प्रेम की समस्या गंभीर और विवादग्रस्त नहीं थी। स्त्री को प्रेम का अधिकार था। यही नहीं, पुरुष के मन में उस प्रेम को प्राप्त करने की कामना थी। प्रेमचंद युग में नारी के प्रेम को आदर्श के कवच से ढंक दिया गया था। त्याग, समर्पण, सेवा आदि के विशेषणों से विभूषित कर स्त्री के स्वाभाविक प्रेम को यथार्थ स्वातंत्र्य से दूर रखने की चेष्टा की गई थी परंतु इस काल में स्त्री के प्रेम पर ऐसा कोई आरोप नहीं मिलता। अब यह माना जाने लगा कि पुरुष और स्त्री की वृत्तियां समान हैं। दोनों ही अपनी मूल प्रेरणा से एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। यही कारण है कि इस युग में प्रेम-तत्व के चित्रण के संदर्भ में स्त्री की मानसिक कुंठाओं का चित्रण हुआ। स्त्री भी अपनी काम-भाव से प्रेरित होकर उसी प्रकार आकर्षित होती है जिस प्रकार पुरुष। इलाचन्द्र जोशी लिखित 'पर्दे की रानी' (1941) की निरंजना, 'संन्यासी' (1941) की शान्ति और 'प्रेत और छाया' की मंजरी, 'मुक्ति पथ',(1950) की सुनन्दा, अज्ञेय लिखित 'शेखरः एक जीवनी' (1944) की शशि, भगवती प्रसाद वाजपेयी लिखित 'दो बहिनें' की लता, रांगेय राघव लिखित 'घरौंदे' (1946) की लीला, यशपाल लिखित 'दादा कामरेड' की शैल और 'देशद्रोही' की चन्दा आदि स्त्रियाँ इस बात की पुष्टि करती हैं।

दुनिया की आधी आबादी कही जाने वाली स्त्री का शोषण सदियों से समाज में हो रहा है। जैनेन्द्र हिन्दी उपन्यासकारों में एक नए तरह के उपन्यासकार के रूप में उभरे। उनके उपन्यास 'त्यागपत्र' (1937) और 'कल्याणी' (1939) में प्रकाशित हुए। 'त्यागपत्र' जैनेन्द्र की एक अलग तरह की रचना है। 'त्यागपत्र' की मृणाल रूढ़िवादी, परंपरागत अचार संहिता से जकड़ी हुई अपने

समय के स्त्री का प्रतिनिधित्व करती है। इसके साथ ही इस उपन्यास में यह भी दिखाया गया है कि इस पितृसत्तात्मक समाज में एक स्त्री को न प्रेम करने की इजाजत है और न ही स्वतंत्र रूप से रहने की। 'त्यागपत्र' की मृणाल सामाजिक रूढ़िवादिता को तोड़ती नजर आती है। मृणाल अपने स्वभाव और संवेदना से अपने समय की स्त्री से भिन्न है। वह इस पुरुषवादी समाज से विद्रोह करती है तथा उसे चुनौती देती है। जिसका खामियाजा भी उसे भुगतना पड़ता है। एक तरह से स्त्री-पुरुष से संबंधित जो सवाल है वह जैनेन्द्र के यहां ज्यादा दिखाई देते हैं। वीरभारत तलवार लिखते हैं कि ''जैनेन्द्र ने स्त्री की पीड़ा के माध्यम से समाज का जो चरित्र है, समाज के जो मूल्य हैं, मान्यताएं हैं, आचरण की जो क्रूरता है और उसकी जो संकीर्ण मानसिकता है, वह सब जैनेन्द्र स्त्री की पीड़ा के माध्यम से उजागर करते हैं और इस संबंध का जो सबसे महत्वपूर्ण रूप है दाम्पत्य संबंधों का खोखलापन है। इसको जौनेन्द्र सामने लाते हैं अपने उपन्यासों और कहानियों में।''[36] इसके साथ ही तलवार जी का कहना है ''त्यागपत्र' की मृणाल हिन्दी साहित्य की अमर स्त्री पात्रों में से एक है। मृणाल के अलावा दूसरा और कोई स्त्री पात्र नहीं है जो इतनी पीड़ा के साथ मर्म को छूता हो।''[37] हिन्दी में जैनेन्द्र पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने स्त्री-पुरुष के प्रेम और दाम्पत्य की समस्या को अधिक वैचारिक गम्भीरता और संवेदनशीलता के साथ मनोवैज्ञानिक स्तर पर चित्रित किया। शंभुनाथ जी का कहना है कि ''स्त्री क्या सोचती है, पुरुष क्या सोचता है, स्त्री किस तरह पत्नीत्व को कर्तव्यपरायणता और साधना समझती है, उसे किस तरह विश्व से अधिक घर चाहिए, पुरुष को कैसे गृहस्थी के अलावा कुछ और चाहिए उसे वस्तुतः विश्व का चित्र-वैचित्र्य, देश, सुधार या तोड़फोड़ भी चाहिए। पुरुष प्रयोग करना चाहता है। जैनेन्द्र खुद अपने बनाये प्रश्नों के कैदी हो जाते हैं।''[38] इसी तरह शंभुनाथ जी यह भी मानते हैं ''सुनीता में उन्होंने जीवन विमुख क्रांति प्रेमी परिप्रसन्न के सामने सुनिता को बिल्कुल नग्न खड़ा कर दिया। एक विवाहिता हिन्दू स्त्री दूसरे पुरुष के आगे सेक्स के लिए खुद अपने कपड़े उतार रही थी और जीवन का महत्व समझा रही थी। वह अपने भीतर सैकड़ों साल से घुसे-पैठे चारों तरफ से बन्द भाववाद से भी मुक्त हो रही थी। एक खादी पहनने वाले कथाकार का साहस के साथ यह दिखाना क्या था, स्त्री द्वारा देह की मुक्ति के जरिये अपने स्वत्व का उद्घोष, त्याग...हरिप्रसन्न सेक्स के लिए उतावला था, पर अब उसने आँखें बन्द कर लीं। उसके और सुनीता के बीच नैतिकता, अपरिग्रह और त्याग के प्रश्न कूद पड़े थे, सेक्स भस्म हो गया था।''[39] कल्याणी का विषय-वस्तु भी त्यागपत्र की तरह ही है, इस उपन्यास में रूढ़िवादी परंपरा में जकड़ी स्त्री है। उपन्यासकार यह दिखाने की कोशिश करता है कि एक पढ़ी-लिखी स्त्री भी पुरुषवादी व्यवस्था द्वारा शोषण का शिकार होती है। यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या एक स्त्री को आर्थिक रूप से स्वावलम्बी मात्र हो जाने से उसका शोषण नहीं हो सकता? जब तक पूरी सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन नहीं होगा तब तक आर्थिक स्वतंत्रता स्त्री-मुक्ति का वाहक नहीं बन सकती। जरूरत है स्त्री मुक्ति के लिए उसके प्रति पुरुष समाज के दृष्टिकोण में परिवर्तन की।

'कल्याणी' एक ऐसी स्त्री की कहानी है जो हर प्रकार से सुयोग्य कही जा सकती है, वह देखने में सुन्दर, सुशील, सौम्य, गरीबों के प्रति सहानुभूति रखने वाली उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्री है लेकिन फिर भी वह सामाजिक कुरीतियों का शिकार होती है। अतः वह मृणाल की तरह ही आत्मदमन और आत्मपीड़ा का मार्ग अपनाती है।

इस युग में अज्ञेय के यहां भी स्त्री का एक नया स्वरूप दिखता है। अज्ञेय एक कवि के रूप में जाने जाते हैं परंतु 'शेखर एकः जीवनी', 'नदी के द्वीप' और 'अपने अपने अजनबी' उपन्यास लिख कर एक उपन्यासकार के रूप में उन्होंने अपना महत्वपूर्ण स्थान साहित्य जगत में बनाया। जब अज्ञेय लिख रहे थे, उस समय स्त्री अपने अधिकारों के प्रति जागरुक हो रही थी। यह वह समय था जब स्त्री अपनी गुलामी की बेड़ियां तोड़ रही थी। इस समय सती प्रथा का विरोध, बाल विवाह पर रोक, विधवा को पुनर्विवाह करने का अधिकार समाज में दिया जा रहा था। उनके लिए कानून बनाए जा रहे थे, शिक्षा के प्रसार के कारण स्त्रियों में आधुनिक चेतना का निर्माण हो रहा था। वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रही थी। 'नदी के द्वीप' (1951 ई.) में प्रकाशित अज्ञेय का दूसरा उपन्यास है। अज्ञेय अपने उपन्यास 'नदी के द्वीप' में स्त्री स्वतंत्रता के मुद्दे को उठाते हैं। इस उपन्यास में भुवन और रेखा के प्रेम को दिखाया गया है। रेखा पतित्यक्ता स्त्री है, वह भुवन से प्रेम करती है और दोनों के संबंधों की प्रगाढ़ता बढ़ जाती है लेकिन सामाजिक डर से भुवन अपने और रेखा के बच्चे को इस संसार में आने नहीं देता। वह रेखा के प्रेम को भी सामाजिक स्वीकृति नहीं देता। जिससे रेखा टूट जाती है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने मध्यवर्गीय कुण्ठित जीवन की अभिव्यक्ति की है।

'शेखरः एक जीवनी' अज्ञेय की एक सशक्त कृति है। इस उपन्यास के प्रमुख पात्र शशि और शेखर हैं। शेखर के जीवन में कई स्त्रियाँ आती हैं लेकिन शशि उसके लिए खास है, शशि मरने के बाद भी शेखर के लिए प्रेरणा बनी रहती है। शेखर शशि को अपने जीवन के लिए अनिवार्य मानता है। वह कहता है ''सबसे पहले तुम शशि।...इसलिए नहीं की तुम जीवन में सबसे पहले आई या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिए कि हमारा होना अनिवार्य रुप से तुम्हारे होने को लेकर है--ठीक वैसे ही जैसे तलवार में धार का होना सान की पूर्व कल्पना करता है। तुम वह सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज होता रहा है--जिस पर मंज कर मैं कुछ बना हूँ जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं है।''[40] शशि शेखर को बचाने में स्वयं को भूल जाती है और शेखर को महान बनाने में लग जाती है। शेखर एक जगह खुद स्वीकार करता है कि शशि के विचार प्रखर हैं लेकिन अपनी सारी प्रज्ञा शशि शेखर को लेखक बनाने में लगाती है। शशि अपने जीवन में स्त्री के त्याग और बलिदान का आदर्श उपस्थित करती है। वह कहती है ''स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आई है। ज्ञान सब उसमें संचित है, जैसे धरती में चेतना संचित है।

पर बीज अंकुरित होता है, तो धरती को फोड़कर, धरती अपने आप नहीं फूलती-फलती। मेरी भूल हो सकती है, पर मैं इसे अपमान नहीं समझती कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष की प्रगति में स्त्री माध्यम है और वही एक माध्यम है। धरती धरती ही है, पर वह भी समान सृष्टा है, क्या हुआ अगर उसके लिए सृजन पुलक और उन्माद नहीं, वेदना है।''[41] शेखर को आगे बढ़ाने में शशि अपना पूरा जीवन होम कर देती है।

विवाह की समस्या, प्रेम की सामाजिक स्वीकृति की समस्या को अज्ञेय के पात्र तोड़ते हैं। अज्ञेय अपने उपन्यासों में यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि प्रेम, जाति, धर्म-सभी रिश्ते नाते, सामाजिक बंधन से ऊपर उठकर हैं। उनके उपन्यास के पात्र रिश्ते नाते, सामाजिक बंधन को नकारते हैं। 'शेखरः एक जीवनी' उपन्यास में शशि शेखर की मौसेरी बहन, लेकिन उनके बीच आत्मिक संबंध है। शेखर जब जेल में है तो शशि अपने विवाह के बारे में शेखर को एक पत्र लिखती है। शेखर पत्र पढ़ कर सोचता है ''अगर वह नहीं चाहती विवाह करना तो कौन सी मजबूरी है विवाह की? समाज कौन है मजबूर करने वाला ? संबंधी कौन हैं ? मां कौन है ? कोई भी कौन है ? उस पवित्र यज्ञ भूमि में जिसमें आत्मा संकल्प लेकर अपने को दे देती है।''[42] लेकिन शेखर शशि के लिए कुछ नहीं करता है सिर्फ सोच कर रह जाता है।

''शेखर और शशि सामाजिक दृष्टि से भाई-बहन हैं। शशि विवाहिता है, फिर भी वह शेखर की प्रेमिका है, उसने इच्छा के विरुद्ध विवाह किया। दुर्व्यवहार सहा और विवशता की सीमाएं तोड़ कर आगे बढ़ी, वह शेखर को बचाने में स्वयं मिट जाती है''[43] अज्ञेय के यहां स्त्री पात्र खुलकर अपने प्रेम को स्वीकार करते हैं। पितृसत्तात्मक समाज में एक स्त्री के लिए अपने प्रेम को खुलकर स्वीकार करना अपने आप में बड़ी चुनौती है, जिसे अज्ञेय अपने उपन्यास में दिखाते हैं। अज्ञेय ने अपने उपन्यासों में टूटते दाम्पत्य संबंध को भी दिखाया है। रामेश्वर एक परंपरावादी पुरुष है जब एक रात शशि शेखर के घर पर रुक जाती है तो शशि को मार-पीट कर रामेश्वर घर से बाहर निकाल देता है। वह रामेश्वर के घर को छोड़ देती है। शशि की चेतना एक विद्रोहिणी स्त्री की है। शशि एक सभा में विवाह पर अपने विचार रखती है ''आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिन्दू आदर्श, गृहस्थ धर्म, स्त्रीत्व का हिन्दू आदर्श, किन्तु अभिमान की काई के नीचे आदर्श का पानी क्या बहता है कि बंधकर सड़ गया है? गृहस्थ धर्म उभयमुखी होता है, किन्तु आज के जीवन में पुरुष की ओर से देय कुछ भी नहीं है, संख्या तो दूर, करुणा भी देय नहीं रही और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गई है, निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहे, जैसे चाहे अपनी तुष्टि की आग में होम कर दे''[44] रामेश्वर के जरिए अज्ञेय विवाह प्रथा की खोखली होती सच्चाई को दिखाते हैं। अज्ञेय एक अलग स्त्री छवि को गढ़ते हैं। अज्ञेय का उपन्यास 'शेखर एक जीवनी' हिन्दी साहित्य में एक अलग महत्व रखता है।

यशपाल मुख्य रूप से मध्यवर्गीय जीवन के उपन्यासकार हैं। लेकिन उनके यहां निम्नवर्ग की कुछ कथा मिलती है। यशपाल एक प्रतिबद्ध कथाकार हैं। उनके द्वारा रचित महत्वपूर्ण उपन्यास 'दादा कामरेड' (1941), 'देशद्रोही' (1943), 'दिव्या' (1945) और 'पार्टी कामरेड' (1946) आदि हैं। इनमें 'दिव्या', यशपाल के शब्दों में ऐतिहासिक कल्पना है, जबकि 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और 'पार्टी कामरेड' समकालीन राजनीति और स्त्री-पुरुष के प्रेम और काम संबंधों पर आधारित उपन्यास हैं। यशपाल 'दिव्या' में स्त्री स्वतंत्रता की आवाज उठाते हैं। वे पुरुषवादी समाज में स्त्री के यौन आत्मदमन को उसकी स्वतंत्रता और व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में बाधक मानते हैं। यशपाल अपने उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंध की परंपरा से चली आ रही आचार संहिता को चुनौती देते हैं। यशपाल के उपन्यासों में स्त्री के मुक्त प्रेम और काम संबंधों का स्वरूप जैनेन्द्र और अज्ञेय से एक कदम आगे है। यशपाल प्रेम और काम व्यापार को एक जीवशास्त्रीय क्रिया मानते हैं और उसमें भी पुरुष के अधिकार भावना को चुनौती देते हैं। 'दादा कामरेड' की शैल एक साथ कई पुरुष से प्रेम करने को अनैतिक नहीं मानती है और वह एक साथ कई पुरुषों से प्रेम करती भी है। गोपाल राय लिखते हैं ''देशद्रोही में भी यशपाल खतून, राजदुलारी, राज, चंदा आदि के संबंधों के चित्रण द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि पुरुष द्वारा नारी आरोपित पवित्रता का मूल्य और सतीत्व की धारणा एक साजिश है। स्त्री को एक ही व्यक्ति के उपभोग की वस्तु मानने की परंपरागत अवधारणा को यशपाल स्वीकार नहीं करते।''[45] 'पार्टी कामरेड' में भी स्त्रियों के प्रति इसी सोच का प्रतिपादन किया गया है। 'दिव्या' यशपाल का ऐतिहासिक उपन्यास है।

पुरुषवादी व्यवस्था में स्त्रियों का शोषण परंपरा से चला आ रहा है। वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति पुरुष के समान थी। धीरे-धीरे पुरुषवादी मानसिकता ने उसे अधिकारों से वंचित कर उपभोग का सामान बना दिया और उसके लिए ऐसे प्रावधान निर्मित किए जो उसे अधिकारों से वंचित करता था तथा आर्थिक रूप से पराधीन बनाए रखता था। बौद्ध धर्म के उदय के समय तक स्त्रियाँ आर्थिक, सामाजिक और नौतिक जकड़नों से जकड़ चुकी थीं। पुरुष द्वारा बनाए नियम की अवहेलना कर देने के बाद स्त्री का जीना मुहाल हो जाता था। सामन्ती व्यवस्था में स्त्री को भोग और संतान पैदा करने की मशीन माना जाता था और वेश्या स्त्री को आजादी प्राप्त थी, पर उस रूप में भी उसकी बिडंबना कम न थी। 'दिव्या' उपन्यास में यशपाल ने अपने नारी विषयक इसी कल्पना लोक को एक सजीव रचना-संसार के द्वारा अभिव्यक्त किया है। दिव्या एक अभिजात कुल ब्राह्मण की कन्या है वह अपनी नृत्यकला के कारण सरस्वती पुत्री का सम्मान प्राप्त करती है बावजूद इसके वह श्रेष्ठ खड्गधारी है पर दास पुत्र पृथुसेन से प्रेम और शारीरिक-संबंध स्थापित करने के कारण समाज के लिए अग्राह्य हो जाती है। कुँवारी माँ बनना भारतीय समाज में स्वीकार नहीं है।

समाज से बाहर होते ही दिव्या दास-व्यापारियों के चक्रव्यूह में पड़कर वस्तु बन जाती है और विविध प्रकार की पीड़ाओं से गुजरते हुए उसकी मानसिकता आत्महत्या करने के लिए उत्प्रेरित करती है। विविध श्रेष्ठ गुणों से युक्त होने के बावजूद उसे समाज में सम्मानपूर्ण जगह नहीं मिलती और थक-हारकर वह वेश्या जीवन स्वीकारने को विवश होती है। ईसा पूर्व भारतीय स्त्री की यही सच्चाई है जिसे यशपाल ने कलात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। जीवन की अग्निपरीक्षा से गुजरकर उनकी दिव्या अभिजात वर्ग के प्रेमियों का तिरस्कार करके बौद्ध मारिश से प्रेम करने लगती है जो स्त्री-पुरुष के मुक्त, नैसर्गिक प्रेम को मानने वाला है। प्रेमचद के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी रचनाओं में स्त्री का स्वरूप कुछ अलग तरह से उकेरा है। इनके उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा', 'चारुचंद्रलेख', 'पुनर्नवा', 'अनामदास का पोथा' है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का कथा संसार इतिहास की घटनाओं पर आधारित है, जिसमें उदात प्रेम का चित्रण किया गया है। सामंती जीवन और लोक संस्कृति का सजीव अंकन करने में हजारी प्रसाद द्विवेदी सफल हुए हैं। इस उपन्यास में लेखक ने यह दिखाने की कोशिश की है कि इस पुरुषवादी समाज में स्त्री शोषण की वस्तु है चाहे वह किसी भी वर्ग की क्यों न हो। सिर्फ शोषण का स्वरूप बदला होता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में निपुणिका एक दलित स्त्री है, जिसे समाज में दोहरे शोषण का शिकार होना पड़ता है। एक जगह निपुणिका बाणभट्ट से पूछती है ''मेरा कौन सा ऐसा पाप चरित्र है जिसके कारण मैं निदारुण दुख की भट्ठी में आजीवन जलती रही? क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है?''[46] इसी युग में इलाचंद जोशी के उपन्यासों में स्त्री का स्वरूप बदला हुआ है। इनके उपन्यास 'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' आदि मनोवैज्ञानिक उपन्यास है जिसमें स्त्री के मनोविज्ञान को समझने की कोशिश की गयी है। 'घृणामयी' में उपन्यासकार ने प्रेम की असफलता से उत्पन्न कुंठा का वर्णन किया है। इसी तरह 'संन्यासी' उपन्यास का प्रमुख पात्र कामजन्य है, वह एक समय में दो स्त्रियों से प्रेम करता है लेकिन दोनों में से किसी के साथ सहज संबंध नहीं बना पाता है जिसके कारण वह अंततः कुंठा का शिकार होता है और अंत में संन्यास का रूप धारण कर लेता है। इसी तरह जोशी जी के सभी उपन्यासों में किसी न किसी तरह से सभी पात्र कुंठित हैं। 'प्रेत और छाया' का केन्द्रीय पात्र पारसनाथ अपने जारज पुत्र होने की कुंठा से ग्रस्त है और इस कारण वह अपने संपर्क में आने वाली किसी भी स्त्री को धोखा और पीड़ा पहुँचा कर सुख प्राप्त करता है। 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' जोशी जी के ऐसे ही मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं।

मोहन राकेश के उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' में पति-पत्नी संबंधों का नया स्वर दिखाई देता है। हरबंस और नीलिमा दोनों आधुनिक युग के पात्र हैं। हरबंस पहले नीलिमा को नृत्य सीखने को कहता है, एक तरह से नृत्य करने के लिए उत्साहित करता है लेकिन नीलिमा जब नृत्य के क्षेत्र में आगे बढ़ने लगती है या यूं कहें कि वह नृत्य को ही अपने व्यक्तित्व के अभिव्यक्ति

के रूप में देखने लगती है तो हरबंस उससे चिढ़ने लगता है। पितृसत्तात्मक समाज में कोई भी पुरुष यह नहीं चाहता कि उसकी पत्नी का नाम उससे ज्यादा हो। आखिर हरबंस भी इसी समाज का हिस्सा है तो वह कैसे इस मानसिकता से बच सकता है। इसका नतीजा हुआ कि दोनों के बीच तनाव बढ़ गया। हरबंस एक अलग तरह का पुरुष है जो मुखौटा ओढ़ कर जीता है। एक तरफ तो अपने दोस्तों और रिश्तेदारों को यह दिखाना चाहता है कि उसने ही नीलिमा को आगे बढ़ाया है, यह भी जाहिर करना चाहता है कि वह कितना अच्छा पति है जिसने अपनी पत्नी को इतनी अजादी दी है। लोगों के बीच महान बनना चाहता है लेकिन ऐसा वह होता नहीं है। अगर ऐसा होता तो नीलिमा घर छोड़ कर चली नहीं जाती। स्त्री के बारे में कहा गया है कि एक लड़की की बाप के घर से डोली उठती है और पति के घर से अर्थी। इसी परंपरा से जकड़ी नीलिमा दिखाई देती है। नीलिमा का पति के घर वापसी यह दिखाता है कि वह आधुनिक होते हुए भी उसकी अंतिम परिणति परंपरावादी है।

मोहन राकेश का अन्य उपन्यास 'न आने वाला कल' है। इस उपन्यास की नायिका आधुनिक चेतना से लैस नौकरी पेशा स्त्री है। वह आजाद ख्यालों की अपने तरीके से जीने वाली स्त्री है। उसका संबंध अनेक पुरुषों से होता है। वह किसी एक के साथ बंध कर रहना नहीं चाहती। अनेक पुरुषों से संबंध होने के कारण वह एक ऐसे पुरुष की तलाश में रहती है जो उसे समझे। बानी एक आधुनिक स्त्री है। उसे सामाजिक नैतिकता झूठी लगती है और झूठी सामाजिक नैतिकता को वह ढोना नहीं चाहती। वह उन्मुक्त जीवन जीना चाहती है। वह परंपरा से चली आ रही सामाजिक नैतिकता में बंधना नहीं चाहती। वह अनेक पुरुषों के साथ यौन संबंध बनाती है लेकिन उसे कोई अपराधबोध नहीं होता है। वह कहती है ''जहाँ तक शरीर की नैतिकता का संबंध है, उसे लेकर मेरे मन में कभी कोई कुंठा नहीं रही।''[47] मोहन राकेश एक ऐसी स्त्री का चित्रण करते हैं जो सामाजिक बंधनों को तोड़ कर अपना जीवन जीती है। भारतीय समाज ने जहाँ स्त्री को नैतिकता के नाम पर जकड़ कर रखा, वहां बानी उसे ध्वस्त करती नजर आती है। वह सड़ी-गली मर्यादा को ढोना नहीं चाहती बल्कि अपना जीवन अपने तरीके से जीती है। नैतिकता का सारा ठीकरा स्त्री पर ही सदियों से फोड़ा जाता रहा है।

1.4. स्वातंत्र्योत्तर युग

स्वतंत्रता-पूर्व के हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक परिवेश का महत्वपूर्ण चित्र मिलता है। स्वतंत्रता के बाद सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक क्षेत्रों के मूल्यों में परिवर्तन के विविध रूप हमारे सामने आए और उन्होंने प्राचीन परंपरा और रूढ़ियों को नकारा। स्वतंत्रता के बाद भारत के आम आदमी ने पाया कि जिस मुक्ति की कामना उसने की थी वह मिली, लेकिन

बेरोजगारी, वर्गभेद, राजनीतिक विघटन, मूल्यहीनता और नैतिक पतन इन सबने मिलकर उसके उत्साह को निराशा में बदल दिया। आजादी ने हमारी वैचारिकता को बदलने में प्रमुख भूमिका निभाई। स्वतंत्रता-पूर्व हिन्दी उपन्यासों में समकालीन सामाजिक मान्यताएं, रूढ़िवादिता एवं अंधविश्वास के बारे में स्पष्ट और मुखर अभिव्यक्ति हुई है। इन उपन्यासकारों ने समाज-सुधारकों द्वारा किए जा रहे विधवा-विवाह, बाल-विवाह का विरोध, नारी-शिक्षा की आवश्कयता और जाति-व्यवस्था का विरोध इत्यादि को अपने कथ्य का आधार बनाया। फलतः सामाजिक परिवर्तनों को उपन्यास में अभिव्यक्ति मिली। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जिस प्रकार देश की सभी स्थितियों में आमूल चूक परिवर्तन हुआ, उसी प्रकार साहित्य में भी हुआ। स्वतंत्रता पूर्व लिखित उपन्यासों में आदर्शों की भरमार थी, रोमैण्टिक मनःस्थिति में साहित्य सृजन होता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति ने यहां के देशवासियों के मन में व्याप्त निराशा को आशा के रूप में परिवर्तित किया। इस युग में समाज और राजनीति में आमूल चूक परिवर्तन हुए। तब साहित्य उससे कैसे वंचित रह सकता था? इस युग में स्त्री के प्रति नया दृष्टिकोण, दहेज-प्रथा का विरोध पारिवारिक जीवन के प्रति विषमता आदि उपन्यासों के नवीन विषय हुए।

स्वतंत्रता के बाद जो भी हिन्दी उपन्यास लिखे गए उसमें भारतीय स्त्री की आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक स्थितियों की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। सामाज में पुरुषों का वर्चस्व है तथा सामाजिक व्यवस्था का सारा कार्य-भार उसी के कंधों पर है। इसी कारण पुरुष सदियों से स्त्री को अपनी सम्पति समझता आया है। स्वातंत्र्योत्तर युग में स्त्री चेतनशील और शिक्षित हुई। शिक्षित होने के कारण वह अपने अधिकारों को समझने लगी। वह पुरुषों के खिलाफ खड़ी होने लगी। सदियों से शोषण की शिकार स्त्री इस युग में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करने लगी। स्वतंत्रता के बाद स्त्री आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी जगहों पर अपनी भागीदारी निभाने लगी। स्वतंत्रता के बाद समाज में आमूल चूल परिवर्तन आया, उसका प्रभाव स्त्री के जीवन पर भी पड़ा। इस युग में सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ नवीन मूल्यों की स्थापना भी हुई। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में भीष्म साहनी, राही मासूम रजा, बदीउज्जमां, मंजूर एहतेशाम, रामदरश मिश्र, शिवप्रसाद सिंह, नागार्जुन, रेणु आदि का नाम उल्लेखनीय है। शिवप्रसाद सिंह के प्रमुख उपन्यास है 'गली आगे मुड़ती है' (1974), 'मंजुशिमा' (1990), 'औरत' (1993) आदि। 'गली आगे मुड़ती है' में छात्र-आंदोलन की कथा है। 'मजुशिमा' में शिवप्रसाद सिंह ने अपनी पुत्री 'मंजु' के जीवन की करुण कथा को चित्रित किया है। 'औरत' में स्त्री उत्पीड़न की कहानी है। राजेन्द्र यादव के प्रमुख उपन्यास 'उखड़े हुए लोग', 'कुलटा', 'शह और मात', 'एक इंच मुसकान', 'अनदेखे अनजाने पुल' आदि हैं। 'प्रेत बोलते हैं' उपन्यास में मध्यवर्गीय जीवन के समाज की जड़ता का चित्रण मिलता है। 'उखड़े हुए लोग' में शरद और जया

के प्रेम-विवाह की गाथा है। इसी तरह रामदरश मिश्र एक आंचलिक उपन्यासकार के रूप में सामने आते हैं। उनका प्रमुख उपन्यास 'बीच का समय' (1970), 'सूखता हुआ तालाब' (1972), 'रात का सफर' (1979), 'बिना दरवाजे का मकान' (1984), 'दूसरा घर' (1986), 'थकी हुई सुबह' आदि है। 'बीच का समय' में अनमेल विवाह की त्रासदी का चित्रण किया गया है। 'बिना दरवाजे का मकान' में दीपा जैसी कर्मठ स्त्री के जीवन -संघर्ष का चित्रण मिलता है। 'थकी हुई सुबह' में एक ग्रामीण स्त्री की कहानी है जो अपने पति से त्रस्त होकर नेता के सहारे शिक्षा प्राप्त कर अपनी स्वतंत्र पहचान समाज में बनाती जो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गाँवों और नगरों के आने वाले बदलावों को बहुत अच्छी तरीके से देखता है और उसे अपने कथ्य में चित्रित करता है।

कृष्णा सोबती के उपन्यासों में स्त्री की दृष्टि से देखे गये भारतीय समाज और उसमें स्त्री-पुरुष के संबंधों के सच को अनेक रूपों में व्यक्त किया गया है। कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी के लेखन में पुरुष के छल-छद्म की शिकार स्त्री की विडम्बनापूर्ण स्थिति की अभिव्यक्ति मिलती है। रोहिणी अग्रवाल का मानना है कि आधुनिक गद्य के शुरुआत से ही स्त्री उपन्यास लिखा जाने लगा। एक तरह से स्त्री संवेदनशील होकर, पारिवारिक संबंधों के साथ जुड़ी रहती है । इस युग में कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, मृदुला गर्ग आदि स्त्री लेखिकाएं उपन्यास लेखन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही थी। कृष्णा सोबती का 'जिन्दगीनामा' प्रसिद्ध उपन्यास है। कृष्णा सोबती के उपन्यासों में स्त्री की एक अलग छवि को गढ़ा गया है। इनके यहां स्त्री काफी बोल्ड रूप में आई है। 'मित्रो मरजानी' में मित्रो के चरित्र को काफी बोल्ड रूप में उभारा गया है। मित्रो जिस तरह अपने पति सरदारीलाल को बेवकूफ यानि काठ का उल्लू समझती है। वह अपने पति से शारीरिक सुख प्राप्त नहीं कर पाती है और दूसरे पुरुष से संबंध बनाती है। जबकि सामाजिक रूप से यह संबंध अनैतिक माना जाता है। मित्रो के जरिये लेखिका सामाजिक रूप से सड़ी-गली नैतिकता के दोहरे मापदंड पर करारा चोट करती है। उनका मानना है कि यह समाज की कुरीतियां ही है जो एक स्त्री को बांध कर रखती है। उनके उपन्यास 'सूरजमुखी' (1972) की नायिका बलात्कार का शिकार होती है, लेकिन फिर भी वह पुरुष द्वेष से ग्रस्त नहीं होती है। रोहिणी अग्रवाल का कहना है ''कृष्णा सोबती का यह उपन्यास इस मायने में बेजोड़ है कि पुरुष की पाशविकता का शिकार होकर भी उनकी स्त्री पात्र रत्ती भर पुरुष द्वेष से ग्रस्त नहीं, बल्कि पुरुष की संवेदनशीलता और सहयोग से अपने भीतर की पथरीली जमीन में खोई आस्था और स्त्रीत्व को ढूंढ निकालना चाहती है। पुरुष-प्रताड़ना के बावजूद पुरुष के प्रति द्वेष जैसे किसी भाव को पनपने न देती''[48]

'आपका बंटी' (1971) मन्नू भंडारी द्वारा रचित उपन्यास है । इस उपन्यास में एक तलाकशुदा स्त्री की पीड़ा अभिव्यक्त हुई है। भारतीय समाज में वैसे भी स्त्री सदा से शोषण का शिकार रही है, उसी में अगर कोई स्त्री तलाकशुदा हो तो उसे कई अन्य सामाजिक प्रताड़नाओं का

सामना करना पड़ता है । इस उपन्यास की स्त्री शकुन इसी मानसिक पीड़ा को झेलती है । मन्नू भंडारी अपने पूर्ववती रचनाकारों से एक कदम आगे की स्त्री पात्र को गढ़ती हैं, इनकी नायिका सड़े-गले संबंध को ढोती नहीं बल्कि विघटनशील दाम्पत्य को परे फेंकने का जोखिम उठाती नजर आती है । एक तरह से लेखिका ने 'आपका बंटी' में पारिवारिक मूल्यों के बदलते परिवेश का अंकन किया है । 'आपका बंटी' में बंटी के मानसिक मनःस्थिति का चित्रण किया गया है । इस उपन्यास में स्त्री-पुरुष के जर्जर होते संबंधों के टूटन को अभिव्यक्त किया गया है और साथ ही साथ उसका असर बच्चों पर किस तरह पड़ता है? उसका वर्णन किया गया है । 1979 में रचित 'महाभोज' उपन्यास भारतीय राजनीति के भ्रष्ट एवं संवेदनहीन चेहरे को बेनकाब करता है ।

इसी कालखण्ड में ममता कालिया के यहां स्त्री के नये रूप को चित्रित किया गया है । ममता कालिया अपने उपन्यासों में एक अलग तरह के स्त्री तेवर को लेकर आती हैं । ममता कालिया द्वारा रचित उपन्यास 'बेघर' हिन्दी का पहला ऐसा उपन्यास है जो पुरुषवादी समाज में 'कौमार्य के मिथक' की व्याप्त रूढ़ धारणाओं पर प्रश्नचिन्ह लगाती है । यह उपन्यास मध्यवर्गीय समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर जो धारणा व्याप्त है । उस मानसिकता को रेखांकित करता है । किस तरह स्त्रियाँ ज्यादातर मध्यवर्गीय समाज में शोषित होती हैं । इस उपन्यास की नायिका संजीवनी पुरुषवादी मानसिकता का शिकार होती है । 'बेघर' में लेखिका ने स्त्री के कुँआरेपन की समस्या का चित्रण किया है । इस उपन्यास में लेखिका यह दिखाना चाहती है कि पुरुष चाहे जितना संबंध बना ले लेकिन विवाह वह कुंवारी स्त्री के साथ करना चाहेगा । इस अमानवीय मानसिकता को लेखिका उजाकर करती है । नायक परमजीत के लिए प्रेम और घर एक सपना है । इस सपने वाले घर में संजीवनी अश्लील यौन आकांक्षाओं की तृप्ति करती एक इच्छा वस्तु मात्र है । रोहिणी अग्रवाल का कहना है ''बेघर में वह लिखती है विवाहपूर्ण प्रेम और शरीर संबंध यदि अनैतिक है तो यौन शुचिता गँवाने का अपराध कहर बन कर स्त्री पर क्यों टूटता है? पुरुष क्यों हर अवस्था में न्यायधीश बना रह कर स्त्री की नियति और आकांक्षाओं को नियंत्रित करे? ममता कालिया सिर्फ सवाल नहीं उठाती है, स्त्री (संजीवनी) को संबंध तोड़ कर बेघर किए जाने वाले पुरुष (परमजीत) को यौन शुचिता के मानदंड पर खड़ा उतरी फूहड़ पत्नी रमा के हाथों बेघर होती दिखाती है ।''[49] ममता कालिया पहली लेखिका हैं जो लिजलिजी भावुकता को छोड़ कर पुरुष से होड़ करती है । मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब' उपन्यास इस मायने में बेजोड़ है । ''यह पहली बार हीनता और अपराध बोध से मुक्त स्त्री की रचना करता है जो अपनी अन्तः शक्तियों को संजोकर ही अपने अधिकारों और समाज के निर्माण की लड़ाई लड़ती है । उनकी स्त्री कोख को अपनी कमजोरी नहीं ताकत मानती है और इस प्रकार परिवार संस्था के प्रति अपनी आस्था को निबद्ध करती है ।''[50] नासिरा शर्मा स्त्री लेखिकाओं में अपनी अलग पहचान बनाती हैं । उसका कारण यह है कि अपने

स्त्री पात्रों में समकालीन नायिकाओं का अक्स पिरोते हुए भी वे एक वस्तुगत दूरी के साथ उनके आचरण की निर्मम जांच करती हैं। पहले 'शाल्मली' (1987) और 'ठीकरे की मंगनी' (1989) में उन्होंने स्त्री को लेकर स्त्री और पुरुष की सोच में पाए जाने वाले बुनियादी अंतर को स्पष्ट किया है। 'शाल्मली' पचास के दशक के उत्तरार्ध में पैदा हुई उस पीढ़ी की कथा है जिसने अपने उदारमान पिता के प्रभावस्वरूप पुत्रवत, लालन-पालन और लैंगिक समानता की अवधारणा को संस्कार में पाया है। लेकिन जैसे-जैसे बड़ी होकर अपनी आंख और बुद्धि के साथ दुनिया को देखने और तौलने लगती है, पाती है पिता के उदार चेहरे के पीछे कही एक सामंत बैठा है जो उसके निर्देशों को अस्वीकार कर अपना रास्ता बनाती बेटी के प्रति संवेदनहीन हो उठता है।' इसी तरह 'ठीकरे की मंगनी' उपन्यास में लेखिका ने मुस्लिम समाज की स्त्री का चित्रण किया है। 'ठीकरे की मंगनी' उपन्यास की प्रमुख पात्रा महरुख है। महरुख की मँगनी बचपन में उसके घर वाले रफत नामक युवक से कर देते हैं। महरुख बड़ी होकर वही करती है जो उसका मंगेतर चाहता है। वह अपने मंगेतर पर आंख बंद कर भरोसा करती है। महरुख का भरोसा टूट जाता जब रफत उसके भरोसे को तोड़ता है। रफत अमेरिका में पी-एच डी. करने के दौरान वहां किसी अमेरिकन लड़की के साथ 'लिविंग टूगेदर' में रहता है। यह घटना महरुख के अंदर एक नई स्त्री को जन्म देता है। महरुख दिल्ली जैसे महानगर में उच्च शिक्षा ग्रहण करती है, जिसके कारण उसके अंदर एक अलग तरह का आत्मविश्वास आ जाता है कि वह अपने जीवन का निर्णय ले सकती है। शिक्षा के कारण जो चेतना विकसित होती है उसके फलस्वरुप उसे अपनी निजता की पहचान होती है। ऐसे भी कहा जाता है कि शिक्षा ही वह माध्यम है जिसको प्राप्त कर स्त्री अपना जीवन सुखमय बना सकती है। रफत जब अमेरिका से वापस आकर महरुख को निकाह के लिए कहता है तो महरुख साफ मना कर देती है। मुस्लिम समाज में स्त्री का इस तरह निर्णय लेना संभव नहीं है, वहां स्त्रियाँ ज्यादातर पर्दे में रहती हैं। लेकिन महरुख अपने जीवन का फैसला लेती है। महरुख अपनी एक अलग पहचान बनाती है और अलग रहने का निर्णय लेती है। सदियों से पिता, पुत्र और पति के अधीन जीवन जीने वाली स्त्री को 'अकेले' देखने की आदत भारतीय समाज को नहीं रहा है। आज भी एक 'अकेली' स्त्री का समाज में जीना आसान नहीं है। खूबसूरत और अकेली स्त्री को हर पुरुष अपनी संपत्ति समझता है।

विवाह संस्था एक ऐसी संस्था है जहाँ स्त्रियाँ ज्यादा शोषित होती हैं। विवाह संस्था में स्त्री को दो रूपों में देखा जाता है। पहला, पुरुष की निगाह में वह देह है और दूसरा, वह वंश पैदा करने की मशीन मानी जाती है। महरुख महत्वाकांक्षी रफत के साथ घिसटकर अपना जीवन जीने से मना कर देती है। वह कहती है ''शादी जरूरी है। मगर, इतनी भी जरूरी नहीं कि...रास्ते में (कोई) आ टकराए और उसी के साथ निकाह पढ़वा लिया जाए ... उसे शौहर के साथ एक साथी की भी

जरूरत होती है ।''[51] महरुख यह भी कहती है ''बिना रूह का जिस्म मुर्दा होता है और बिना अहसास का रिश्ता ठंडा समझौता। वह सब कुछ होगा मगर, जान नहीं होगी, जिन्दगी नहीं होगी। ऐसे मुर्दा के साथ आप भी जिन्दगी गुजारना नहीं चाहेंगे और मैं तो... ।''[52] आज स्त्री मां बाप के लिए बोझ नहीं रह गई। अब स्त्री अपने पैरों पर खड़ा होना सीख गई है। समाज और परिवार में पुरुषों का वर्चस्व है। इसे एक स्त्री को चुनौती देना असान नहीं होता है लेकिन महरुख दोनों को ठुकराती है और अपना एक नया जीवन शुरु करती है। वह एक सामाजिक कार्यकर्ता बनती है। जहाँ वह दलितों और जरूरतमंद लोगों के लिए काम करती है। 'ठीकरे की मंगनी' उपन्यास के जरिए नासिरा शर्मा ऐसी संघर्षशील स्त्री की छवि को आधुनिक स्त्री का पर्याय बना देना चाहती है जो प्रेम और संबंधों में मात खाकर टूटती नहीं, बल्कि अपनी शिक्षा, स्वाभिमान और संकल्प दृढ़ता के बल पर अपना मुकाम बनाते हुए हशिए के अन्य तबकों को भी साथ लिए चलती है। 'ठीकरे की मंगनी' की पात्र महरुख उपन्यास के जीवंत पात्रों में से एक है जो अपना रास्ता खुद बनाती है वह टूटती नहीं है। अरविन्द जैन कहते हैं कि ''जैसे-जैसे स्त्री शिक्षा को बढ़ावा मिला, नौकरी और व्यवसाय के कारण आत्मनिर्भरता बढ़ी है, वैसे-वैसे सुशिक्षित और आत्मनिर्भर महिलाओं में अविवाहिताओं की संख्या भी लगातार बढ़ती गई है। आर्थिक पारिवारिक और अन्य कारणों के अलावा स्वेच्छा से अविवाहित रहने की प्रवृति भी बढ़ी है। ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा शहरी क्षेत्र में स्त्रियाँ अधिक अविवाहित पाई जाती हैं, जिसका मूल कारण सामाजिक चेतना और पारिवारिक दबाव ही है। अविवाहित औरतों के साथ-साथ तलाकशुदा कामकाजी औरतों की संख्या भी निरंतर बढ़ती जा रही है। कहा जा सकता है कि तलाक के बढ़ते मामले अप्रत्यक्ष रूप से कामकाजी प्रबुद्ध स्त्रियों को अविवाहित रहने का निर्णय लेने में उत्प्रेरक की भूमिका निभाते हैं।''[53] उषा प्रियंवदा के यहां स्त्री की छवि एक बोलने वाली स्त्री की छवि है। जहाँ सदियों से स्त्री चुप करा दी जाती है, वहीं उषा प्रियंवदा के यहां स्त्री बोलने का साहस करती है। 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' एक शिक्षित और आत्मनिर्भर स्त्री की कहानी है जो पारिवारिक जिम्मेदारियों और आर्थिक कारणों से विवाह नहीं करती और अंत में अविवाहित रहने का निर्णय लेती है लेकिन अपनी इच्छाओं को पूरा करती है। इस उपन्यास की नायिका सारी सीमाओं को तोड़ कर व्यक्तिगत स्तर पर चोरी छिपे प्रेम करती है तथा शारीरिक संबंध भी बनाती है। पुरुषवादी व्यवस्था में एक स्त्री के लिए विवाह से पहले किसी पुरुष से संबंध बनाना पाप माना जाता है लेकिन सुषमा एक पढ़ी-लिखी स्त्री है। वह पाप-पुण्य की परिभाषा समझती है। दरअसल यह उपन्यास विवाह संस्था पर प्रश्न चिह्न खड़ा करता है।

स्वतंत्रता के बाद सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां बदली हैं। स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आया। बदलते परिदृश्य को महिला लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है।

घर और बाहर यहां तक की साहित्य जगत में भी स्त्री को चुप कराने की परंपरा रही है। वहीं उषा प्रियंवदा की स्त्री नायिका अपनी बात कहती है और सुनती है। आजादी के बाद सुषमा जैसी स्त्री पात्र गढ़ी जाने लगी। सुषमा अपने से पांच साल छोटे लड़के से प्रेम करती है और आपसी मर्जी से दोनों का शारीरिक संबंध भी होता है। सुषमा शादी से मना करती है क्योंकि सुषमा शिक्षित और आत्मनिर्भर तो हो जाती है लेकिन परंपरावादी मानसिकता से मुक्त नहीं हो पाती है। सुषमा का नील से बार-बार यह कहना कि नील अब तुम मुझसे मत मिला करो। यह सचमुच उस सामाजिक व्यवस्था का दबाव दिखाता है जहाँ समाज में उसे यह सिखाया जाता है कि कुछ ऐसा मत करना जिससे हम किसी को मुंह दिखाने लायक न रहें। इस तरह की समस्या स्त्रियाँ सदियों से झेलती रही हैं। पुरुषवादी व्यवस्था उसे स्वतंत्र होकर जीवन जीने की इजाजत नहीं देता है क्योंकि स्त्रियाँ घर की इज्जत मानी जाती हैं। सुषमा पारिवारिक जिम्मेदारियों के कारण विवाह नहीं करती और घर की जिम्मेदारी कौन उठाएगा इस डर से उसके माता-पिता भी नहीं कहते कि शादी कर लो।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास में स्त्री- जीवन का चित्रण का स्वरूप प्रारंभिक युग से लेकर स्वातंत्र्योत्तर युग तक बदलता हुआ दिखता है। स्त्री के जीवन की जो स्थिति प्रारंभिक युग में थी। वह बहुत हद तक प्रेमचंद युग तक आते-आते सामाजिक परिवेश और लोगों की धारणा के कारण बदलती दिखती है लेकिन फिर भी स्त्री का शोषण कम नहीं हो रहा। प्रारंभिक युग में एक आदर्श स्त्री की छवि गढ़ी गई तथा उस समय स्त्री शिक्षा पर ज्यादा जोर दिया गया। इस युग के उपन्यासों में सामाजिक कुरीतियों के प्रति नयी चेतना तो दिखाई देती है लेकिन उसके विरुद्ध कोई सामाजिक संघर्ष नहीं दिखाई देता है बल्कि समस्या का चित्रण मात्र किया गया है। वहीं पर प्रेमचंद युग में प्रेमचंद के आगमन के साथ उपन्यास का और विकास हुआ। इस युग में स्त्री-जीवन से संबंधित मूल समस्या पर उपन्यासकारों ने ध्यान दिय। इस युग के उपन्यासों में स्त्रियाँ ज्यादा संघर्षशील तथा कर्मठ दिखती हैं। वह अत्याचार के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद करती हुई दिखती है। इससे ज्यादा बदलाव प्रेमचंदोत्तर युग से लेकर स्वातंत्र्योत्तर युग में ज्यादा दिखता है। प्रेमचंद युग में स्त्री मन की गुथ्थियों को सुलझाया गया है। उसी तरह स्वातंत्र्योत्तर युग में सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां बदलीं। इस युग में स्त्री लेखिका स्त्री-जीवन पर लिखने लगीं। ये स्त्री-लेखिका स्त्री-जीवन के नग्न यथार्थ को चित्रित करने लगीं।

संदर्भ ग्रंथ

[1] डॉ. अमरनाथ शर्मा, उद्धृत, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृष्ठ संख्या -91
[2] रैल्फ फॉक्स, उपन्यास और लोक जीवन, पृष्ठ संख्या -4
[3] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ संख्या -227
[4] डॉ. अमरनाथ, उद्धृत, हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृष्ठ संख्या -91
[5] उद्धृत, वही, पृष्ठ संखअया -91
[6] रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यासः एक अन्तर्यात्रा, पृष्ठ संख्या -11
[7] मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ संख्या-284
[8] आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या -455
[9] डॉ. नंदन द्विवेदी, आंदोलन का समाजशास्त्र, पृष्ठ संख्या -81
[10] देवरानी जेठानी की कहानी प्रथम, संस्करण की भूमिका
[11] श्रद्धाराम फुल्लौरी , भाग्यवती, प्रथम संस्करण की भूमिका
[12] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ संख्या -23
[13] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ संख्या -25
[14] सीमोन द बोउर, स्त्री उपेक्षिता, पृष्ठ संख्या -121
[15] वामा शिक्षिक, पृष्ठ संख्या -15
[16] वही, पृष्ठ संख्या -15
[17] वामा शिक्षिक मूल, पृष्ठ संख्या -8
[18] वामा शिक्षक, पृष्ठ संख्या -16
[19] वैभव सिंह, भारतीय उपन्यास और आधुनिकता, पृष्ठ संख्या -62
[20] रामदरश मिश्र, आधुनिकहिन्दी उपन्यासः एक सर्वेक्षण, पृष्ठ संख्या -13
[21] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ संख्या -135
[22] वही, पृष्ठ संख्या -136
[23] वही, पृष्ठ संख्या -136
[24] रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, पृष्ठ संख्या -31
[25] वही, पृष्ठ संख्या -35
[26] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ संख्या- 129
[27] गोदान पृष्ठ संख्या -44
[28] वही, पृष्ठ संख्या -131
[29] संपादक अखिलेश लखनउ, तद्भव-23 जनवरी 2011, पृष्ठ संख्या -210
[30] गोदान पृष्ठ संख्या -5
[31] वही पृष्ठ संख्या -7
[32] वही, पृष्ठ संख्या- 108
[33] गोदान पृष्ठ संख्या -247
[34] वही, पृष्ठ संख्या -131
[35] विरेन्द्र यादव, उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता, पृष्ठ संख्या -46
[36] ज्ञानोदय, 12 जुलाई 2008 , पृष्ठ संख्या -67
[37] ज्ञानोदय 12 जुलाई 2008, पृष्ठ संख्या -67
[38] शंभुनाथ, हिन्दी उपन्यासःराष्ट्र और हाशिया, पृष्ठ संख्या -94
[39] वही, 94-95
[40] अज्ञेय, शेखरः एक जीवनी, पृष्ठ संख्या -175

[41] वही, पृष्ठ संख्या -175

[42] वही, पृष्ठ संख्या -69

[43]डॉ ज्वाला प्रसाद खेतान, अज्ञेय चेतना के सीमान्त, पृष्ठ संख्या -366

[44] आज्ञेय, शेखरः एक जीवनी, पृष्ठ संख्या-155

[45] गोपाल राय, हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ संख्या -184

[46] हजारी प्रसाद द्विवेदी, वाणभट्ट की आत्मकथा, पृष्ठ संख्या -90

[47] मोहन राकेश, न आने वाला कल, पृष्ठ संख्या -141

[48] HND P11 M11 Swatantrottar stree lekhan pramukh sarokar upanyas 1

[49] HND P11 M11 Swatantrottar stree lekhan pramukh sarokar upanyas 1

[50] वही,

[51]नासिरा शर्मा, ठिगरे की मंगनी, पृष्ठ संख्या -136-137

[52] वही, पृष्ठ संख्या -131

[53] अरविन्द जैन, औरतःअस्तित्व और अस्मिता, पृष्ठ संख्या -47

अध्याय-2

समकालीन परिदृश्य और स्त्री-जीवन के बदलते सरोकार

2.1. समकालीनता का अर्थ और आशय

2.2. समकालीन परिदृश्य और स्त्री-जीवन

2.2.1. बदलते आर्थिक संबंध और स्त्री

2.2.2. बाजार, मीडिया और स्त्री सरोकार

2.2.3. समाज, परिवार, धर्म, राजनीति और स्त्री

2.3. पितृसत्ता के बदलते रूप और स्त्री प्रतिरोध

2.1.समकालीनता का अर्थ और आशय

'समकालीन' शब्द 'सम' और 'कालीन' दो शब्द से मिलकर निर्मित हुआ है। 'सम' का अर्थ है समान और 'कालीन' का मतलब किसी काल-विशेष से। अतः 'समकालीन' के अर्थ को समझने के लिए 'समसमायिक' शब्दों का भी इस्तेमाल किया जा सकता है । अंग्रेजी में 'समकालीन' शब्द के लिए 'contemporary' शब्द का प्रयोग होता है एक तरह से यह समसामयिकता का ही द्योतक है । 'समकालीनता' और समसामयिकता अंग्रेजी के 'कन्टम्प्रोरेनिटी' (contemporaneity) अथवा ' ईवाल' (coeval) का समानवाची है जिसका मतलब है एक कालखण्ड में घटनेवाली घटना या प्रवृत्ति या उसी काल खण्ड में जीने वाला व्यक्ति। इसी के पक्ष में डॉ. विशम्भरनाथ उपाध्याय का विचार है ''समकाल शब्द यह बताता है कि काल के इस प्रचलित खंड या प्रवाह में मनुष्य की स्थिति क्या है, इसे उलटकर कहें तो कह सकते हैं कि मनुष्य की वास्तविक स्थिति को देखकर उसे अंकित चित्रित करके ही हम समकालीनता की अवधारणा को समझ सकते हैं ।''[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि विशम्भरनाथ उपाध्याय 'समकालीनता' को काल से जोड़ कर देखते हैं तथा वास्तविक स्थिति पर जोर देते हैं जबकि इस पर असहमति जताते हुए डॉ नरेन्द्र मोहन लिखते हैं ''समकालीनता का अर्थ किसी काल खंड या दौर में व्याप्त स्थितियों और समस्याओं का चित्रण भर नहीं है, बल्कि उन्हें ऐतिहासिक अर्थ में समझना, उनके मूल स्त्रोत तक पहुँचना है और निर्णय ले सकने का विवेक अर्जित करना है समकालीनता तात्कालिकता नहीं है ।''[2] समकालीनता पर गंगा प्रसाद विमल का कहना है ''समकालीन का अर्थ यह नहीं है कि दो व्यक्ति एक विशेष काल खंड में जी रहे हों और संयोग से वे रचनाशील भी हैं। जिस समकालीनता की बात की जा रही है उसका शब्दार्थ की धारणा से संबंध नहीं है, अपितु वह जीवनबोध के आधार पर समानधर्मी रचनाकारों के बोध की समानधर्मिता है।''[3] अतः गंगा प्रसाद विमल समकालीनता को प्रवृत्तिगत मानते दिखाई पड़ते हैं। अवधारणा के स्तर पर समकालीन शब्द कितना व्यापक है यह देखने की जरूरत है। रघुवीर सहाय समकालीनता की बहुत ही व्यापक अर्थ में व्याख्या करते हैं। उनका कहना है "मेरी दृष्टि में समकालीनता मानव-भविष्य के प्रति पक्षधरता का दूसरा नाम है।"[4] विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के अनुसार "समकालीनता एक काल में साथ-साथ जीना ही नहीं है। समकालीनता अपने काल की समस्याओं और चुनौतियों का 'मुकाबला' करना है। समस्याओं और चुनौतियों में भी केंद्रीय महत्व रखने वाली समस्याओं की समझ से समकालीनता उत्पन्न होती है।"[5] साहित्य की दुनिया में 'समकालीनता' को सही ढंग से पारिभाषित करने में भी विद्वानों में मतभेद है। उपन्यासकार, कहानीकार, कवि और आलोचकों ने इसकी मनचाही व्याख्याएँ प्रस्तुत किये हैं। इस संदर्भ में वरिष्ठ कवि राजेश जोशी का यह कथन

महत्वपूर्ण है "समकालीनता' एक ऐसा पद बनाया गया है जिसे अपनी सुविधा के लिए चाहे तो रबर की तरह तान लो या नसवार की डिबिया की तरह बहुत छोटा कर लो।"[6]

'समकालीनता' का अर्थ है जो अपने काल के अनुकूल हो। इस अर्थ की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कबीर, तुलसी, निराला एवं प्रेमचंद हमारे समकालीन हैं। समकालीनता किसी समय विशेष में साथ-साथ जीने या मरने का नाम नहीं है बल्कि जो अपने समय की समस्याओं एवं चुनौतियों के साथ संघर्ष करे। यह एक ऐसी दृष्टि है जिसमें मूल एवं विचार सब होता है। जिनके आधार पर रचनाकार प्रगतिशील तत्वों की जांच करता है। रचनाकार अपने विवेक, प्रतिभा एवं संवेदनशीलता की कसौटी पर अपने समय का विश्लेषण करता है। 'समकालीनता' एक ऐसी चेतना है जो रचनाकार को अपने समय के यथार्थ से कटने नहीं देती। रचनाकार अपने जीवन के संघर्षों से पलायन नहीं करता बल्कि वह अपने समय से जूझता और संघर्ष करता है। इस तरह से देखा जाए तो प्रत्येक रचनाकार को अपने समय के साथ मुठभेड़ करना पड़ता है, तथा जो रचनाकार है उसे अपनी 'समकालीनता' स्वयं अर्जित करनी पड़ती है। 'समकालीनता' का प्रश्न केवल रचना की अंतर्वस्तु से जुड़ा नहीं होता है। यह शिल्प और भाषा के भी प्रश्न से जुड़ा है। कुछ विद्वानों का कहना है ''शिल्प और भाषा के पुरानेपन के साथ एक नयी अंतर्वस्तु लेकर की गयी रचना समकालीन नहीं बन सकती। 'समकालीनता' एक निजी मुहावरा नहीं है, जिसे एक बार साधकर हमेशा के लिए काम चलाया जा सके। समकालीनता को अर्जित करना पड़ता है और करते रहना यह एक सतत प्रक्रिया है। अगर यह किसी रचनाकार में रुक जाती है या रचनाकार ही उसके प्रति उदासीन हो जाता है, तो बहुत संभव है कि अपने समय में सबसे अधिक समकालीन रहा रचनाकार रचनारत रहते हुए भी देखते-ही-देखते अपनी आगे की पीढ़ी के रचनाकारों के लिए और रचना परिदृश्य के लिए समकालीन न रह जाए।''[7] दरअसल समकालीनता अपने समय के सरोकारों से न्याय करने का नाम है। अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों का सामना करते हुए जो रचनाकार समाज को आइना दिखाता है, वह अपने समय से अधिक समकालीन होता है। समकालीनता शाश्वत या कालातीत को विशेष महत्व नहीं देती बल्कि उन समस्याओं से मुठभेड़ करती है जिसके साथ इसे रोज़ जूझना है। आज समकालीन शब्द, कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना तथा साहित्य की अन्य विधाओं में भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुकी है। हिन्दी का समकालीन साहित्य अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों के साथ संघर्ष करने वाला साहित्य है। यह साहित्य अपने समय के यथार्थ को अभिव्यक्त करता है साथ ही साथ मानव विरोधी तत्व के खिलाफ प्रतिरोध जाहिर करता है। इस तरह से समकालीनता के निर्माण में समकालीन परिवेश की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

बीसवीं शताब्दी से लेकर आज तक समकालीन हिंदी उपन्यासों में कई उतार-चढ़ाव आये हैं। मोटे तौर पर सन 1962 में भारत-चीन युद्ध, 1964 में कम्यूनिस्ट पार्टी का विभाजन, 1967 में नक्सलबाड़ी आन्दोलन, 1975 में आपातकाल, 1982 में जनवादी लेखक संघ की स्थापना, 1986 में मेरठ दंगे, 1990-91 में सोवियत संघ का पतन, 1992 में बाबरी मस्जिद का विध्वंस, 2002 में गुजरात दंगे आदि ऐसी प्रमुख घटनाएँ थीं जिन्होंने समकालीन उपन्यासकार की चेतना को झकझोर कर रख दिया। समकालीन उपन्यास सचमुच अपने समय के सच को बहुत ही यथार्थपूर्ण तरीके से अभिव्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो समकालीन उपन्यास अपने समय के सच को बहुत ही बेहतरीन ढंग से पकड़ रहा है। प्रेमचंद के समय के साहित्य में अपने समय की समस्याओं का यथार्थ चित्रण होता था और आज भी समकालीन समय में हो रहा है। लेकिन समकालीन संदर्भ में समस्याएँ बहुआयामी हैं। प्रेमचंद के समय में पूंजीपति, मजदूर और किसानों के संघर्षों को केन्द्र में रखकर लेखन किया जाता था। ये संघर्ष आज भी महत्वपूर्ण हैं। लेकिन समकालीन उपन्यासों का कलेवर वर्तमान समय में बहुआयामी यथार्थ को अनावृत कर रहा है। समकालीन उपन्यासों में दलित, आदिवासी, स्त्री विमर्श आदि कई मुद्दों को यथार्थपूर्ण तरीके से चित्रित किया जा रहा है। 1990 के बाद उपन्यास का कलेवर बदला। उपन्यास ही एक ऐसी विधा है जो मानव जीवन की समस्याओं को बहुआयामी तरीके से अभिव्यक्त करता है। 1990 के दशक में कई घटनाएं घटित हुई। नव औपनिवेशिक स्थितियां, विस्थापन की समस्या, स्त्री, दलित आदि विमर्श अपने अस्मिता के लिए खड़ा हुआ। समकालीन उपन्यास अपने समय के समस्याओं और चुनौतियों के साथ संघर्ष करते हुए अपने सामाजिक सरोकारों का यथार्थ चित्रण करता है। समकालीन उपन्यास अपने समय के सच का अनावरण करता है तथा मानव विरोधी तत्वों के खिलाफ विरोध जाहिर करता है।

2.2.समकालीन परिदृश्य और स्त्री-जीवन

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। सामाजिक घटनाएँ साहित्यिक अभिव्यक्ति में प्रतिलक्षित होती हैं। या यूँ कहें कि साहित्य सामाजिक घटनाओं की अभिव्यक्ति करता है। साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है कि वह अपने समकालीन समाज की सामाजिक. सांस्कृतिक, राजनीतिक गतिविधियों को प्रतिबिंबित करता है। वह अपने वर्तमान समय की समस्याओं, बदलाव एवं सामाजिक उथल-पुथल को रेखांकित करता है। समकालीन साहित्य स्त्री-जीवन के बदलते सरोकार को अच्छी तरह से अभिव्यक्त करता नजर आ रहा है। आज का समय विमर्श का समय है। वर्तमान समय में जो भी साहित्य लिखा जा रहा है उसमें स्त्री विमर्श के स्वर मौजूद हैं। यह साहित्य चाहे स्त्री रचनकारों द्वारा लिखा जा रहा हो या पुरुष रचनकारों द्वारा।

स्त्री समाज की आधी आबादी होती है। स्त्री का शोषण आज से नहीं बल्कि सदियों से होता आ रहा है। भारत के समकालीन परिदृश्य को देखें तो दिल दहला देने वाली घटनाएं हमारे समाज में आज भी घटित हो रही हैं। भारत का कोई भी ऐसा राज्य नहीं है जहाँ स्त्री-शोषण की घटनाएं आए दिन न घटती हों। दरअसल, पूरे सामाजिक परिदृश्य में स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक माना जाता है। उन्हें घर में माता और लक्ष्मी कहा जाता है लेकिन बाहर उनके साथ बलात्कार किया जाता है। बाहर ही नहीं बल्कि घर के अंदर भी स्त्री को बलात्कार जैसी जघन्य पीड़ा को सहन करना पड़ता है। पितृसत्तात्मक समाज ऐसी बिडम्बना की रचना करता है, जो कहता कुछ है और करता कुछ और है। स्त्री की समस्या भारतीय समाज तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसे वैश्विक परिदृश्य पर भी देख सकते है। धर्म, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, विधि-विधानों तथा सामाजिक परंपराओं में स्त्रियों को जबरन बांधा जाता रहा है। वह समाज में दोयम दर्जे की नागरिक रही है। या यूं कहें कि स्त्री हमेशा से पुरुषों के अधीन रही है। इसके पीछे एक बहुत बड़ा कारण सामाजिक संरचना का नियंत्रण है। सामाजिक संरचना स्त्री को नियंत्रित करती है। इस संदर्भ में सिमोन का यह कथन ज्यादा यथार्थपूर्ण है ''स्त्री पैदा नहीं होती, उसे बनाया जाता है।''[8] उसे बचपन से ही सिखाया जाता है कि लड़कों की तरह क्यों हंसती हो, थोड़ा धीरे चलो, जोर से मत बोलो आदि। स्त्री चाहे किसी भी वर्ग की हो वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था की मार सहती ही है। आज स्त्री शिक्षित हुई है, वह पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही है। समकालीन समय में स्त्री डॉक्टर, वकील, शिक्षक, सैनिक, इंजीनियर आदि बन रही है। कार्यालय में काम करने के साथ ही साथ स्त्री घर में भी अपनी जिम्मेदारी अच्छी तरीके से निभा रही है। कौन सा पद ऐसा है जिस पर आज स्त्री नहीं है? वह बड़े-बड़े कार्यालयों से लेकर राष्ट्रपति के पद पर आसीन है। वह देश चलाने के काम से लेकर वैज्ञानिक कार्यों में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रही है। फिर भी स्त्री का शोषण कम नहीं हो रहा। आज भी देश के हर एक गांव और शहर में कोई न कोई स्त्री बलात्कार की पीड़ा को सह रही है तथा पुरुषवादी मानसिकता की शिकार हो रही है। उसे सिर्फ एक देह माना जाता है। इसके सिवा कुछ नहीं। स्त्री को सदियों से भोग की वस्तु के रूप में देखा जाता रहा है। प्रभा खेतान लिखती हैं ''स्त्री महज एक देह है। लेकिन स्त्री केवल देह तो होती नहीं और न ही स्त्री की यौनिकता को हम देह और उसके उपभोग तक सीमित कर सकते है।''[9] स्त्रियाँ सदियों से अपने अधिकारों से वंचित रही हैं, जिन्हें एक इंसान न मानकर, सिर्फ एक देह माना गया है। देह के अलावा उन्हें कुछ समझा ही नहीं गया। उनके अस्तित्व को मां, बहन, बेटी, पत्नी जैसे संबोधनों के अलावा कुछ माना ही नहीं जाता। सिमोन द बोउवार ने 'द सेकेण्ड सेक्स' में इस पितृसत्तात्मक समाज की पोल खोली है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियों को भोग की दृष्टि के अलावा और किसी दृष्टि से देखा ही नहीं गया है और अगर मान लिया जाए कि देखा गया है, तो गुलाम के अलावा उन्हें कुछ समझा ही नहीं गया।

आज का युग सूचना क्रांति का युग है। जहाँ हर चीज एक 'क्लिक' पर आधारित है। आज स्त्री अपने अधिकारों के प्रति जागरुक हुई है। वह घर और घर से बाहर अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है। उसमें चेतना निर्मित हुई है। लेकिन प्रश्न है कि क्या आज भी स्त्री अपना निर्णय लेने में सक्षम है? क्या आज भी अपने घर में वह पुरुषों द्वारा संचालित नहीं होती? इसके पीछे कौन-सी मानसिकता काम कर रही है? इसे हमें देखने की जरूरत है। जब हम स्त्री मुक्ति की बात करते हैं तो प्रश्न उठता है कि मुक्ति किससे और कैसे ? सभ्यता एवं संस्कृति के विकास में स्त्रियों की भागीदारी हमेशा से महत्वपूर्ण रही है। फिर भी इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियाँ दोयम दर्जे का जीवन जीने के लिए बाध्य है। परिवार में महत्वपूर्ण जिम्मेदारी निभाने के बावजूद भी उसकी भूमिका महत्वपूर्ण नहीं होती। वह सास, ससुर, ननद आदि के द्वारा दहेज के सिलसिले में आज भी जलाई जा रही है।

आज का युग भूमंडलीकरण का युग है। इस युग में भौगोलिक दूरियां सिमट कर एक छोटे 'क्लिक' में बदल गयी हैं। एक तरफ स्त्रियों को देश-विदेश में पढ़ने-लिखने और नौकरी करने की आजादी मिली है तो दूसरी ओर स्त्रियों के शोषण की मात्रा में भी बढ़ोतरी हुई हैं। आज स्त्रियाँ जहाँ डांक्टर, वकील, शिक्षिका आदि बनकर संस्थानों में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रही है, तो वहीं अपने-अपने क्षेत्र में उनका दैहिक तथा मानसिक शोषण भी कई स्तरों पर बढ़ा है। इस वैश्वीकृत समाज में मनुष्य की समानता की बात चाहे जितनी भी की जाती है लेकिन पुरुष की निगाह में स्त्री एक 'देह' के सिवा कुछ भी नहीं है। रमणिका गुप्ता लिखती हैं ''इन 50 वर्षों में भारत में स्त्रियाँ बड़े-बड़े ओहदों पर पहुँच गई हैं। नेता, मंत्री, पायलट, मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री, न्यायाधीश, ट्रक ड्राइवर, अंतरिक्ष यात्री आदि, लेकिन देश की लगभग 95 प्रतिशत स्त्रियाँ अभी भी अपने जड़ तथा रूढ़ दायरे तोड़कर बाहर नहीं आ पाई हैं।''[10] समाज में आज भी 95 प्रतिशत स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था की मार झेलती हैं। स्त्रियाँ शिक्षित हुई हैं, शिक्षित होने के कारण आज वह आर्थिक रूप से संबल हुई हैं लेकिन सवाल यह है कि कितने प्रतिशत स्त्री शिक्षित होकर अपने अधिकार के प्रति जागृत हुई हैं ? ये किस वर्ग की स्त्रियाँ हैं? क्या सभी वर्ग की स्त्रियाँ चेतनशील हुई हैं तथा पुरुष व्यवस्था के खिलाफ खड़ी हो रही हैं ? पुरुषवादी व्यवस्था में स्त्री सिर्फ एक वस्तु है। तसलीमा नसरीन का कहना है ''इस इक्कीसवीं सदी में ऐसे अनेक देश हैं, जहाँ नारी को वोट देने का अधिकार नहीं है। नारी आज भी राजनीति, शिक्षा, स्वास्थ्य सभी क्षेत्रों में विषमता की शिकार है। अपने प्राप्य अधिकारों से, पूर्णतया वंचित है।''[11] यहां तसलीमा नसरीन की यह बात विचारणीय है क्योंकि आज भी कई ऐसे गांव, शहर हैं जहाँ स्त्रियाँ अनेक चीजों से वंचित हैं। यह तो एक पक्ष है, इसका दूसरा पक्ष भी है। आज भूमंडलीकरण के दौर में स्त्री घर से बाहर निकली और आर्थिक रूप से स्वावलम्बी हुई, कई ऐसे क्षेत्र थे जहाँ स्त्रियों का जाना वर्जित था, वहां वे आज अपनी भूमिका निभा रही हैं। शिक्षा एवं रोजगार ने उसके जीने का नजरिया बदला। रेखा कस्तवार

लिखती हैं ''साहित्य जगत में विगत दस वर्षों में स्त्री का समाज के केन्द्र में आना और उससे आगे बढ़कर विचार के केन्द्र में आना हमारे आर्थिक सामाजिक विकास का परिणाम है। इन दस वर्षों में स्त्री मुक्ति के सभी प्रश्न उठे, आयोग बने, कानून बदले, नए कानून बने। जनसंचार, पत्रकारिता, शिक्षा, तकनीकी क्षेत्र, व्यापार के क्षेत्र में पढ़ी-लिखी महिलाओं ने एक महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज की।''[12] लेकिन आज भी स्त्री पुरुषवादी व्यवस्था की गुलाम है। भूमंडलीकरण ने जहाँ एक स्त्री को 'पावर वूमेन' बनाया है वही उसके शोषण के रास्ते भी कम नहीं खोले हैं। अभय कुमार दूबे का कहना है ''भूमंडलीकरण ने औरतों को अतीत की किसी भी कालावधि के मुकाबले अधिक निर्ममता और संपूर्णता से एक बिकाऊ जिंस में बदल दिया है। यहां औरत का बिकाऊ माल में बदलना केवल सौंदर्य उद्योग के संदर्भ में या आमतौर पर बाजार की आलोचना के एक पुराने मुहावरे के तौर पर नहीं बताया जा रहा है। दास-प्रथा के दिनों से भी ज्यादा और सामंतवादी युग की व्यापकता को भी पीछे छोड़ते हुए भूमंडलीकरण के पिछले दस वर्षों यानि नब्बे के दशक में दुनिया के पैमाने पर औरतों को निर्यात के जरिये अरबों-खरबों डालर की रकम कमायी गयी है।''[13] भूमंडलीकरण के दौर में जहाँ स्त्री आर्थिक रूप से स्वावलम्बी हुई, इस आर्थिक आत्मनिर्भरता के कारण भी उसका यौन-शोषण कम नहीं हुआ बल्कि और बढ़ा है।

बाजार में वही चीजें ज्यादा बिकती हैं जो स्त्रियों के शरीर के नुमाइश से विज्ञापित होती हैं। साथ ही साथ कोई भी स्त्री अपने शरीर से परे कुछ सोच ही न पाए, बाजार इसका पूरा प्रबंध करता है। स्त्री शरीर की त्वचा से लेकर आंख, कान, नाक, दांत और चेहरे की सुंदरता तक के क्रीम, पॉवडर और अन्य प्रसाधन की सामग्री मुहैया करा कर बाजार उसे ठग रहा है। इसी का परिणाम है कि अधिकांश स्त्रियाँ अपने शरीर की सुंदरता के अलावा कुछ और नहीं सोच पाती। बाजार के द्वारा स्त्रियाँ गढ़ी जा रही हैं। राजेन्द्र यादव का कहना है कि ''बाजार की निगाह में मर्द क्रेता है और औरत को परोस कर उसे पटाया जा सकता है।''[14] स्त्री को वस्तु आज से नहीं सदियों से माना जाता रहा है। पुरुष सदियों से स्त्री का खरीददार रहा है।

2.2.1. बदलते आर्थिक संबंध और स्त्री

सेकेंड सेक्स के हवाले से प्रभा खेतान लिखती हैं कि ''औरत की पहली लड़ाई अर्थ की दुनिया से शुरू होती है।...पैसा कमाने से स्त्री निर्णय लेना सीखती है और निर्णय की क्षमता उसके संघर्ष को मजबूत करती है। आज भी अधिकतर व्यापारिक प्रतिष्ठानों में नीचे के सारे काम लड़कियाँ करती हैं। मगर बॉस पुरुष ही रहता है। किसे दोष दिया जाए? ऐसा क्यों ?औरत के काम के घंटे पुरुष की तुलना में ज्यादा हैं। दुनिया में दो-तिहाई काम औरत करती है लेकिन दुनिया की सबसे गरीब कौम औरत ही है।''[15] आज बदलते आर्थिक संबंध में स्त्रियाँ अपनी महत्वपूर्ण

भूमिका निभा रही है। 'छिन्नमस्ता' उपन्यास की प्रिया, 'आवां' की नमिता, 'मुझे चांद चाहिए' की वर्षा वशिष्ट, 'सेज पर संस्कृत' की संघमित्रा, 'मुन्नी मोबाइल' की मुन्नी, 'अर्द्धनारीश्वर' की सुमिता, 'रेहन पर रग्घू' की सोनल, सरला आदि स्त्रियाँ किसी न किसी रूप में आर्थिक रूप से मजबूत होती हैं। अर्थ के क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। समकालीन समय में जो भी उपन्यास लिखा जा रहा है उसमें स्त्री की छवि पहले की तुलना में अलग दिखाई जा रही है। वर्तमान में बदलते परिदृश्य की अभिव्यक्ति स्त्री और पुरुष उपन्यासकारों के यहाँ स्त्री-जीवन से संबंधित दिखता है। 20वीं शताब्दी में समकालीन समय में स्त्री पुरुषों के साथ कंधा से कंधा मिलाकर काम कर रही है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया अपने बिजनेस के कारण देश से विदेश तक में अपनी पहचान बनाती है।

आज स्त्रियाँ ज्यादा मात्रा में शिक्षित होने लगी। जब स्त्री शिक्षित होगी तो वह आर्थिक रूप में आत्मनिर्भर भी होगी। 1970-80 के दशक में लड़के इंजीनियरिंग, गणित आदि की पढ़ाई किया करते थे। लड़के इंजीनियर, डॉक्टर, पायलट बनते थे वहीं लड़कियों को होम साइंस पढ़ाया जाता था ताकि वह घर-गृहस्थी को ठीक से संभाल सके। लेकिन धीरे-धीरे इसका स्वरूप बदला, आज स्त्री पढ़-लिख कर कई बड़ी ऊचाइयों को छू रही है। बीसवी सदी के अंतिम दशक में यह सवाल उठा कि स्त्रियों की शिक्षा का क्या अर्थ? आखिर बड़ी होकर शादी के बाद घर ही तो संभालना है। बच्चों की देखभाल करनी हैं। पति की सेवा करनी है। लड़की ज्यादा पढ़-लिख कर क्या करेगी? ज्यादा पढ़ेगी तो दहेज भी ज्यादा देना होगा। भारतीय समाज में पहले लोगों की इस तरह की मानसिकता थी। एक समय था जब स्त्रियों को एक शिक्षिका के रूप में ही देखा जाता था। वह एक अच्छी शिक्षिका बन जाए यही भारतीय समाज की मानसिकता थी। दरअसल समाज में तो पुरुषों की सत्ता थी। पुरुष तो कभी चाहते ही नहीं थे कि स्त्री घर-परिवार से आजाद हो क्योंकि स्त्रियों को बांधकर रखने का सबसे सही तरीका था उसे शिक्षा से वंचित रखना। ताकि स्त्री अपने गुलामी को समझ न पाए। बालजाक का यह कथन चरितार्थ लगता है कि ''उसे बना कर रखो नौकरानी लेकिन समझाओ कि वह महारानी है।''[16] आज 21वी सदी में स्त्री अपने अधिकारों के प्रति चेतनशील हुई है, वह आज पुरुषों की मानसिकता को सही ढंग से समझने लगी है। आज स्त्री पढ़-लिख कर इतनी जागरूक हो गई कि वह अपने शोषण के तरीके को समझ रही है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था की मानसिकता को तोड़ रही है। वह भी आज उच्च शिक्षा ग्रहण करने में पीछे नहीं रह रही बल्कि इस पितृसत्तात्मक समाज में अपनी एक पहचान बना रही है तथा चुनौतियों भरा जीवन जी रही है, क्योंकि समाज आज भी पितृसत्तात्मक है।

1991 में नई आर्थिक नीति आने के बाद भारतीय समाज का ढाँचा बदला। कई निजी कंपनियों का बोल-बाला हो गया। रोजगार बढ़े, जहाँ स्त्री-पुरुष दोनों काम करने लगे। बाजार के

प्रभाव को एक तरफ नकारात्मक के रूप में लिया जाता है, वहीं वह साकारात्मक भी होता है। घर से बाहर निकलने के बाद स्त्री पूरी तरह से आजाद हुई। वह ज्यादा से ज्यादा शिक्षित और आर्थिक रूप से संबल होने लगी। शालिनी माथुर का विचार है कि ''आज साफ्टवेयर इंजीनियरों में से 35 प्रतिशत लड़कियाँ हैं। अब बहराइच की लड़की बंगलौर में काम कर रही है और हरदोई की लड़की हैदराबाद की कम्पनी में। जो लड़की गली के नुक्कड़ पर खड़े शोहदों के डर से कॉलेज नहीं जाती थी। यूपी की वही लड़की अब महाराष्ट्र में बैठकर यूपी सरकार की पुलिस के लिए शोहदों की शिकायत दर्ज कराने वाला मोबाइल साफ्टवेयर एप बना रही है। अब उनका वेतन प्राइवेट प्राइमरी पाठशाला की टीचर से दस गुणा अधिक है। वे अपने पांव पर खड़ी हैं। अपनी प्रतिभा, अपने कौशल, अपने श्रम के बल पर।''[17] इस तरह बदलते आर्थिक संबंध में स्त्रियों की भागीदारी भी बढ़ी। दरअसल शिक्षा ही एक ऐसा हथियार है जिसके द्वारा स्त्री आगे बढ़ सकती है तथा आर्थिक रूप से संबल हो सकती है। सामाजिक रूढ़ियों की बेड़ियों को तोड़ सकती है क्योंकि स्त्रियाँ आज 21वी सदी में पुरुषवादी मानसिकता से मुक्त नहीं हो पाई है तथा वह आज भी धार्मिक अंधविश्वासों से जकड़ी हुई है। कई ऐसे गांव है जहाँ स्त्रियाँ मुखिया चुनी जा रही है लेकिन मुखिया के सारे निर्णय उनके पति लेते हैं। रमणिका गुप्ता का कहना है कि ''पिछले कुछ वर्षों में पंचायतों में औरतें मुखिया और सरपंच तो चुनी गई पर उनमें से अधिकांश अभी भी घूंघट में हैं। बाई प्रॉक्सी उनकी हाजरी लगती है लेकिन वास्तविक मुखियागिरी उनका पति, पुत्र या कोई अन्य पुरुष ही करता है। अभी भी हमारे देश में राष्ट्रीय-ध्वज फहराने मात्र पर स्त्री सरपंच नंगी कर जी जाती है।''[18] यह कैसा समाज है? हमें सोचने को बाध्य करता है कि आखिर कब तक एक स्त्री यूं ही नंगी होती रहेगी? दलित स्त्री की स्थिति तो और खराब है, एक तो स्त्री उस में भी दलित। दलित स्त्री तिहरे शोषण का शिकार होती है। लेकिन आज सामाजिक परिदृश्य बदल रहा है। कुमुद शर्मा लिखती हैं ''भारतीय स्त्री आज पुरुष के समान घर से बाहर विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में प्रवेश कर अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बना रही है। उसने अब उन सभी कार्य-क्षेत्रों में प्रवेश पा लिया है जो कभी उसके लिए वर्जित समझे जाते थे और जिन पर पुरुषों का पूरा कब्जा था।

अब महिलाएं केवल शिक्षिकाएं, डॉक्टर या नर्स ही नहीं होती, बल्कि वे तकनीकी विशेषज्ञ, वकील, इंजीनियर, वैज्ञानिक, पत्रकार, उद्यमी, पायलट, सेना अधिकारी आदि की भूमिकाओं में भी अपनी पहचान बना रही है। इलेक्ट्रॉनिक और कंप्यूटर की दुनिया में भी अपनी शक्ति को पहचान रही है। राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय कंपनियों में बड़े-बड़े पदों पर बैठ रही हैं। व्यवसाय में लगी महिलाओं ने व्यवसाय-जगत की हर चुनौती को सहर्ष स्वीकार किया है। इन सभी महिलाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि यदि महिलाओं को नौकरी और व्यवसाय के क्षेत्र में समान अवसर मिलें तो वे भी उत्तरदायित्वपूर्ण पदों और व्यवसाय का कार्य कुशलतापूर्वक चला

सकती है।''[19] आज स्त्री आर्थिक रूप से संबल होने के साथ ही साथ कई मानसिक और शारीरिक प्रताड़ना को झेल रही है। आज भी स्त्री पुरुषों की तरह मुक्त नहीं हुई है। स्त्री दोहरी भूमिका निभा रही है बाहर में काम करने के साथ ही घर का भी काम संभालती है। पुरुष बाहर में काम करने के बाद घर की जिम्मेदारी नहीं उठाते लेकिन स्त्री को बाहर के साथ घर की भी जिम्मेदारी बखूबी निभानी पड़ती है। समाज में आज भी पुरुषों की ही सत्ता है। पितृ मानसिकता स्त्रियों के प्रति आज भी बदली नहीं है। स्त्री अब परंपरा और आधुनिकता में पिसने लगी है। परंपरावादी रूढ़ियाँ समाज से आज भी खत्म नहीं हुआ। कुमुद शर्मा के अनुसार ''पुरुष जब काम से घर लौटता है तो उसे स्त्री की तरह घर की व्यवस्था नहीं देखनी पड़ती है, लेकिन जब नौकरी-पेशा औरत घर लौटती है तो उसे अपनी पुरानी भूमिकाओं को भी पहले की तरह निभाना पड़ता है, बल्कि कहीं-कहीं अधिक चुस्ती से भी निभाने की जरूरत होती है।''[20] परंपरा के कारण कोई घर के काम में उसे सहयोग नहीं देता, न उसकी थकावट की चिंता करता है। वह अकेली होने के कारण अनेक मानसिक ग्रंथियों में उलझ जाती है। कभी-कभी वह आत्मघात के कगार तक पहुँच जाती है।' आज भी स्त्रियों की यह स्थिति समाज में व्याप्त है। कामकाजी स्त्रियाँ इससे उबर नहीं पाई हैं। बदलता आर्थिक संबंध जिस तरह से स्त्री को आगे बढ़ने में सहयोग किया वहीं स्त्री पारिवारिक बंधन में जकड़ गई और मानसिक पीड़ा को अनुभव कर रही है। आज वह (स्त्री) पैसा कमाने का मशीन बनी हुई है और यह मशीन 8 घंटे के बदले 16 घंटा काम करती है। सुबह उठते ही पुरुषों की तरह ऑफिस नहीं भागती बल्कि पति को चाय बनाकर पिलाने से शुरू होता है। ये मध्यवर्ग की स्त्री है जो दोनों भूमिका में अपने को ढालने की कोशिश करती रहती है। समाज में ज्यादा बंधन मध्य वर्ग की स्त्रियों पर ही है। क्या सभी वर्ग की स्त्री की यही स्थिति है? क्या आज 21 वीं सदी में सभी वर्ग की स्त्री शिक्षित हुई? क्या वह शिक्षित होकर चेतनशील हुई है? आधुनिकता के बावजूद पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री शोषण का शिकार तो हो रही है। लेकिन उसके तरीके बदल गए हैं।

कुछ वर्ग की स्त्रियों की स्थिति आज भी अत्यंत दयनीय है? वह आज भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की शिकार हो रही है। समाज कई वर्गों में बंटा हुआ है। तो समाज में रहने वाली कई वर्ग की स्त्रियाँ हैं। शहरी वर्ग की स्त्रियाँ तो आज आकाश में उड़ रही हैं। महानगरों में रहने के कारण बड़ी-बड़ी कंपनियों में काम कर रही हैं और उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही हैं लेकिन ग्रामीण स्त्रियों को यह सुविधा नहीं मिल पाती। दलित और आदिवासी स्त्रियों का अनुपात आज भी बहुत कम है। इस वर्ग की स्त्री शिक्षा से आज भी वंचित है। अगर उसमें से कुछ शिक्षित हो भी जाती हैं तो वह कभी जाति के नाम पर या वर्ग के नाम पर शोषण का शिकार होती हैं। दरअसल जब तक हर वर्ग की स्त्री पढ़-लिख कर आगे नहीं बढ़ेगी तब तक देश का विकास नहीं हो सकता। रमणिका गुप्ता का कहना है कि ''हमारे साहित्य में शहर की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ नायिकाएं बन रही हैं जो अच्छी

बात है लेकिन जब तक कल-कारखानों में, खेतों-खलिहानों और दूर-दराज के गांवों और जंगलों में बसने, खटने-कमाने वाली, जिन्दगी से जूझने वाली, फुलवा, जिरवा, सितवा, ललिता, मौसी या अन्य औरतें साहित्य में नायिकाएं बनकर नहीं उभरेंगी तब तक यह साहित्य भी एकांगी रहेगा। यह तभी संभव होगा जब खटने-कमाने वाली मेहनतकश स्त्रियाँ कलम भी संभालेंगी ग्रेस कुजूर की तरह या फिर निर्मला पुतुल की मानिन्द जिसके लिए जरूरी है इनका शिक्षित होना। शिक्षा न केवल इन्हें आत्मविश्वासी बनाएगी बल्कि इनमें जागरुकता की लहर भी फैलाएगी।'

2.2.2. बाजार, मीडिया और स्त्री सरोकार

आज के समय में मीडिया और स्त्री का संबंध ज्यादा मजबूत हुआ है। मीडिया स्त्री को एक उपभोक्ता समझती है। मीडिया के कारण आज स्त्री सीधे बाजार से जुड़ी है। जहाँ वह अपनी इच्छा के अनुसार चीजों को खरीदने के लिए स्वतंत्र है। इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री का एक वर्ग शिक्षित हुआ, शिक्षित होने के कारण वह आर्थिक रूप से संबल भी हुई है। किसी चीज को खरीदने के लिए उसे अपने पति पर निर्भर नहीं होना पड़ता है। अब वह अपनी जरूरत का समान स्वयं खरीदने के लिए सक्षम है।

इस भूमंडलीकृत समाज में बाजार ने पूरे समाज को आकर्षित किया है। प्रभा खेतान लिखती हैं ''बाजार स्त्री से स्त्री की भाषा में बातचीत कर रहा है। बाजार के संबंध में स्त्री की समझ बढ़ी है क्योंकि बाजार स्त्री की रुचि-अरुचि का पूरा खयाल रखता है। मीडिया इस उपभोक्ता स्त्री की छवि को सबलीकृत करता है। दूसरी ओर यही मीडिया उपभोक्ता वस्तुओं के विज्ञापन के लिए स्त्री का इस्तेमाल करता है, जिससे स्त्री का वस्तुकरण हो रहा है।''[21] बाजार स्त्रियों की इच्छाओं की कद्र नहीं करता, वह उनकी आजादी के नाम पर अपनी जरूरतें थोपता है। नया अवसर तलाशने और कुछ नया सोचने के बजाय, जो कुछ है उसे बेचने और भोगने को न सिर्फ उकसाता है, बल्कि बाध्य भी करता है। जो कुछ महिला की अस्मिता के विरुद्ध है बाजार उसे नए अवसर के रूप में प्रस्तुत करता है और महिमामंडित करता है जैसे फैशन शो आदि। यह स्त्री की आजादी का परचम नहीं है, बल्कि उसे गुलाम बनाने का नया उपक्रम है। जो उपक्रम स्त्री की देह पर आकर खत्म होती है, वह उसकी आजादी का मंत्र कैसे हो सकता है? अफसोस इस बात का है कि बाजार के इस प्रपंच को स्त्री समझ नहीं पाती है और उसमें उलझ जाती है। स्त्री हमेशा से संघर्षरत रही है बाजार उसे सिर्फ 'देह' के रूप में न प्रस्तुत करे। लेकिन बाजार उसे 'देह' के सिवा कुछ समझता ही नहीं है क्योंकि इसी से बाजार अपना व्यापार करता है। फैशन के नाम पर जो 'नग्नता' परोसी जा रही है वह स्त्री के प्रति उपजे सौन्दर्यबोध को नष्ट करता है। 'नग्नता' कभी सौन्दर्य का मापदंड नहीं हो सकती और न ही स्त्री का सौन्दर्य 'देह' तक सीमित माना जाना चाहिए। अतः हम देख सकते हैं

कि इस भूमंडलीकृत समाज में स्त्री भोक्ता और भोग्या दोनों है। आज वह एक प्रदर्शन की वस्तु बन गई है। मीडिया स्त्री के देह के हर हिस्से का इस्तेमाल करता है। गाड़ी, फ्रिज, शैंपू, साबुन, क्रीम-पाउडर, पान-पराग, मसाले, कपड़े, जूते, चप्पल, मोटरसाइकिल आदि चीजों को बेचने के लिए मीडिया स्त्री का किसी न किसी रूप में इस्तेमाल करता है। शरद सिंह लिखती हैं '' विज्ञापन चाहे जूता-पॉलिश का हो या बनियान का, औरत की देह पर रखकर ही परोसा जा सकता है। उस पर भी तुर्रा यह कि सारा दोष औरत के माथे पर--वह विज्ञापनों में अपनी देह का प्रदर्शन करती है !''[22]

दूसरा पक्ष यह है कि आजकल मीडिया के ऊपर यह आरोप लगाया जाता है कि वह स्त्री की छवि को दूषित या विकृत कर रहा है? सवाल यह है कि क्या वह (मीडिया) सचमुच वैसा कर रहा है? यदि हां तो उसे क्या करना चाहिए? क्या वह स्त्री की कोई सुसंस्कृत छवि प्रस्तुत करने को पूर्ण स्वतंत्र है? यदि मीडिया स्त्री के विकृत छवि को प्रस्तुत कर रहा है? तो क्या स्त्री इसके लिए जिम्मेदार नहीं है? हमें यह भी देखने की जरूरत है। आखिर स्त्री क्यों मजबूर होती है? अपने इस तरह की छवि को प्रस्तुत करने के लिए जिसमें सिर्फ उसके 'देह' का प्रदर्शन हो? क्या स्त्री की कोई मजबूरी होती है? इसके पीछे कौन सी मानसिकता काम कर रही है ऐसे अनेक प्रश्न हैं? जिन पर कुछ बात करने की जरूरत है? कहा जाता है कि मीडिया जनतान्त्रिक जीवन और शासन प्रणाली के लिए चौथा स्तम्भ है। या यूं कहें जब से मीडिया का समावेश हुआ है तब से वह जनमत की अभिव्यक्ति करता है। एक तरह से देखा जा सकता है कि किसी भी राष्ट्र के विकास में मीडिया की एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आज मीडिया के संदर्भ में इस तथ्य को भी नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है कि मीडिया आज एक उद्योग बन चुका है। जब कोई गतिविधि उद्योग बन जाती है तब धन कमाना उसका मुख्य उद्देश्य हो जाता है। आज मीडिया की ताकत खूब बढ़ गयी है। वह (मीडिया) अपना वर्चस्व दुनिया के हर एक कोने में बना चुका है। सवाल यह है कि मीडिया का इतना वर्चस्व कैसे बढ़ा? बाजारवाद के आने से मीडिया का बोल-बाला बढ़ गया है। बाजारवाद आने से समाज में खुलापन बढ़ा। यह खुलापन एक तरह से स्त्रियों के समक्ष लागू हो रहा है। बाजारवाद और उदारवाद के बाद दुनिया एक दूसरे के करीब हुई और स्त्री इसके उत्पाद के 'प्रोमोटर' के रूप में ही अपनी पहचान बनाई। 'प्रोमोटर' की यह भूमिका स्त्री-देह के दर्शन पर आधारित हो गया है। राजकिशोर का मानना है कि ''स्त्री का शरीर तब से बिकता रहा है, जब से विवाह नाम की संस्था का जन्म हुआ है। लेकिन आज स्त्री शरीर को ग्लैमर में लपेट कर बेचा जा रहा है। वह पूंजीवाद की नई विपणन नीति का मुख्य औजार है। मोटरगाड़ी से लेकर अखबार तक, कुछ भी उसका सहारा लिए बगैर नहीं बेचा जा सकता है।''[23] दरअसल इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री सदियों से एक भोग की वस्तु के रूप में देखी जाती रही है। आज मीडिया अगर उसे एक वस्तु के रूप में प्रस्तुत कर रहा है तो इससे हमें आश्चर्यचकित होने की जरूरत नहीं है। इसका श्रेय

किसे जाता है? इस पर बात करने की जरूरत है। इस समाज में आज भी पुरुषों का वर्चस्व है, पुरुष अपनी जरूरतों के अनुसार उसे (स्त्री) खरीदता है और बेचता है। विज्ञापन में स्त्री की जरूरत न होते हुए भी उसका इस्तेमाल किया जाता है। ऐसा लगता है जैसे बिना स्त्री के बाजार का काम चल ही नहीं सकता। आज यह कहा जाता है कि स्त्री स्वतंत्र हुई, पहले की तरह वह चारदीवारी में कैद नहीं है। 21वीं सदी में वह खुल कर सांस ले रही है। शिक्षित हुई तथा आर्थिक रूप से मजबूत हुई या हो रही है। लेकिन आज भी स्त्री का शोषण कम नहीं हो रहा है, सिर्फ शोषण करने के तरीके बदल गये हैं। चित्रा मुद्गल लिखती हैं कि ''बाजारीकरण के दौर में स्त्री-स्वातंत्र्य की ये परिभाषाएँ, पुरुष की ललक, कामभावना आदि को संतुष्ट करने के नुस्खे भर हैं। इसके कारण स्त्री स्वातंत्र्य की बात आज खतरे में दिखाई देती है। सिनेमा, टी. वी. से लेकर इसका विस्तार 'हैलो दिल्ली' जैसे अखबारी परिशिष्टों तक हो गयी है। इन सबके मूल में सिर्फ बिकने वाली है। स्त्री के वस्तुकरण की इस प्रकिया पर नकेल कसना ही आज स्त्री की सबसे बड़ी चुनौती है।''[24]

सच्चाई तो यह है कि अखबारों और टी.वी. चैनलों में स्त्री की अधनंगी देह तथाकथित सभ्य समाज की स्वीकृति है। सामाजिक मानस में यह बात और गहरे धंसती जा रही है कि स्त्री महज देह है, मनुष्य नहीं। आज जरूरी यह हो गया है कि स्त्री खुद को इस वस्तुकरण से बचाए। स्त्री ने अपने वस्तुकरण का पूरजोर से विरोध तो किया पर विरोधाभास यह है कि 'सामने के दरवाजे से व्यक्ति बनकर निकलती हुई स्त्री के लिए वस्तुकरण के सारे निर्देश और संसाधन पिछले दरवाजे से प्रवेश कर जाते हैं।' इसे तोड़ने की जरूरत है। कुछ लोगों का कहना है कि स्त्री की यौनिकता पर चर्चा कोई टेबू नहीं है। बल्कि मीडिया में देह की यह मुखर चर्चा स्त्री के लिए मुक्तिदायी रहेगी। प्रभा खेतान लिखती हैं ''स्त्री देह और स्त्री यौनिकता पर खुलकर चर्चा करने में भला लज्जा कैसी, देह को ढक कर रखने की जरूरत क्या है सामाजिक तालिबानों ने स्त्री को यो हीं कम परेशान किया है अब वह अपनी देह के बारे में दूसरों से निर्देश ले। जैसे पुरुष बदन खोलकर खड़ा होता है वैसे ही औरत क्यों नहीं हो सकती और अपनी देह पर गर्व क्यों नहीं महसूस कर सकती''[25] प्रभा खेतान की इस तरह की टिप्पणी कहीं न कहीं पुरुष सत्तात्मक समाज पर करारा चोट करती है। किसी भी कार्य के दो पक्ष होते हैं। एक पक्ष और दूसरा विपक्ष। मीडिया के संदर्भ में भी यह बात लागू होती है। मीडिया पर यह आरोप लगाया जा रहा है कि वह स्त्री की छवि को तहस-नहस कर रहा है। कुछ लोगों का कहना है कि जिस तरह अमरीका और यूरोप में स्त्री अर्धनग्न अवस्था में रहती है, उसी तरह की छवि भारतीय समाज में मीडिया द्वारा गढ़ा जा रहा है।

आज यह भी शिकायत हो रही है कि विज्ञापनों में स्त्रियों का ओवर एक्सपोजर हो रहा है। किसी खास चीज को बेचने के लिए स्त्री की सेक्सुअलिटी का इस्तेमाल किया जा रहा है। मीडिया सौंदर्य के आज नये-नये प्रतिमान बन रहे हैं। सवाल यह है कि नये-नये प्रतिमान सिर्फ स्त्रियों के

लिए ही क्यों? पुरुष के लिए क्यों नहीं? क्यों फेयर लवली का विज्ञापन एक स्त्री को गोरा होने के लिए दिखाया जाता है। स्त्री को ही हमेशा सुन्दर होने के लिए प्रेरित क्यों किया जाता है। दुनिया की आधी आबादी कही जाने वाली स्त्री शुरू से इस पितृसत्तात्मक समाज में शोषण का शिकार रही है। लेकिन धीरे-धीरे इसका स्वरूप बदल रहा है। आज स्त्री घर की चक्की-चूल्हा से निकल कर विश्व की अन्य नारियों की तरह हर क्षेत्र में अपनी भूमिका निभा रही है तथा पुरुषों के समकक्ष खड़ी हो रही है। विभिन्न कार्यक्षेत्रों में स्त्री पुरुषों के साथ कदम से कदम मिला कर काम कर रही है।

आज हम यह देख सकते हैं कि मीडिया स्त्री की छवि को बाजार के हित में ज्यादा प्रयोग करता है। उस खबर को ज्यादा महत्वपूर्ण माना जाता है जो अधिक से अधिक लोगों को अपनी ओर आकर्षित करे। ऐसे में स्त्री के अर्धनग्न शरीर की छवि का सर्वाधिक प्रयोग किया जाता है। रेखा कस्तवार लिखती हैं ''पत्र-पत्रिकाओं का बिकाऊ माल बनाने के लिए प्रायः स्त्री-खिलाड़ियों (विशेषकर टेनिस) के उन्हीं फोटो को प्रकाशन के लिए चयन किया जाता है जिसमें कपड़े अस्त-व्यस्त हों।''[26] इसी तरह बाजार में भी किसी समान की बिक्री करने के लिए या उस समान की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए स्त्री का इस्तेमाल किया जाता है। जैसे कि ''परफ्यूम के लिए निर्वस्त्र हुई सोफी ने पहना स्वेटर।''[27] इससे हम यह समझ सकते हैं कि किसी भी प्रोडक्ट को ज्यादा बेचने के लिए स्त्री एक हथियार के रूप में इस्तेमाल होती है। बाजार एक तरफ स्त्री का शोषण करता है तो वहीं दूसरी ओर वह बाहर निकलने का अवसर भी प्राप्त करवाता है, हमे यह देखने की जरूत है कि यह अवसर कितना स्त्री के पक्ष में होता है और कितना स्त्री के विपक्ष में। यानि कितना स्त्री अपने हक में प्रयोग करती है। रेखा कस्तवार का मानना है कि ''निरोधकों के बाजार ने उसे देह में बदला है तो देह से मुक्ति भी दी है, सौन्दर्य प्रतियोगिताओं ने स्त्री को सेल्स गर्ल बनाया है तो पैसे कमाने के अवसर भी सौंपे हैं। स्त्री इस संक्रमण काल का उपयोग पूंजी के साम्राज में सेंध लगाने के लिए कर रही है। बाजार में आकर स्त्री ने परम्परागत संरचना से मुक्ति के रास्ते जुटाए हैं, भविष्य की स्त्री बाजार के शोषण से मुक्ति के रास्ते भी खोज लेगी। बाजार की नियामक शक्तियों के हाथ का खिलौना स्त्री नियमों को अपनी शर्तों पर बना-बदल भी रही है। बाजार में अपनी जगह बनाने के लिए स्त्री को जानना होगा कि देह पर अधिकार और नियन्त्रण के लिए विवेकी मस्तिष्क पर नियंत्रण और अधिकार की स्वतन्त्रता जरूरी है।''[28] आज बाजार स्त्री छवि को इतना बोल्ड रूप में दिखा रहा है, यह स्त्री अपनी स्वायत्तता के प्रति इतनी जागरूक हो गई है कि वह अपने शरीर और अपना मन अपने तरीके से प्रयोग कर रही है। यह बोल्ड रूप स्त्री के किस वर्ग में ज्यादा दिखाई पड़ता है क्या जो स्त्री आर्थिक रूप से निर्भर नहीं है वह अपने जीवन का कोई भी निर्णय ले सकती है? मीडिया स्त्री को आज कई रूपों में परोस रहा है जिस पर कई सवाल खड़े होते हैं। रेखा कस्तवार अरविन्द जैन के हवाले से यह कहती हैं कि ''स्त्रियाँ अब आपके बेडरूम से

होकर नहीं, बल्कि सीधे बेडरूम जाने का निर्णय ले रही है।''[29] यह किस वर्ग की स्त्री है जो सीधे बेडरूम में जाने के लिए तैयार हो रही है। यह भी देखने की जरूरत है। क्या इस तरह का निर्णय सभी वर्ग की स्त्री ले सकती है? यह भी एक महत्वपूर्ण सवाल है।

मीडिया की दुनिया बाजार की सोची-समझी नीतियों पर तय होती है। बाजार तय करता है कि इंटीरियर डेकोरेशन कैसा होना चाहिए, अभी कपड़ों का फैशन किस तरह का होना चाहिए आदि। सारी चीजें बाजार की शर्तों पर तय होती है।' मीडिया बाजार के हित में स्त्री छवि का उपयोग करता है। समरेन्द्र सिंह का कहना है कि ''उस खबर की कीमत सर्वाधिक आँकी गई जो अधिकाधिक लोगों को अपनी ओर आकर्षित करे। ऐसे माहौल में स्त्री के अर्धनग्न उत्तेजक मांसल शरीर की तस्वीरों एवं उनसे संबंधित सनसनीखेज खबरों को समाचार पत्रों में व्यापक स्पेस दिया जाने लगा। स्त्री शरीर एक प्रोडक्ट के रूप में विकसित हुआ।''[30] यहां तक कि मीडिया स्त्री के लिए अवांछित और लिंग भेदी भाषा का प्रयोग करता है। एक अज्ञात मॉडल के फोटो का शीर्षक होता है 'रूप का जादू, रूप और काया का जलवा' आदि । इस तरह की भाषा का प्रयोग एक तरह से स्त्री मॉडल को एकमात्र सुन्दर शरीर और कमनीय उपभोग की वस्तु मानने के लिए होता है। लीलाधर मंडलोई का कहना है ''स्त्री की देह बाजार द्वारा यह उपनिवेशीकरण है। इस उपनिवेश में बाजार के साथ मीडिया का घोषित करार है। मीडिया स्त्री देह को सेक्स सिंबल के अलावा कुछ और नहीं मानता। 'पाप' या 'जिस्म' जैसी फिल्मों का संसार हो अथवा एम.टी.वी., एस. बी. आ, फैशन टी.वी. जैसे चैनलों का विश्वव्यापी संजाल। इंटरनेट हो अथवा मोबाइल के जरिए स्त्री देह को कैद करती उत्तेजक छवियाँ।''[31] इसके साथ ही विज्ञापनों में मानवीय संबंधों का खुलेआम बाजारीकरण होता है। विज्ञापन यह तय करता है कि आम लोग किस तरह के साबुन, क्रीम, शैंपू, टूथपेस्ट का इस्तेमाल करें अगर आप इस तरह के समान इस्तेमाल नहीं करते हो तो आपका संबंध ठीक से विकसित नहीं हो सकता है। इस तरह से मीडिया मानवीय संबंधों को भी सीधे ब्रांड से जोड़ने की कोशिश कर रहा है। लीलाधर मंडलोई का कहना है कि ''इधर फैशन इंडस्ट्री का बाजार केन्द्रीय है। फैशन है तो स्त्री देह है। स्त्री देह के हर हिस्से नाखून से लेकर बालों तक अनेक उत्पाद हैं, उनके उत्पाद हैं तो उनकी बिक्री के लिए उपभोक्ताओं की दरकार है। उपभोक्ता चाहिए तो बेचने के लिए नया तरीका। नई मॉडल। मॉडलिंग के बहाने देह के हर एक कोण पर फोकस। क्लोजअप टूथपेस्ट में युवाओं को भरमाता, आपस में एक दूसरे को नजदीक लाता, प्रेम करवाता। फेयर एण्ड लवली गोरेपन की क्रीम इस्तेमाल करो और सहज जीवन साथी उपलब्ध। शैम्पू, साबुन, क्री, बॉडी स्प्रे, अन्डर गारमेन्ट्स, नेलपॉलिश से लेकर तमाम उत्पाद एक ही भाषा में आमन्त्रित करते हैं-- आओ सुन्दर हो जाओ, अलग दिखो।''[32] इसी तरह मीडिया पर कड़ा प्रतिरोध करते हुए अष्टभुजा शुक्ल का कहना है कि ''मीडिया हमारे समय का बहुत प्रबल कारक है और स्त्री हमारे समय में

अपनी पहचान और छाप पूरी शिद्दत के साथ अपने बूते पर दर्ज कराने के लिए जद्दोजहद कर रही है। स्त्री, मीडिया की ओर आशा भरी निगाहों से देख रही है, जबकि मीडिया स्त्री को लोलुप दृष्टि से। मीडिया अपनी चमक को और चमकीला बनाने के लिए स्त्री का उपयोग करने के लिए आतुर है।''[33] इसी तरह भूमंडलीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के दौर में पूरे विश्व में स्त्री का देह इस समय बाजार के निशाने पर है और मीडिया पूरी शिद्दत से बाजार का डंका बजा रहा है। इसी प्रकार 'व्यभिचार को आधुनिक नैतिकता का स्टेटस सिंबल बनाकर बाजार बेखौफ वस्तु (स्त्री) की बोली लगा रहा है।' 'आज कॉमेडी-शो, फिल्म व विज्ञापनों को व्यावसायिक दृष्टि से दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इनमें अधिकांश चैनल व समाचार पत्र-पत्रिकाएं टी आर पी और सर्कुलेशन की दौड़ में आगे आने तथा प्रतिस्पर्धा की दौड़ में बने रहने के लिए नारी देह को शामिल कर रहे है। बात हम टी आ रपी पर प्रसारित कॉमेडी शो की करें तो ये महिला विरोधी साबित हो रहे हैं क्योंकि इनकी भाषा, भाव भांगिमाएं और विषय-वस्तु अश्लील और फूहड़ हैं जिसके परिणामस्वरूप समाज में नयी पीढ़ी में छींटाकसी, अभद्रता का सामाजीकरण होना निश्चित तक लगता है।'

आज का युग उत्तर आधुनिकता का युग है। इस 21वीं सदी के बदलते सामाजिक परिदृश्य में स्त्री की देह का सबसे ज्यादा व्यापार किया जा रहा है। वह साधन चाहे विज्ञापन हो या बाजार अपने मुनाफे के लिए स्त्री की देह का व्यापार कर रहा है। आज स्त्री हर एक जगह बिकाऊ वस्तु के रूप में प्रचारित की जा रही है। अरविन्द जैन का कहना है कि ''चूंकि देह उसकी थी, इसलिए वह उसका इस्तेमाल करने के लिए स्वतंत्र थी। वह फिल्मों में, राजनीति में, उद्योग में, सौन्दर्य प्रतियोगिताओं में देह की कीमत वसूल रही थी। वह पुरुषों के खेल में अपनी राजी से शामिल हो गई थी और उनके नियमों के हिसाब से खेल रही थी...पूंजी का प्रचार तंत्र देह की सौन्दर्य स्वतंत्रता के लिए ऐसे ही मिथकों और भ्रामक दुश्चक्रों को रचता रहा है। स्त्रियों के लिए घर में बुर्के और बाजार में बिकनियां नहीं बनाता-पहनाता तो उसका अरबों-खरबों का धन्धा, फिल्म, राजनीति, विज्ञापन उद्योग, प्रसाधन सेवा, प्रचार तंत्र पोर्नोग्राफी प्रकाशन और 'आनंद' बाजार चौपट नहीं हो जाता।''[34] इस भूमंडलीकृत समाज में स्त्री अपना सौन्दर्य या देह अपने तरीके से इस्तेमाल करना चाहती है लेकिन बाजारवादी शक्तियां स्त्री को अपने चंगुल में फंसा लेती हैं और स्त्री को आर्थिक एवं सामाजिक मुक्ति का लालच देकर अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करती है। इसी संदर्भ में देवेंद्र इस्सर का कहना है कि ''मीडिया स्त्री देह की छवि को पुरुष गेज़ (नज़रिए) और यौनाकर्षण, वॉयरिज्म, एरोटिसिज्म, यौन-उत्पीड़न तथा तुष्टि, पाशविक पैशन तथा सेक्स-सौन्दर्य के फ्यूजन द्वारा स्त्री छवि के विभिन्न रूप प्रस्तुत करता है फिल्म 'जिस्म' हो या 'हवस', 'मर्डर' हो या 'तौबा-तौबा' या 'ख्वाहिश' यह प्रश्न पूछने पर विवश करती हैं कि क्या स्वच्छंद यौनाचार नारी को मुक्त

करता है? वास्तव में वह पुरुष की और अधिक गुलाम बन जाती है जिसके विरुद्ध वह संघर्ष कर रही है उसी को उपलब्ध हो रही है- भोग की वस्तु बनकर।''[35]

2.2.3.परिवार, समाज, धर्म, राजनीति में स्त्री की स्थिती

भारतीय समाज पितृसत्तात्मक समाज है जहाँ पुरुषों का वर्चस्व सदियों से रहा है। भारतीय समाज में स्त्री की सामाजिक स्थिति दोयम दर्जे की है। हमारा समाज आज भी स्त्रियों के प्रति अपना दकियानुसी केंचुली उतार नहीं पाया है। आज भी पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्री को चारदीवारी में कैद ही देखना चाहता है। इस पुरुषवादी समाज में आज भी ऐसे पुरुषों की कमी नहीं जो अपने स्त्री को जिन्दा जलाने में पीछे नहीं हटते।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया कहती है ''उसके पास दस करोड़ रुपए थे, लेकिन मेरे पास दस लाख ही उसे चुभते थे। वह सोचता –इतनी महत्वाकांक्षा? अरे यह औरत कैसे वश में रहेगी ? वह मुझसे पूछता, 'तुम्हें' अब भी संतोष क्यों नहीं ? वह मालिक था। बढ़ते हुए पौधे की जड़ काट दो, उसे बौना ही रहने दो। उसे मेरा विस्तार अखरता था। गुलाम की नजर मालिक की कुर्सी पर क्यों ? नरेन्द्र की आँख में वे चिनगारियाँ ? पहली बार मुझे कुर्सी पर ऑफिस में बैठी देखकर, कैसे चुभते हुए शब्द–ओह हो सीगल एक्सपोर्ट की मैनेजिंग डाइरेक्टर हैं ? अब आपको मुझसे पैसे माँगने की जरूरत ही क्या रही और अब आपको क्यों हमारी लाई हुई चीजें पसन्द आएँगी ? श्रीमतीजी पैसा जो कमा रही हैं... ।''[36] प्रिया कहती है ''औरत कहाँ नहीं रोती ? सड़क पर झाड़ू लगाते हुए, खेतों में काम करते हुए, एयरपोर्ट पर बाथरूम साफ करते हुए या फिर सारे भोग एश्वर्य के बावजूद मेरी सासूजी की तरह पलँग पर रात-रात-भर अकेले करवटें बदलते हुए । हाड़-मांस की बनी ये औरतें...अपने-अपने तरीके से जिन्दगी जीने की कोशिश में छटपटाती ये औरतें ! हजारों सालों से इनके ये आँसू बहते आ रहे हैं।''[37]

कुल मिला कर कह सकते हैं कि भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति कभी भी एक समान नहीं रही। उसमें उतार-चढ़ाव हमेशा से आता रहा है। वैदिक युग में स्त्री की स्थिति अच्छी थी, मनुवादियों के कारण स्त्री की स्थिती दयनीय हो गई। समाज में कई तरह की रूढ़ियां हैं जिसके कारण स्त्रियाँ शोषण का शिकार होती है। रेखा कस्तवार का विचार है ''अरब समाज में पुत्री का जन्म अशुभ माना जाता था और वहां के लोग प्रायः पुत्रियों को जीवित दफन कर दिया करते थे।''[38] इस तरह के शोषण को स्त्री जन्म से भारतीय समाज में ही नहीं बल्कि विश्व समाज में भी झेलती है। भारतीय समाज में आज भी बहुत ऐसे गांव या शहर हैं जहाँ स्त्री का बाल-विवाह होता है। आज भी समाज में बहु-पत्नी प्रथा मान्य है। 21वीं सदीं में भी कई स्त्री दहेज के नाम पर जलाई

जाती हैं। कई कानून बन चुके हैं लेकिन उसका कोई निदान आज भी नहीं निकल पाया है। आज भी स्त्री को सती करने की कुप्रथा समाज में यदा-कदा दृष्टिगोचर हो ही जाती है। समाज में लैंगिक भेद-भाव आज भी मौजूद है।

स्त्री होने के नाते उसे समान मजदूरी नहीं मिलती तथा उसे छँटनी का भी शिकार होना पड़ता है। आज भी ग्रामीण स्त्री दो वक्त की रोटी के लिए पुरुषों पर आश्रित रहती हैं। सरला माहेश्वरी का कहना है कि ''सारी दुनिया की तुलना में भारत में प्रसूति के दौरान स्त्रियों की सबसे अधिक मौत होती है। हर 1000 औरतों में 4-5 महिलाएं प्रसूति के दौरान मर जाती हैं। स्त्रियों की मृत्यु में करीब 50 प्रतिशत मृत्यु 30 वर्ष की उम्र से पहले होती है। विशेषज्ञों का कहना है कि इस उम्र में महिलाओं की मृत्यु दर में अधिकता की मुख्य रूप से दो वजहें हैं। पहली वजह है कम उम्र में शादी। जाहिर तौर पर यह हमारी एक सामाजिक, सांस्कृतिक समस्या है। आजादी के 45 वर्षों बाद भी हम अपने सांस्कृतिक जीवन के पिछड़ेपन से मुक्त नहीं हो पाए हैं। दूसरी वजह है चिकित्सा और स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं की कमी। गर्भवती औरतों के लिए स्वास्थ्य संबंधी जो तमाम सुविधाएं जरूरी हैं, उन्हें उपलब्ध करवाने में हम पूरी तरह से विफल रहे हैं।''[39] समाज में स्त्रियों का शोषण कई स्तरों पर होता है। प्रभा खेतान लिखती हैं कि ''इतिहास में यह किस वर्ग और जाति का निर्णय रहा है कि परिवार में जब सब लोग खा चुके तभी औरत को थाली पर बैठने का हक है। आखिर और कितनी शताब्दियां औरत अपने पेट पर कपड़ा बांध कर काम करती रहेगी? क्या पेट भरने का पहला अधिकार पिता को ही है? क्या मां अधिक मेहनत नहीं करती और क्या ऐसा कह कर संस्कृति और परंपरा की नजर में हम गलत नहीं हो जाएंगे यदि हम यह पूछें कि आखिर मुफ्त के श्रम की अपेक्षा स्त्री से ही क्यों?''[40] सदियों से स्त्री गैरबराबरी को झेल रही है कि पहले पुरुष घर का मालिक है तो उसे खाना चाहिए, कुल मिला कर आर्थिक निर्भरता का प्रश्न है? जो ताकतवर होगा वह दमितों का शोषण करेगा। यही हाल पुरुष का है चूंकि पुरुष सदियों से घर का मालिक रहा है इसलिए समाज और घर-परिवार में उसी का वर्चस्व है।

भारतीय समाज में स्त्री पैदाइश से ही गैरबराबरी की मार झेलती है। बचपन से उसे सिखाया जाता है कि तुम एक स्त्री हो और इसलिए तुम्हें समाज के नियमों का पालन करना होगा। स्त्री समस्या सिर्फ भारतीय समाज में ही नहीं निहित है बल्कि विश्व समाज में भी स्त्री का हाल कुछ ऐसा ही है। स्त्री के साथ भेद-भाव किया जाता है। वह भेद-भाव का शिकार सदियों से हो रही है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से बराबरी का दर्जा आज भी नहीं मिला है। समकालीन परिदृश्य की बात करें तो आज स्त्री आर्थिक और राजनीति रूप से आगे आई हैं लेकिन वहां भी उसे पुरुषों के शोषण का शिकार होना पड़ता है तथा यह भी एक प्रश्न है कितनी प्रतिशत स्त्री राजनीति में आगे बढ़ी हैं और वहां वह क्या सुरक्षित है? जो स्त्री शिक्षित और राजनीति में आगे बढ़ी है वह

किस वर्ग की स्त्री है इसे भी देखने की जरुरत है। स्त्री का शोषण कहाँ नहीं होता। घर से लेकर बाहर तक स्त्री सुरक्षित नहीं है। बलात्कार की बात करें तो एक स्त्री का बलात्कार कहाँ कहाँ नहीं होता, घर के बाहर इसके साथ- साथ घर में भी उसका बलात्कार होता है।

कई ऐसे गांव या शहर हैं जहाँ कन्या को जन्म लेते ही मार दिया जाता है। भारतीय समाज में हम देख सकते हैं कि आज भी एक स्त्री के जन्म से पहले उनको मार देने का सिलसिला अनवरत जारी है, जिसकी वजह से आज स्त्री-पुरुष की आबादी का अनुपात बदलने लगा है तथा स्त्रियों की संख्या कम हो रही है। बदलते सामाजिक संदर्भ में हम देख सकते हैं कि स्त्री-पुरुष के संबंधों में भी बदलाव आया है। पहले विवाह का स्वरूप कुछ और था। आज स्त्री-पुरुष प्रेम विवाह भी कर रहे हैं लेकिन यहां भी प्रेम का स्वरूप बदला है। सामाजिक व्यवस्था परिवार पर निर्भर होता है। पारिवारिक ढाँचा पितृसत्तात्मक व्यवस्था की सबसे बड़ी शक्ति है और यह व्यवस्था पूरी तरह से दमन और उत्पीड़न के ढ़ाँचे पर टिका हुआ है। परिवार में स्त्री सबसे ज्यादा शोषण का शिकार होती है। पुरुषवादी समाज कभी नहीं चाहता है कि महिलाएं उसकी बराबरी करें।

आज हम यह भी देख सकते हैं कि विश्व का कोई भी ऐसा देश नहीं, जहाँ धर्म के आड़ में स्त्री का शोषण न होता हो। हमारे समाज में सदियों से मठों और आश्रमों में धर्म के नाम पर लड़कियों और स्त्रियों का शोषण होता रहा है। सुधा अरोड़ा का कहना है ''कहीं धर्म के नाम पर उसे मृत पति के साथ जिंदा जलाकर सती होना पड़ता है तो कहीं अपना शील बचाने के लिए जलती आग में कूदकर जान गंवानी पड़ती है। इसे सती माता का चौरा और जौहर कहकर महिमामंडित किया जाता है। दहेज, हत्या, बलात्कार के बाद हत्या और यौन शोषण इन्हीं रस्मों का आधुनिक संस्करण है।''[41] इतिहास गवाह है कि पुरुष ने सदियों से स्त्री को भोग वस्तु के सिवा कुछ माना ही नहीं और स्त्री को हमेशा से चारदीवारी के अंदर रहने की हिमायत की है। जैसे ही कोई स्त्री इस लक्ष्मणरेखा को लांघती है तो उसके साथ कुछ भी हो सकता है क्योंकि पुरुष के लिए एक स्त्री देह के सिवा कुछ होती ही नहीं है तथा पुरुष उसे भोग्य वस्तु के सिवा कुछ मानता ही नहीं है। सुधा अरोड़ा लिखती हैं ''भारत में हाल के कुछेक सालों में संत शिरोमणि आसाराम बापू, साधु धर्मपाल, डेरा सच्चा सौदा के प्रमुख बाबा राम रहीम और हाल ही में आध्यात्मिक विश्वविद्यालय के वीरेंद्र देव दीक्षित के यौन अपराध का खुलासा हुआ है। लम्बे समय तक अपने आश्रमों में सेवा के लिए रहने वाली सैकड़ों लड़कियों को अपनी हवस का शिकार बनाने के मामले सामने आए हैं। कुछ साध्वियों, लड़कियों ने अपनी चुप्पी तोड़ी और इसका खुलासा किया।[42]'' इस तरह के कुकर्म धर्म के नाम पर धर्म के ठेकेदार करते रहे हैं।

भारतीय समाज में यह अंधविश्वास इतना ज्यादा फैला हुआ है कि इस अंधविश्वास के चक्कर में समाज के ठेकेदार अपनी मर्जी से अपनी घर की कुँवारी बेटियों को ऐसे बाबाओं के आश्रम में सेवा करने भेजते हैं लेकिन जब इन लड़कियों को बाबा अपनी हवस का शिकार बनाता है तब भी घर के लोग लड़कियों का विश्वास नहीं करते। वहां एक स्त्री का चरित्र ही संदेह के घेरे में होता है। सोचने वाली बात तो यह है कि जिस समाज में स्त्री की इज्जत उसके शरीर से माना जाता है, जिसे प्रेम करने की इजाजत नहीं है उस पर हमबिस्तर होने का लांछन लगाया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि जरूर यही (स्त्री) कुछ की होगी। आज ही नहीं सदियों से धर्म के आड़ में न जाने कितनी स्त्री इस तरह के कड़वे कसैले घूँट को पीती रही है। धार्मिक कुकर्म के कारण आज भी भारतीय समाज में देवदासी प्रथा अपने चरम उत्कर्ष पर है। ऐसे स्त्रियों के लिए शिक्षा का दरवाजा बंद हो जाता है और वह धर्म के ठेकेदारों के हवस का शिकार होती हैं। सुधा अरोड़ा का कहना है कि ''धर्म कितना और किस स्तर पर स्त्रियों पर आज भी अनाचार कर रहा है, इसे बहुत से अनुष्ठानों और रवायतों में देखा जा सकता है। केरल में एक मंदिर में स्त्रियों को ऊपर के वस्त्र पहनकर जाने की अनुमति नहीं है। सोचने की बात है कि स्त्रियाँ मंदिर में क्या पहनकर जाएं, इसे तय करने का अधिकार मंदिर के पुरुष पुजारियों को किसने दिया?''[43] ये धर्म के पुजारी सदियों से सत्ता के केन्द्र में रहे हैं। और समाज को संचालित करते रहे हैं।

धर्म की आड़ में स्त्री का यौन शोषण होता है। लाखों लड़कियां इसकी शिकार होती हैं। समाज में पुरुष सत्ता का राज्य है। स्त्री इस पुरुष सत्ता के अधीन है। समाज में एक स्त्री को बराबरी का अधिकार है ही नहीं हैं। मुक्तिबोध की यह पंक्ति आज भी प्रासंगिक है- -'अब अभिव्यक्ति के खतरे उठाने होंगे, तोड़ने होंगे मठ और गढ़ सब।' संसार के सभी धर्मों ईसाई, इस्ला, हिन्दू किसी भी धर्म में स्त्री को पुरुषों से कमतर ही माना जाता है। सिर्फ बौद्ध धर्म को छोड़ कर सभी धर्म में स्त्री की स्थिति दयनीय थी। स्त्री शुरू से धार्मिक कर्मकांडों का शिकार होती रही हैं। सदियों से समाज धर्म से संचालित होता रहा है। जिसके कारण धर्म का बड़ा प्रभाव स्त्री पर पड़ा और वह धर्म की गुलाम बन गई है। रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि ''मुस्लिम धर्म में रोजा दोनों रखते हैं, लेकिन सवाब पुरुष को ही मिलता है। जहाँ तक संपति के अधिकारों की बात है, तो ईसाई धर्म या हिन्दू धर्म में बेटियों को संपत्ति नहीं दी जाती है।...इस्लाम में स्त्रियों को संपत्ति तो दी जाती है, पर बराबर-बराबर नहीं। बिडंबना तो यह है कि इस्लाम में एक पति चार पत्नियां भी रख सकता है और तीन बार 'तलाक' कहकर औरत को छोड़ भी सकता है। औरत को तलाक देने का अधिकार प्राप्त नहीं है।''[44] एक तरह से देखा जा सकता है कि धर्म के ठेकेदार पुरुष ही हैं और स्त्रियों को अपने द्वारा निर्मित धर्म से नियंत्रित करते हैं।

2.3.पितृसत्ता के बदलते रूप और स्त्री प्रतिरोध

पितृसत्ता का शाब्दिक अर्थ है पिता की सत्ता या परिवार के बुजुर्ग पुरुष की सत्ता या शासन। एक तरह से पितृसत्ता का सीधा मतलब पुरुष प्रधान सत्ता से है। एक शब्दों में कमला भसीन के अनुसार ''पितृसत्ता'' 'यानि स्त्री की प्रजनन शक्ति, यौनिकता और श्रम पर पुरुष नियंत्रण।' 'पितृसत्ता' यानि स्त्रियों पर पुरुषों का शासन या उस व्यवस्था को कह सकते है जहाँ पर स्त्रियों को अनेक तरीके से पुरुष निचले दर्जे पर रखने का काम करते हैं। उमा चक्रवती का कहना है कि ''भारत की धरती पर दास बनाया जाने वाला पहला समूह औरतों का था।''[45] इसी तरह गर्डा लर्नर के अनुसार 'पितृसत्ता', ''परिवार में महिलाओं और बच्चों पर पुरुषों के वर्चस्व की अभिव्यक्ति और संस्थागतकरण तथा सामान्य रूप से महिलाओं पर पुरुषों के सामाजिक वर्चस्व का विस्तार है। इसका अभिप्राय है कि पुरुषों का समाज के सभी महत्वपूर्ण सत्ता प्रतिष्ठानों पर नियंत्रण रहता है और महिलाएं ऐसी सत्ता तक पहुँच से वंचित रहती है।''[46] इसके साथ ही कमला भसीन लिखती हैं ''आरंभ में इस शब्द का इस्तेमाल एक खास तरह के 'पुरुष प्रधान' के लिए किया जाता था। यह एक संयुक्त परिवार होता था, जिसका सर्वेसर्वा एक बुजुर्ग पुरुष होता था। इस परिवार में इस कुलपति के नीचे औरतें, छोटे मर्द, बच्चे, दास, घरेलू नौकर सभी होते थे। आजकल इस शब्द का इस्तेमाल आमतौर पर पुरुष सत्ता दर्शाने या उन शक्ति संबंधों को बताने के लिए, जिनमें मर्द औरतों को दबाते हैं या उस व्यवस्था के लिए किया जाता है जो अनेक तरीकों से औरतों को निचले दर्जे पर रखती है।''[47] समाज में पुरुषों का वर्चस्व सदियों से रहा है, जाहिर सी बात है कि जिसकी सत्ता रहेगी राज्य भी वही करेगा। इतिहास गवाह है कि आदिम काल से समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था रही है।

इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने सदियों से स्त्रियों का शोषण किया है और आज भी कर रहा है। सिर्फ आज पितृसत्ता का स्वरूप बदल गया है। आज स्त्री शिक्षित हुई है और अपने अधिकारों को समझ रही है और उसके प्रति आवाज बुलंद कर रही है। परिणामस्वरूप आज यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था नये ढंग से स्त्री का शोषण कर रहा है। रामविलास शर्मा का कहना है ''पुराना पितृसत्तात्मक समाज जिसमें उसे गृहलक्ष्मी कहकर वास्तव में गृहदासी बनाया जाता है तथा उसका आना एक अशुभ कदम माना जाता है, इसे पिछड़ा रहने के लिए बाध्य किया जाता है, इन सबसे मुक्त होना चाहिए। पितृसत्तात्मक समाज पूंजीवाद का प्रतीक रहा है जिस प्रकार पूंजीपति शोषण करता है, क्योंकि उसके पास धन है, शक्ति है, सारी व्यवस्था उस पर निर्भर है, इसी प्रकार पुरुष धन लाता है जिससे गृहस्थी की व्यवस्था चलती है। घर के स्त्री सदस्य धन के लिए उसका मुंह देखते हैं। यही निर्भरता की भावना पुरुष को शासक बना देती है और शोषण करने का भाव

पैदा होता है। पूंजीवादी व्यवस्था के संस्कार समाज के स्त्रियों, पुरुषों में बहुत गहरे तक पैठे हुए हैं। उससे मुक्त होना आवश्यक है। स्त्री को परिवार, समाज में पुरुष के बराबर दर्जा मिलना चाहिए। पढ़ने-लिखने का समान अवसर मिलना चाहिए और पढ़ लिखकर हर स्त्री को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने की ओर प्रवृत्त होना चाहिए।''[48] आज स्त्री की आजादी स्त्री की उच्छृंखलता से माना जाता है, जबकि स्त्री अपनी आजादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था से चाहती है।

पितृसत्ता के बदलते स्वरूप को 'मुझे चांद चाहिए' उपन्यास में देखा जा सकता था। एक समय था जब स्त्रियों का पढ़ना-लिखना वर्जित था। आज इस बदलते समय में स्त्री पढ़-लिख कर अपनी पहचान बना रही है। 'मुझे चांद चाहिए' की वर्षा वशिष्ट अपनी पहचान बनाती है। वह बचपन से अपने मां बाप के घर में ही चेतनशील दिखती है। उसे अपना नाम पसंद नहीं होता है तो उसे वह बदल देती है। पिता के पूछे जाने पर वह तर्कपूर्ण उसका जबाव देती है। इसके अलावा जब पिता उसके लिए विवाह तय करते हैं तो वर्षा विरोध करती है। वह कहती है उसे किसी दुहाजू से विवाह नहीं करना है। भाई वर्षा को समझाते हुए कहता है '' मानता हूं कि अनमोलजी के साथ तुम्हारा संबंध बहुत उपयुक्त नहीं है। लेकिन जिस चीज के सहारे हमारे समाज में संबंध तय होते हैं, उसकी हमारे घर में बहुत कमी है। मेरा बस चले, तो मैं अपनी खाल बेचकर भी तुम्हारे लिए योग्य वर जुटाऊँ। पर ऐसा हो नहीं सकता और भाग्य की बात है कि तुम्हारा रंग-रूप गायित्री के जैसा नहीं है। अब तुम्ही बताओं, हम क्या करें?''[49] वर्षा कहती है ''आयु के जिस मोड़ पर मैं खड़ी हूँ, उसमें शादी मुझे उतने महत्व की नहीं लगती, जितना अपने पाँवों पर खड़ा होना लगता है। यह तुम क्या कह रही हो ? वंश की एक परंपरा होती है। उसके खिलाफ आदमी कैसे जा सकता है ? अगर चारा न हो, तो जाना ही होगा। वर्षा ने उत्तर दिया, यह मैं मानती हूँ कि मेरी वजह से घर के लोगों को बाहर दो बातें सुननी पड़ेगी, लेकिन ऐसा होना मेरी मजबूरी होगी। भाई सिगरेट की राख झाड़कर कुछ क्षण चुप रहे। फिर बोले, तुम इस तरह ब्याह के विरुद्ध क्यों हो? उस जीवन में मेरे लिए आकर्षण नहीं। यह तुम कैसी ऊटपटांग बातें कर रही हो ? भाई बौखला गये। वर्षा ने साहस करके स्पष्टीकरण दे दिया, कुपात्र के साथ बंधने से अकेले रहना अच्छा है।''[50] यह एक स्त्री का प्रतिरोध ही है। वर्षा को पसंद नहीं तो वह साफ मना करती है। एक समय था जब स्त्री को किसी के साथ एक गाय की तरह खूँटे से बांध दिया जाता था और स्त्रियाँ चुप रहती थी। वहीं सुरेन्द्र वर्मा एक ऐसे स्त्री पात्र को चित्रित करते हैं जो अपने लिए लड़ना जानती है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में अगर कोई स्त्री इस तरह की बात करती है तो यह बड़ी बात है।

'छिन्नमसता' की प्रिया भी कहती है '' नरेन्द्र मैं पैसों के लिए काम नहीं कर रही। फिर किसलिए काम कर रही हो ? सुबह से रात तक फिरकी की तरह नाचती हो, किसलिए ? हाँ, बोलो, जवाब दो ? अपनी आइडेंटिटी, व्यक्तित्व के विकास के लिए...रात दिन पोथे पढ़-पढ़कर और

पगला गई हो। आखिर तुम ऐसी कौन-सी जीनियस हो प्रिया ? तुम क्या मदाम क्युरी हो या फ्लोरेंस नाइटेंगल बन जाओगी ? एक घर-गृहस्थी वाली साधारण औरत हो ऐसा तो कोई रूप भी नहीं...दो अक्षर पढ़ क्या लिए...? मैंने कब कहा कि मैं जीनियस हूँ। कब मैंने अपनी प्रशंसा की ? मगर क्या एक साधारण तरीकों से भी जीने का अधिकार नहीं ? काम की दुनिया मुझे ताकत देती है। काम के कारण मेरा आत्मविश्वास बढ़ता है। नरेन्द्र, तुम हर समय मेरे आत्मविश्वास को क्यों तोड़ते रहते हो ?... ।''[51] आज की स्त्री अपनी बात रखना जानती है। प्रिया पी-एच. डी. की होती है। वह जानती है कि उसका भविष्य किस तरह बेहतर हो सकता है इसलिए प्रिया अपने बेहत्तर भविष्य के लिए आगे बढ़ जाती है। समकालीन समय में जो भी स्त्री चरित्र गढ़ी जा रही है। वह सशक्त रूप में आती है तथा पितृसत्ता जैसी व्यवस्था को चुनौती दे रही है।

अमरकांत द्वारा रचित उपन्यास 'सुन्नर पांडे की पतोह' उपन्यास की स्त्री पात्र राजलक्ष्मी भी पितृसत्ता को चुनौती देती है। वह एक ऐसी स्त्री है जो गलत को सहती नहीं है बल्कि पूरी ताकत के साथ उसका विरोध करती है। इस उपन्यास में ऐसे कई दृश्य देखने को मिलता है। राजलक्ष्मी की शादी के बाद से उसका एक नया नाम मिलता है-- सुन्नर पांडे की पतोह । वैसे भी शादी के बाद ज्यादातर स्त्रियों का नाम बदल जाता है। इस उपन्यास में अमरकांत ने वही दिखाया है। 'मुझे चांद चाहिए' में स्त्री सशक्तिकरण का चित्रण सुरेन्द्र वर्मा ने किया है। बहन गायित्री को बासी रोटी खाकर सोते हुए देखा तो वह अपने पिता के बारे में सोचती है। इस उपन्यास में सिलबिल अपने पिता का विरोध करती हुई कहती है ''जब सामर्थ्य नहीं थी, तो ताबड़तोड़ बच्चे क्यों पैदा किये ? परिवार नियोजन क्यों नहीं किया ? इतने तो तरीके हैं !''[52] रेखा कस्तवार हंस के हवाले से लिखती हैं ''असाधारण व्यवसाय एवं निर्णायक भूमिका वाले पदों पर आई स्त्रियों ने एक नई स्त्री को जन्म दिया है जो पिछले पन्द्रह वर्षों में दृश्यमान हुई है। यह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर, अपनी उपलब्धियों पर गर्व करनेवाली, आत्मविश्वास, अधिकार और समृद्धि से भरी 'पावर वूमेन' है जो पुरुषों की भी बॉस हो सकती हैं।...अब परिवार में उसकी बात सुनी जाती है, बच्चों की शिक्षा एवं घर के रख-रखाव, व्यवस्था के बारे में भी पति की टीका-टिप्पणी कहीं कम हुई है। दूसरे शहर में नौकरी के लिए निकली स्त्री पति या पिता के घर से अलग घर बनाती दृश्यमान हुई है। उसने अपने लिए भी सोचना और जीना सीखा है। पुरुष सहकर्मी के समान क्षमता साबित करने हेतु उसने कड़ी मेहनत की है और अपनी क्षमता को मात्र जैविक इकाई (स्त्री) से भिन्न 'व्यक्ति' के रूप में स्थापित करने हेतु जी-तोड़ मेहनत की है। समाज में पुरुष से समानता की आकांक्षी इस स्त्री ने अपने लिए जगह बनानी चाही है।''[53] यानि स्त्री अपना जीवन जीना सीख रही है। वह अकेले दूसरे शहरों में रहने लगी। अपने अधिकारों के प्रति सजग हो रही है। यह एक स्त्री का प्रतिरोध ही है कि घर का काम सिर्फ एक स्त्री ही क्यों करें?, पुरुष क्यों नहीं कर सकता?

21 वीं सदी में एक नए स्त्री का जन्म हुआ। आज की स्त्री आर्थिक रूप से संबल हुई। वह घर-बाहर अपनी पहचान बना रही है। लेकिन वह घर से बाहर जद्दोजहद भी कर रही है। ये पितृसत्ता का बदलता स्वरूप ही है जो स्त्री को एक नए तरीके से प्रताड़ित कर रही है। स्त्री जिसे आजादी मानती है, वह भी पितृसत्ता की सोची समझी एक चाल है ।आज 'पावर वूमेन' की बात की जा रही है, यह 'पावर वुमन' अपनी जिन्दगी को अपने तरीके से जीने के लिए आजाद हुई है, लेकिन क्या समाज में आज स्त्री का शोषण नहीं हो रहा है? स्त्रियाँ आज सबसे ज्यादा शोषित हो रही हैं। स्त्रियाँ समय के साथ स्वयं को बदल चुकी लेकिन पुरुष मानसिकता अभी भी वहीं की वहीं है यानि पितृशाही है। स्त्री को आजादी तो मिली है लेकिन आज कितने प्रतिशत स्त्री अपने अनुसार जीवन जी रही है यह भी देखने की जरूरत है।

अगर हम 50 वर्षों का आँकड़ा उठा कर देखें तो आज भी उसका अनुपात बहुत कम है। स्त्रियाँ भी वर्गों में बंटी हुई हैं। खेतों में काम करने वाली या मजदूर स्त्री शुरू से आजाद रही है। मेहनतकश रही है तथा अपने पति पर कम निर्भर रहती है। इस तरह की स्त्रियाँ अपने घर-परिवार को खुद चलाने में सक्षम रही हैं क्योंकि ये आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होती हैं। मध्यवर्गीय स्त्री अपने पति पर परजीवी रहती हैं। आर्थिक रूप से पति या पिता पर निर्भर होती हैं। रूढ़िवादी अंधविश्वास इनके यहां ज्यादा होता है। एक तरह से स्त्री का जन्म ही प्रतिरोध है। पितृसत्ता का स्वरूप पहले की तुलना में बदला है। एक समय था जब स्त्री चारदीवारी में कैद रहती थी या कह सकते हैं कि स्त्री को चारदीवारी में कैद कर रखा जाता था वहीं आज स्त्री कहाँ से कहाँ पहुँच चुकी है। आज सभी क्षेत्र में स्त्री पुरुष के बराबर काम कर रही है। वह पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिला कर आगे बढ़ रही है। आज स्त्री सिर्फ डॉक्टर, इंजीनियर ही नहीं बल्कि समाज के विविध क्षेत्रों में अपनी पहचान स्थापित कर रही है।

संदर्भ ग्रंथ

[1] डॉ विशम्भरनाथ उपाध्याय, समकालीन कहानी की भूमिका, पृष्ठ संख्या - 2

[2] डॉ नरेन्द्र मोहन, समकालीन कहानी की पहचान, प्रस्तावना, पृष्ठ संख्या -7

[3]गंगा प्रसाद विमल, समकालीन कहानीः दिशा और दृष्टि, लेख- समकालीन कहानी -जीवन दृष्टि का परिप्रेक्ष्य, पृष्ठ संख्या-166

[4]नंदकिशोर नवल, समकालीन काव्य यात्रा, पृ-8, भूमिका से

[5] विश्वभरनाथ उपाध्याय, सकालीन सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ संख्या -16

[6] वागर्थ, अंक 209, दिसम्बर 2012, पृष्ठ संख्या -48

[7] वागर्थ, अंक, 2009, दिसम्बर, 2012, पृष्ठ संख्या -48-49

8 सिमोन द बोउवार, स्त्री उपेक्षिता, पृष्ठ संख्या -121

[9] राजेन्द्र यादव, प्रभा खेतान, अभय कुमार दुबे, पितृसत्ता के नए रूप, पृष्ठ संख्या -16

[10] रमणिका गुप्ता, स्त्री विमर्शः कलम और कुदाल के बहाने, पृष्ठ संख्या -11

[11] तसलीमा नसरीन, औरत का कोई देश नहीं, पृष्ठ संख्या-13

[12] रेखा कस्तवार, स्त्री चिन्तन की चुनौतियां, पृष्ठ संख्या -18

[13]सं.अभय कुमार दुबे, भारत का भूमंडलीकरण, पृष्ठ संख्या -222

[14]सं.राजेन्द्र यादव, प्रभा खेतान,अभय कुमार दुबे, पितृसत्ता के नये रूप, पृष्ठ संख्या -86

[15] वही, पृष्ठ संख्या -21

[16] सीमोन दा बउवार, स्त्री उपेक्षिता, पृष्ठ संख्या -5

[17] कथादेश, मार्च 2018, पृष्ठ संख्या -25

[18] रमणिका गुप्ता, स्त्री-विमर्शः कलम और कुदाल के बहाने, पृष्ठ संख्या -13

[19] कुमुद शर्मा, आधी दुनिया का सच, पृष्ठ संख्या -60

[20] वही, पृष्ठ संख्या -61

[21] प्रभा खेतान, भूमंडलीकृत मीडिया और स्त्री, पृष्ठ संख्या -232

[22] शरद सिंह, पिछले पन्ने की औरतें, पृष्ठ संख्या -186

[23] सं-राजकिशोर, अश्लीलता का हमला, संपादक की बात से

[24] बया, 2006, पृष्ठ संख्या -30

[25]प्रभा खेतान, भूमंडलीकृत मीडिया और स्त्री, पृष्ठ संख्या -236

[26]रेखा कस्तवार, स्त्री चिन्तन की चुनौतिया, पृष्ठ संख्या -135

[27] वही, पृष्ठ संख्या -135

[28] रेखा कस्तवार, स्त्री चिन्तन की चुनौतिया, पृष्ठ संख्या -135

[29] वही, पृष्ठ संख्या -135

[30] वही, पृष्ठ संख्या -134

[31]सं-अरविन्द जैन, लीलाधर मडलोई लेख लीलाधर मडलोई, स्त्री मुक्ति का सपना, पृष्ठ संख्या -28

[32] वही, पृष्ठ संख्या - 28

[33]जयप्रकाश त्रिपाठी, मीडिया हू मैं, पृष्ठ संख्या -412

[34] अरविन्द जैन, वसुधा,59-60, लेख, पृष्ठ संख्या -19

[35] देवेंद्र इस्सर, स्त्री मुक्ति के प्रश्न, पृष्ठ संख्या -101

[36] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या-185

[37] वही, पृष्ठ संख्या-189

[38]रेखा कस्तवार, स्त्री चिन्तन की चुनौतियां, पृष्ठ संख्या -53

[39]सरला माहेश्वरी, नारी प्रश्न, पृष्ठ संख्या -93

[40]सं-राजेन्द्र यादव, प्रभा खेतान, अभय कुमार दुबे, पितृसत्ता के नये रूप, पृष्ठ संख्या -21

[41] कथादेश, मार्च 2018, पृष्ठ संख्या -10
[42] वही, पृष्ठ संख्या -10
[43] वही, पृष्ठ संख्या -12
[44] रमणिका गुप्ता, स्त्री-मुक्ति संघर्ष और इतिहास, पृष्ठ संख्या -48
[45] कमला भसीन, पितृसत्ता क्या है, पृष्ठ संख्या -41
[46] सं-साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता, नारीवादी राजनीति संघर्ष और मुद्दे, पृष्ठ संख्या -1-2
[47] कमला भसीन, पितृसत्ता क्या है, पृष्ठ संख्या -1
[48] राम विलास शर्मा, स्त्री मुक्ति के प्रश्न, पृष्ठ संख्या -61
[49] मुझे चांद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ संख्या -42-43
[50] वही, पृष्ठ संख्या -43
[51] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -185
[52] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या -21
[53] रेखा कस्तवार, स्त्री चिन्तन की चुनौतिया, पृष्ठ संख्या-92

अध्याय-3

पुरुष उपन्यासकारों की दृष्टि में स्त्री-जीवन के विविध पक्ष

3.1. पारिवारिक दायित्व और पति पत्नी संबंध

3.2. स्त्री मुक्ति का प्रश्न

3.3. स्त्री यौनिकता और दैहिक मुक्ति का प्रश्न

3.4. चयन और निर्णय का अधिकार

3.5. प्रेम, विवाह और विवाहेत्तर संबंध

3.6. माँ, बहन, पुत्री, पत्नी, प्रेयसी के विविध रूप

3.7. स्त्री के सामाजिक, सांस्कृतिक सरोकार

पुरुष उपन्यासकारों की दृष्टि में स्त्री-जीवन के विविध पक्ष

स्त्री एक ऐसा शब्द है जिसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। कुछ लोगों की निगाह में वह एक 'देह' है तो कुछ लोगों के लिए सिर्फ एक शब्द। इसका इस्तेमाल प्रत्येक लोग अपने तरीके से करते हैं। बहुत कम लोग उसे मनुष्य के रूप में स्वीकार करते हैं। राजेन्द्र यादव का कहना है ''सच तो यह है कि हमारे सारे परम्परागत सोच में नारी को दो हिस्सो में बाँट दिया गया है। कमर से ऊपर की नारी और कमर से नीचे की औरत। हम पुरुष को उसकी सम्पूर्णता में देखते हैं, उसकी कमियों और कमजोरियों के साथ उसका मूल्यांकन करते हैं। नारी को हम सम्पूर्णता में नहीं देख पाते। कमर से ऊपर की नारी महिमामयी है, करुणा-भरी है, सुन्दरता और शील की देवी है, वह कविता है, संगीत है, अध्यात्म है और अमूर्त है। कमर से नीचे वह काम-कन्दरा है, कुत्सित और अश्लील है, ध्वंसकारिणी है, राक्षस है और सब मिलाकर नरक है।''[1]

भारतीय समाज में सामंतवादी और पितृसत्तात्मक व्यवस्था शुरू से अपनी गहरी जड़ें जमाए हुई हैं जिसमें स्त्रियाँ पारंपरिक बेड़ियों में जकड़ी हुई तथा चारदीवारी में कैद होकर रह गई थी, जिसके कारण बाहरी दुनिया की आबो-हवा से अछूती थी। आज 21वीं सदी में स्त्री अपनी आवाज को बुलन्द कर रही है तो ऐसे समय में लेखकों द्वारा स्त्रियों को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास उसके साथ न्याय कर पा रहा है? इसे देखने और समझने की हमें जरूरत है। आज स्त्री विमर्श का युग है। इस युग में स्त्री को जीवन में थोड़ी सहूलियत मिली है। पहले स्त्री जिस तरह से पितृशाही समाज में गुलाम थी आज वह कुछ हद तक आजाद दिखती है। आज स्त्री शिक्षित हो रही है। शिक्षित होकर स्त्री अपनी पीड़ा को लिख रही है। आज वह शिक्षित, आत्मनिर्भर और अपने अधिकारों के प्रति सचेत है, अपनी अस्मिता और अस्तित्व की लड़ाई स्वयं लड़ रही है और सफल भी हो रही है। वह आज हर क्षेत्र में अपनी पहचान बना रही है तथा पुरुषों के साथ कंधा से कंधा मिलाकर चल रही है। वैसे भी स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। पुरुष किसी न किसी रूप में (पिता, पति, प्रेमी आदि) स्त्री के करीब रहता है तो वह स्त्री मन की पीड़ा को भी अच्छी तरह से समझता है। यही कारण है कि जब स्त्री अस्मिता, स्त्री संघर्ष को केन्द्र में रखकर वर्तमान में कई उपन्यास लिखे जा रहे हैं तो यह सिर्फ स्त्री उपन्यासकारों द्वारा ही नहीं बल्कि पुरुष द्वारा भी उनके उपन्यासों में आ रहा है। दरअसल समकालीन समय में स्त्री विमर्श की बात करें तो वह दो ध्रुवों पर टिका हुआ दिखता है। एक ओर तो परंपरा से बंधी स्त्री की छवि दिखाई पड़ती है तो दूसरी ओर होम ब्रेकर यानि अति आधुनिक स्त्री की छवि। वास्तव में पितृसतात्मक समाज ने स्त्री को कभी स्त्री के रूप में रहने ही नहीं दिया। वह हमेशा पुरुष के अधीन बनकर रही। भूमंडलीकरण के कारण स्त्री की सामाजिक स्थिति में बदलाव आया। अब स्त्री खुले आकाश में सांस लेने लगी है। डॉ

ज्योति किरण लिखती हैं ''भूमंडलीकरण ने एक नई औरत को जन्म अवश्य दिया लेकिन वह नए मर्द को जन्म नहीं दे पाया जो इस 'पावर वूमेन' के साथ नए तरह के नर-नारी संबंधों का सिलसिला शुरू कर सकता। पहले नारी घर के भीतर बिना किसी पारिश्रमिक और छुट्टी के आजन्म निरंतर श्रम करने के लिए विवश थी। आधुनिकता की तासीर और नारीवादी आंदोलनों ने सदियों की स्त्री-विषयक (विरोधी) धारणाओं को बेनकाब कर दिया। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक समीकरण इस प्रकार बने जिसमें स्त्री-श्रम को बाजार तक पहुँचाने की शुरुआत हुई। ऐसे दौर में मुक्ति की दिशा और दशा बदली भी है और बिगड़ी भी है। यह एक ऐसी समस्या है जिसे झुठलाना या नकारना संभव नहीं है। हिन्दी के उपन्यासकारों की मानवीय सहानुभूति केवल भोगे हुए यथार्थ तक सीमित नहीं है, वह उपेक्षित, शोषित, दलित, सामान्य जन-जीवन की ओर उन्मुख होकर उनका संवेदनशील चित्रांकन करने में भी रस लेता है।''[2] इस तरह से उपन्यास मानव जीवन को समग्रता में अभिव्यक्त करने की शक्ति रखता है। प्रेमचंद पूर्व से लेकर आज तक उपन्यास के विकास में अनेक बदलाव आए हैं। आज स्त्री विमर्श के समय में स्त्री-जीवन को केन्द्र में रखकर पुरुष उपन्यासकार भी कई उपन्यास लिख रहे है जहाँ स्त्री उन्मुक्त रूप में आती है तो कभी-कभी समझौता परस्त के रूप में। पुरुष तो शुरु से उपन्यास लिख रहे थे उनका लेखन आज से नहीं बल्कि वर्षों पुराना है। उपन्यास का जब से उदय हुआ है तब से इसे हम देख सकते हैं। पुरुष लेखन शुरू से ही समृद्ध रहा है। कोई भी उपन्यास लिखा जाए उसमें स्त्री पात्र तो होती ही है। अब यह देखना है कि जो पुरुष उपन्यासकार के द्वारा उपन्यास लिखा जा रहा है उसमें स्त्री कहाँ ठहरती है? उसका चरित्र-चित्रण कैसे किया जाता है? पुरुष उपन्यासकार के द्वारा स्त्री-जीवन किस तरह से अभिव्यक्त किया जाता है? क्या स्त्री के भोगे यथार्थ को पुरुष उपन्यासकार अपने उपन्यास में ठीक से व्यक्त करते थे? साथ ही साथ यह भी देखने की जरुरत है कि स्त्री-जीवन के विविध पक्ष को कितने ईमानदारी से पुरुष उपन्यासकार अपने उपन्यासों में रेखांकित कर रहे हैं? क्या उनके यहाँ स्त्री-जीवन सम्पूर्णता में व्यक्त होता है? इन सारे मुद्दों पर इस अध्याय में बात की जाएगी।

समकालीन उपन्यासकार मनोहर श्याम जोशी के 'हमजाद' उपन्यास में स्त्री के बीभत्स स्वरुप का वर्णन मिलता है। इस उपन्यास में भारतीय समाज में आजादी के बाद उभरी मध्यवर्ग की युवा पीढ़ी की महत्वाकांक्षाओं और यौन-कुंठाओं की कहानी है। इस उपन्यास में पुरुष अपनी व्यावसायिक सफलता और वासना की पूर्ति के लिए स्त्री को सबसे सस्ते साधन के रूप में इस्तेमाल करता है।

समकालीन समय में पुरुषों द्वारा जो भी उपन्यास लिखे जा रहे हैं उसमें स्त्री-जीवन के विविध पक्ष जैसे पति- पत्नी के बनते बिगड़ते संबंध को रेखांकित किया जा रहा है। आज स्त्री मुक्ति की बात भी पुरुष उपन्यासकार के उपन्यासों का प्रमुख मुद्दा है। भूमंडलीकरण ने आज पूरी दुनिया

को एक जगह लाकर सीमित कर दिया है। आज के समय में घर बैठे लोग देश-दुनिया की खबरें जान पा रहे हैं। ऐसे समय में स्त्री के जीवन में भी बहुत बड़ा बदलाव आया है। इसे स्त्री हो या पुरुष झुठला नहीं सकता। कई ऐसे पुरुष उपन्यासकार हैं जो स्त्री-जीवन के हर एक पक्ष पर निरपेक्ष होकर लिख रहे हैं वहां उनकी पुरुष मानसिकता हावी नहीं होती। एक महत्त्वपूर्ण लेखक वही कहलाता है जो अपनी रचना में अपनी विकृत मानसिकता को न परोसे। रचनाकार को हमेशा निष्पक्ष होना चाहिए। इसी संदर्भ में हम विष्णु प्रभाकर कृत 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास को देख सकते हैं। इस उपन्यास में जिस समस्या को रेखांकित किया गया है वह समस्या आज के समाज की एक ज्वलंत समस्या है। आज भी हमारे समाज में बलात्कार की घटनाएं कम नहीं होती। जहाँ स्त्री के शरीर के साथ उसकी आत्मा भी कुचली जाती है। जिस समस्या का निराकरण नहीं हो पा रहा है और समाज आज भी इस समस्या से जूझ रहा है। इस उपन्यास की नायिका बलात्कार से पीड़ित औरतों की मानसिकता पर शोध करती है। जबकि वह खुद बलात्कार के पीड़ा को भुगत चुकी होती है। किस तरह एक स्त्री बलात्कार के बाद अपने मानसिक स्थितियों से जूझती है। कुछ स्त्री आत्महत्या कर लेती है तो कुछ सशक्त होकर अपने जीवन में आगे बढ़ जाती हैं। इस तरह के मुद्दों पर भी पुरुष का कलम चला है। यानि एक पुरुष उपन्यासकार स्त्री के भावनाओं को सही ढंग से अभिव्यक्त कर सकता है लेकिन वह उसका अपना भोगा यथार्थ नहीं होता है। यहीं पर आकर स्त्री और पुरुष लेखन अलग हो जाती है। स्त्री जो भी लिखती है वह उसका भोगा हुआ सत्य होता है। उसमें उसकी अपनी पीड़ा की अनुभूति होती है। ''दरअसल जब औरत भोगा हुआ सच लिखती है तो उसमें एक अनुभूति की प्रमाणिकता आती है। वह कल्पना का सहारा लेता है पर अनुभूति की ईमानदारी और सच्चाई भोगे हुए सच में ही होती है। उसमें जीवन्तता होती है।''[3]

यही वह समाज है जहाँ एक ओर स्त्री को देवी के रूप में पूजा जाता है तथा दूसरी ओर उसके साथ बलात्कार भी किया जाता है। यह सामाजिक विडम्बना ही है-जहाँ स्त्री जघन्य पीड़ा का शिकार होती है। ऐसी घटनाओं पर अब स्त्रियों ने भी अपना कलम चलाना शुरू कर दिया है।

3.1.पारिवारिक दायित्व और पति-पत्नी संबंध

परिवार में पति-पत्नी का स्थान गाड़ी की पहिए के समान होता है। जिस प्रकार पूरी गाड़ी का भार पहिए पर निर्भर होता है, परिवार में वही स्थिति पति-पत्नी की भी होती है। अगर पति-पत्नी का संबंध मधुर न हो तो परिवार रूपी गाड़ी को आगे ले जाना कठिन होता है। उसी तरह अगर पति-पत्नी अपने दायित्व और कर्त्तव्य का ठीक से पालन नहीं करते हैं तो परिवार में न तो खुशी हो सकती है और न ही परिवार फल-फूल सकता है। अतः इस तरह के परिवार को टूटने में ज्यादा समय नहीं लगता। देखा यह जाता है कि भारतीय समाज में पति-पत्नी अपने दायित्व और

कर्त्तव्य के प्रति विशेष रूप से सतर्क रहते हैं। पुरुष अधिकांशतः घर से बाहर रहता है, इसलिए उसके कार्य का प्रभाव परिवार पर स्त्री की अपेक्षा कम होता है। ऐसा माना जाता है कि पत्नी परिवार के लिए रीढ़ की हड्डी होती है। उसके बिना परिवार का काम दो दिन भी नहीं चल सकता। इसलिए भारतीय समाज में पत्नी की मर्यादा, कर्त्तव्य और दायित्व पति से भी अधिक होता है लेकिन समकालीन परिदृश्य बदल रहा है। आज का युग आधुनिक युग है और इस युग में स्त्री शिक्षित हो रही है। परिवार के दायित्व को निभाने का काम सिर्फ स्त्री का नहीं है। आज के समय में स्त्री एक ऐसे जीवन साथी की कल्पना करती है जो हर कदम पर उसके साथ रहे। पारिवारिक दायित्व में उसकी सहायता करे। आज ज्यादातर स्त्रियाँ नौकरीपेशा हैं ऐसे में परिवार की जिम्मेदारी पूरी तरह से एक स्त्री का उठाना मुश्किल है। इसलिए स्त्री आज सोचती है कि उसका पति उसके साथ पारिवारिक दायित्व में हाथ बँटाए। रमणिका गुप्ता लिखती हैं ''स्त्रियों का नौकरी और राजनीति तथा आंदोलन में आने के कारण घर में समय देना कम हो गया जिसका दबाव पारिवारिक रिश्तों पर पड़ा। परिवार में विघटन, बच्चों का लावारिस-सा हो जाना, पुरुष-वर्ग द्वारा घर की देख रेख से एकदम कन्नी काटना...परिवार और पारिवारिक रिश्तों, मूल्य-बोध, दाम्पत्य जीवन पर पड़ा। पहले पुरुष स्वतंत्र था। देर-सबेर आने या कहीं जाने में घर में कोई सवाल नहीं पूछता था। औरत केवल बिसूरती थी या चिन्ता करती थी। अब वह सवाल पूछने लगी और अपने लिए भी उसी आजादी की अपेक्षा रखने लगी, जिसे सहन करने की मानसिकता पुरुष अभी तक पाल नहीं पाया था। दांपत्य में तनाव, शंका की कड़वाहट, अलगाव, कुंठा, समय का अभाव बच्चों पर भी पड़ने लगा। वास्तव में पुरुष समाज आज भी इस बदलाव को सहजता से नहीं ले पा रहा है-- विशेषकर मध्यवर्गीय पुरुष समाज। वह मित्रों के बीच अपनी पत्नी को पढ़ी-लिखी वाक्-पटु-साथ ले जाने लायक तो देखना चाहता है लेकिन घर में अकेले में उसे सहनशील, स्वामीभक्त, पति-परायण, चूल्हा-चौका संभालने में निपुण भी देखना चाहता है।''[4]

सदियों से जिन ऊँचाइयों पर पुरुष विराजमान रहे हैं और जहाँ पुरुषों का वर्चस्व रहा है वहां स्त्रियाँ भी पहुंच रही हैं। ऐसी स्थिति में बहुत ही ईमानदारी और जिम्मेदारी के साथ अपने पारिवारिक दायित्व को निभाना कठिन है और यह काम सिर्फ एक स्त्री का ही नहीं बल्कि एक पुरुष का भी बनता है। कहा जाता है कि आज स्त्री महत्वकांक्षी हो गई है। डॉ ज्योति किरण का कहना है कि ''आधुनिक शिक्षा-दीक्षा और घर से बाहर निकलने की चाह ने आधुनिक नारी को अत्यधिक महत्वाकांक्षी बना दिया है। आज वह घर की चारदीवारी में बंद रहने की अपेक्षा बाहरी मोर्चे पर सक्रिय रहना चाहती है। इन अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए उसका समाज से टकराना स्वाभाविक है। इस तरह उसके जीवन में संघर्ष की शुरुआत हो जाती है। बाहरी जीवन की चकाचौंध और भाग-दौड़ उसके दांपत्य-संबंधों में दरारें डाल देती हैं और उसका पारिवारिक जीवन

छिन्न-भिन्न हो जाता है।''[5] यह विचारणीय प्रश्न है लेकिन हमें यह देखने की जरूरत है कि यह कहाँ तक सही है? यह दोष सिर्फ एक स्त्री पर ही क्यों? पुरुष पर क्यों नहीं ? क्या पुरुष महत्वकांक्षी नहीं होते ? घर-परिवार को सही ढंग से चलाने का काम सिर्फ स्त्री ही क्यों उठाए ? पुरुष क्यों नहीं कर सकता है? वह इसलिए की समाज में पुरुषों का वर्चस्व है?

सत्ता उसी की है तो निर्णय लेने का अधिकार शुरु से पुरुष ने अपने हाथ में रखा है। स्त्री मानसिक, शारीरिक हर एक स्तर पर उपेक्षा का भाव झेलती रही है। इस हिसाब से पुरुष हमेशा सेफ जोन लेकर चलता है। घर की जिम्मेदारी स्त्री की अपेक्षा पुरुष का भी उतना ही होना चाहिए। क्योंकि पति-पत्नी का संबंध एक रागात्मक संबंध होता है? जीवनरूपी गाड़ी के दो पहिए स्त्री और पुरुष दोनों होते हैं। किसी एक के बिना जीवन की गाड़ी आगे नहीं बढ़ती। पारिवारिक दायित्व भी वैसे ही होते हैं तथा पति-पत्नी संबंध भी उसी तरह के होने चाहिएं । पति की जितनी जिम्मेदारी अपने परिवार की देख-भाल का होता है उतना ही अपने पत्नी के प्रति होना चाहिए। आज सामाजिक संबंध के साथ ही साथ पारिवारिक और पति-पत्नी संबंध में भी बाजार का घुसपैठ हो गया है। आज पति यदि अपनी पत्नी की इच्छाओं का खयाल नहीं रखता है तो तलाक होने में देर नहीं लगती। वह समय चला गया कि पति शराब पीकर पत्नी को पीटे और पत्नी पति परमेश्वर की भावना से विरोध ही न कर पाए। यह बात देश के हर वर्ग की स्त्री पर लागू नहीं होती, क्योंकि आज भी बहुत सी ऐसी स्त्रियाँ हैं जो पुरुषों का शोषण सह कर अपना गुजारा कर रही हैं। जिसमें अशिक्षित स्त्रियों की संख्या ज्यादा है जो पढ़ी-लिखी और आर्थिक रूप से मजबूत हैं वह भी कभी न कभी पुरुषों द्वारा शोषित होती हैं। जो आर्थिक रूप से कमजोर है वह विद्रोह कर ही नहीं पाती। आज भी बहुत सारे ग्रामीण क्षेत्र में स्त्री को घूंघट में रहना पड़ता और पुरुषों का पैर दबाना ही उनकी नियति बनी हुई है। आज महानगरों में पति-पत्नी के संबंधों में काफी बदलाव आया है। शहर में ज्यादातर स्त्री और पुरुष, यानी पति और पत्नी दोनों कामकाजी होते हैं। स्त्रियाँ भी आर्थिक रूप से संबल हुई हैं और अधिकांश पढ़ी-लिखी होती हैं। ऐसे में पति और पत्नी दोनों की जिम्मेदारी होती है परिवार रूपी गाड़ी को चलाने में। इसकी एक झलक 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास में आनंद भारती और शिवानी के रिश्ते को लेकर देख सकते हैं। आनंद भारती पत्रकार होता है। अपना जीवन अपने तरीके से व्यतीत करता है लेकिन जब वह शिवानी से शादी करता है तो घर का दायित्व समझता है। वह कहता है ''अपनी पत्नी शिवानी के साथ दिल्ली में जब वह आए तो इस शहर में परिवार के प्रति दायित्व की अनुभूति उन्हें पहली बार हुई। इससे पहले विवाह पूर्व भी वह घर से लड़कर दिल्ली आए थे और कुछ महीनों तक फ्रीलांसिंग करते रहे थे, पर तब उनके अक्खड़-फक्कड़ स्वभाव के लिए ज्यादा टीम-टाम की जरूरत नहीं थी। 'जहाँ चार यार मिल जाएँ, वहीं रात दें गुजार' की तर्ज पर आनंद भारती बेफिक्र से रहते थे। पर पत्नी शिवानी के साथ

घर बसाने की कल्पना ने उन्हें जिम्मेदारियों का अहसास दिलाया था।''[6] अक्सर पत्नी के घर आने के बाद ही पुरुषों को अपनी जिम्मेदारियों का अहसास होता है। भूमंडलीकरण के दौर में रिश्तें बहुत तेजी से बदल रहे हैं और इस बदलते रिश्तों को हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त किया गया है। पति-पत्नी के रिश्तों को समझना बहुत मुश्किल है। आनंद भारती अपने रिश्ते के अच्छे पल को याद करते हैं। ''आनंद भारती जनता कॉलोनी में अपनी पत्नी के साथ खुश थे। उस मकान से उनकी सुखद और दुखद अनेक यादें हैं। इसी मकान में उनकी बेटी का जन्म हुआ था। बड़े प्यार से उसका नाम सूफी रखा था। सूफी के जन्म ने आनंद भारती को सचमुच पारिवारिक बना दिया था। शिवानी का स्नेह, बेटी की मोहक मुस्कान और आनंद भारती की नौकरी सब कुछ एक समीकरण में बंध गए थे। शिवानी भी दिल्ली आकर खुश थी। यहाँ उसका अपना स्वतन्त्र माहौल था। मासूम सी दिखने वाली शिवानी ने गृहस्थी के साथ साथ बाहर की दुनिया में भी अपना परिचय खूब बना लिया था। सब कुछ ठीक-ठाक था।''[7] इस तरह के अच्छे संबंधों में कब घुन लग जाता है इसे स्त्री और पुरुष दोनों को समझना आसान नहीं होता। उपन्यासकार प्रदीप सौरभ यह दिखाना चाह रहे हैं कि पहले पति को ईश्वर मान कर स्त्रियाँ चाहे जैसे भी अपना जीवन अपने पति के साथ ही बिता देती थी अब वैसा नहीं है क्योंकि समय के साथ चीजें बदल चुकी हैं। तभी तो शिवानी आनंद भारतीय के बदले दिनचर्या को बर्दाश्त नहीं कर पाती। आनंद भारती अपने मित्रों में व्यस्त रहने लगे तथा ट्रेड यूनियन में सक्रिय भूमिका निभाने लगे। वह भूल गए की उनकी अपनी घर-गृहस्थी है जहाँ पत्नी और बच्चे हैं। पुरुष अक्सर अपने जीवन में इस तरह के काम करते हैं। जिसका नतीजा होता है कि घर में खटपट शुरु हो जाती है। पति को कभी सहन नहीं होता है कि उसकी पत्नी उससे तू-तड़ाक से बात करे। ''गृह-कलह में शिवानी आम पत्नी की तरह तू-तड़ाक करे, ऐसा तो आनंद भारती बर्दाश्त ही नहीं कर सकते थे। अपनी पत्नी को प्यार करने का जज्बा उनमें भरपूर था, पर इसके लिए वह उनके निजी जीवन में दखलअन्दाजी करे, यह बात उन्हें कतई गवारा नहीं थी। इस बीच हिरनी-सी आँखों वाली शिवानी का दायरा भी काफी बढ़ चला था। वह भी अपने अधिकारों का बेजा इस्तेमाल करने में कुशल हो गई थी।...एक बार कुछ ऐसी खास घटना हो गई जिससे दरार और बढ़ गई और शिवानी ने अपना सामान बांध मायके जाने का निश्चय कर लिया।...एक बार मायके जाने के बाद शिवानी दोबारा नहीं आई।...अपने सुंदर से घर-परिवार के इस तरह तहस-नहस होने की उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी।''[8]

पति-पत्नी का संबंध अंतरंग और घनिष्ठ होता है जिसे समझना आसान नहीं होता है। 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास प्रदीप सौरभ द्वारा लिखा एक उत्कृष्ट कोटि का उपन्यास है। इस उपन्यास में समकालीन समय के बदलते रिश्ते का चित्रण मिलता है। आनंद भारती जिस डर से मानसी से विवाह नहीं करना चाहते थे आखिर में उसी डर का सामना शिवानी के साथ करते हैं। आनंद

भारती का पत्नी शिवानी से संबंध टूट जाता है। इस टूटते रिश्ते को जोड़ने का काम मानसी करती है परंतु असफल रहती है। मानसी आनंद भारती की अच्छी दोस्त रहती है। एक तरह से मानसी आनंद भारती से विवाह करना चाहती थी लेकिन आनंद भारती जाति, सामाजिक बंदिशों के कारण मानसी से शादी नहीं करते। लेकिन एक अच्छे दोस्त रहते हैं। ''आनंद भारती को माँ से पता चलता था कि शिवानी के साथ उनके टूटते संबंधों को जोड़े रखने में मानसी, शिवानी को बेहद समझाया करती थी। फोन पर लम्बी-लम्बी बातचीत में वह शिवानी को हर बार यह अहसास दिलाती थी कि आनंद भारती अपने स्वभाव से खुरदुरे जरूर हैं पर शिवानी उनके भीतर की ऐसी डोर है, जिससे आनंद भारती अपने परिवार को बांधे रखना चाहते हैं। पर यहाँ भी वही हुआ था, जिसे आनंद भारती नहीं होने देना चाहते थे...शिवानी से उनका संबंध टूट गया था...इसी इलाहाबाद में वह शिवानी को ब्याह कर लाए थे...उसके साथ बेहद मधुर रिश्ता निभाया था...।''[9] संबंधों को बचाना किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं होता है। पति-पत्नी का रिश्ता एक अलग तरह का रिश्ता होता है। अगर इनमें से किसी एक ने सोच लिया कि साथ नहीं रहना है तो बहुत मुश्किल होता है रिश्ते को बचाना। जैसे कि आनंद भारती अपना रिश्ता नहीं बचा पाते हैं। वे नहीं चाहते थे कि उनका संबंध शिवानी से टूटे लेकिन अंतिम समय में टूट ही जाता है। दोनों अपने परिवार रूपी गाड़ी को चलाने में असफल हो जाते हैं।

आज की दुनिया आभासी है जहाँ एक क्लिक पर सब कुछ मिल सकता है। पति-पत्नी, संतान तथा भाई-बहन का संबंध कई बार जीवन भर बना रहता है लेकिन कभी कभी इनमें भी दरारें पड़ जाती हैं। इसी तरह विवाह के तुरंत बाद भी तलाक हो सकता है क्योंकि स्त्री और पुरुष दो अलग-अलग परिवेश से आते हैं। दोनों अगर समझदारी से पारिवारिक दायित्व नहीं निभाते हैं तो पति-पत्नी संबंध टूटने में समय नहीं लगता है। पति-पत्नी के बीच मजबूत रिश्ते की नीव आपसी समझदारी और एक दूसरे के विश्वास पर टिका होता है। अगर संबंधों में विश्वास न हो तो वह संबंध ज्यादा मजबूत नहीं होता है। आशा रानी व्होरा का मानना है कि ''जब इस विश्वास को ही विवाह-पूर्व या विवाहेतर संबंधों से ठेस लगती है तो दाम्पत्य जीवन की शांति भंग होना अनिवार्य है। फिर चाहे पत्नी द्वारा बच्चों की खातिर अथवा अन्य किन्हीं मजबूरियों के तहत उसे नजरअंदाज कर दिया जाए या आधुनिक पति द्वारा तथाकथित प्रगतिशीलता का मुखौटा लगाकर झूठी उदारता दिखाने का असफल प्रयत्न किया जाए, संबंधों की स्निग्धता उन के बीच आ ही नहीं पाती है।''[10] एक तरह से पति-पत्नी के बीच विश्वास और एक दूसरे के प्रति वफादारी ही महत्वपूर्ण होता है जो दाम्पत्य जीवन को बचाए रखता है। इसके टूटते ही वैवाहिक जीवन में भूचाल आ जाता है। इसे बनाए रखने की जिम्मेदारी दोनों की होती है।

पीड़ित स्त्री घर-परिवार और सामाजिक दंश को झेलती है। इस तरह की समस्याओं का सामना स्त्री को घर में तो करना ही पड़ता है साथ ही घर के बाहरी समाज में भी करना पड़ता है। इसी तरह की कहानी अमरकांत कृत उपन्यास 'सुन्नर पांडे की पतोह' की है। 'सुन्नर पांडे की पतोह' पति द्वारा परित्यक्त एक ऐसी स्त्री की कहानी है जो न केवल सामाजिक प्रताड़ना को सहती है बल्कि इस समाज में वह नर-भेड़ियों से अपनी अस्मिता को बचाती भी है। राजलक्ष्मी का विवाह होते ही एक नया नाम मिलता है सुन्नर पांडे की पतोह। उसका पति शादी के बाद ही उसे छोड़ कर कहीं चला जाता है। राजलक्ष्मी अपने पति की प्रतीक्षा करती है लेकिन उसका पति वापस नहीं आता। राजलक्ष्मी सिन्दूर को अपने पति की निशानी के रूप में रखती है। सिन्दूर ही एक स्त्री को औरत होने का गर्व महसूस कराती है। वह दुखी रहती है लेकिन पति की प्रतीक्षा करती है। यह अपने समय का महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना और पति द्वारा त्यागी गई स्त्री की जिजीविषा को दर्शाया गया है।

भारतीय समाज में पति के नाम से स्त्री जानी जाती है। अमरकांत के उपन्यास 'सुन्नर पांडे की पतोह' में राजलक्ष्मी का नाम ही बदल जाता है। शादी के बाद स्त्रियाँ पति के नाम से ही जानी जाती हैं। सुन्नर पांडे की पतोह पति के छोड़ कर चले जाने के बाद भी सास- ससुर की प्रताड़ना सहती है। पति-पत्नी के रिश्ते खराब होने का कारण सिर्फ उनके (पति-पत्नी) बीच आत्मविश्वास का टूटना ही नहीं है बल्कि घर का माहौल भी है। जैसे अमरकांत के उपन्यास 'सुन्नर पांडे की पतोह' को हम देख सकते हैं। शादी के दिन से ही अतिराजी (सास) को यह भय रहता है कि राजलक्ष्मी उसके बेटे को उससे छीन लेगी। सास यह समझ ही नहीं पाती है कि पति-पत्नी का संबंध हर संबंधों से अलग होता है। अगर पति-पत्नी के बीच में प्रेम है तो वह चाह कर भी एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते। इस उपन्यास में एक दृश्य है जो पति-पत्नी के संबंध का मार्मिक चित्रण करता है। ''जब तक अतिराजी बीमार रही, वे सांझ-सबेरे, रात-बिरात, जब मौका मिलता, फुलवारी में मिलते रहे। उनका हर मिलन ऐसा होता, जैसे वर्षों के वियोग के बाद हो रहा हो। कितना सुकून मिलता था उसे झुल्लन पांडे की बांहों में? हर मिलन के बाद उनकी प्यास और बढ़ जाती। वह तो झुल्लन को छोड़ना ही न चाहती थी। वह पति को खूब प्यार करती, उसे समझाती, कोई बात समझ में न आने पर रूठ जाती, फिर स्वयं ही मनाकर हंसने लगती।''[11] ऐसा होता है पति-पत्नी संबंध लेकिन ऐसे संबंधों में भी घुन लग जाते हैं। एक दूसरे के बीच प्यार है लेकिन फिर भी झुल्लन पांडे घर छोड़ कर एक दिन चले जाते हैं आखिर क्यों ऐसा होता है? जहाँ पर सुन्नर पांडे की पतोह आशा जोहती है कि कभी तो झुल्लन पांडे वापस घर आएँगे। घर की परिस्थितियों को देख कितनी बार सुन्नर पांडे की पतोह आत्महत्या करने की सोची होगी लेकिन हर बार झुल्लन पांडे की याद में रुक जाती है। वह कहती-- बिना बताए गए झुल्लन एक दिन जरूर आएँगे, अगर मैं

नहीं रही तो वह दुखी हो जाएँगे। अरकांत का यह उपन्यास बहुत ही मार्मिक है। जिस तरह से उन्होंने पारिवार में पति-पत्नी संबंध को दिखाया है, वह अपने आप में काबिलेतारीफ है। यह उपन्यास मार्मिक होने के साथ ही कई सवाल भी खड़ा करता है। सुन्नर पाण्डे की पतोह अपने ससुर से न जाने कितने तरह की प्रताड़ना और शोषण को सहती है और डट कर उन तूफानों का सामना भी करती है। यहां तक की ससुर के कुदृष्टि का और दूर के रिश्तेदारों का साहस के साथ सामना करती है। यहाँ उपन्यासकार ने एक आदर्श स्त्री की छवि को गढ़ा हैं कि वह कभी अपने चरित्र पर किसी तरह का धब्बा नहीं लगने देती। लेखक ने एक पतिव्रता स्त्री के चरित्र को रेखांकित किया है। जो कि परंपरावादी, रूढ़िवादी संस्कृति को ढोती है। क्यों लेखक यह नहीं दिखा पाए कि झुल्लन पाण्डे क्यों अपनी पत्नी को छोड़ कर चले गए। इसलिए कि रोज के खिटपिट का सामना न करना पड़े? ऐसे कई सवाल हैं कि क्यों नहीं वह दूसरी शादी कर अपना जीवन फिर से शुरू करती है? वह चाहती तो दूसरी शादी कर सकती थी। लेकिन उपन्यासकार ने एक आदर्श पतिव्रता स्त्री के रूप में उसे गढ़ा। कहीं न कहीं यह उपन्यास पुरुषवादी मानसिकता को पुष्ट करती है क्योंकि सदियों से स्त्री को इसी तरह के ढांचे में देखा गया है। पति की मृत्यु होने पर स्त्री को भी उसके साथ जिन्दा जला दिया जाता था ताकि वह किसी और पुरुष के साथ संबंध न बना सके। स्त्री पुरुषवादी व्यवस्था में घर की इज्जत मानी जाती रही है इसलिए उसे पर्दे में रखा गया। एक तरफ तो उपन्यासकार ने सुन्नर पाण्डे की पतोह का चरित्र काफी बोल्ड दिखाया है जहाँ वह कई पुरुषों से लोहा लेती है और अपना शील भंग नहीं करती। दूसरों के घर में खाना बना कर अपना जीवन यापन करती है किसी के सामने झुकती नहीं। वहीं दूसरी तरफ पति-पत्नी के संबंधों में परंपरावादी मानसिकता को ढोती है।

अक्सर यह कहा जाता है कि पारिवारिक दायित्व, घर की जिम्मेदारी पुरुष ही उठाए लेकिन ऐसी भी बात नहीं है। परिवार को चलाने का दायित्व दोनों का होता है। अंतिम समय तक सुन्नर पांडे की पतोह अपना शील भंग नहीं होने दी और अपने पति की प्रतीक्षा करती रही। एक दिन रामलाल खबर देते हैं कि बाबा (झुल्लन पांडे) मथुरा में एक साधू का जीवन धारण कर जी रहे है। सांसारिक माया मोह से मुक्त होकर और उन्होंने कहा है उनके गांव जाकर पता लगाए कि उनकी औरत जिन्दा है या नहीं। इस पर सुन्नर पांडे की पतोह गुस्सा करती है रामलाल पर। लेकिन बाद में कहती है मुझे उनके पास ले चलो और खुश भी रहती है। लेकिन जब एक दिन उसे मालूम होता है कि वह (झुल्लन पांडे) अब नहीं रहे इस दुनिया में तो दुखी हो गई और फिर खुद चल बसी। एक मार्मिक दृश्य है इस उपन्यास का ‘‘श्मशान घाट पर शोकाकुल लोगों की अपार भीड़ इकट्ठी हो गई थी। उसी समय आसमान में काले-काले बादल घिर आए और देखते-ही-देखते तेज बूँदे गिरने लगीं। उस बारिश में भी अधिसंख्य लोग सिर झुकाए देर तक खड़े रहे। सब यही कह रहे थे कि

'बड़ी भाग्यशालिनी थी, जिन्दगी भर पति का इन्तजार किया और जब पति गुजर गए तो वह एक दिन भी जीवित नहीं रही।''[12] ऐसी थी सुन्नर पांडे की पतोह। जबकि आज के समय में ऐसी कम स्त्रियाँ मिलेगी। यही उपन्यास अगर एक स्त्री लिखती तो शायद सुन्नर पांडे की पतोह की यह स्थिति न दिखाती? पुरुष हमेशा चाहता है कि बलिदान स्त्री ही दे। सदियों से स्त्री को दया, माया, त्याग की मूर्ति के रूप में पूजा गया। उसका एक आदर्श छवि बनाया गया। यह छवि आज टूट रही है। आखिर क्यों सुन्नर पांडे की पतोह को इतना सहना पड़ता है? वह दूसरे के घर में खाना बनाने का काम कर अपना जीवन व्यतीत करती है। चाहती तो दूसरा घर भी बसा सकती थी लेकिन दूसरे विवाह के बारे में सोचती भी नहीं है।

काशीनाथ सिंह द्वारा रचित 'रेहन पर रग्घु' एक चर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास में भूमंडलीकरण के कारण सामाजिक और पारिवारिक विघटन की त्रासदी को दर्शाया गया है। बाजारीकरण के दौर में रिश्ते कैसे प्रभावित हो रहे हैं उसका यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। रघुनाथ अपने दांपत्य जीवन की चर्चा करते हुए अपनी पत्नी के बारे में कहता है ''घंटे दो घंटे के लिए तो ठीक, इससे ज्यादा कभी वे बीवी के साथ सोए ही नहीं!...शीला के साथ रघुनाथ के रिश्ते दाम्पत्य के ही रहे, प्यार के नहीं हो सके ! यह भी कह सकते हैं कि वे शीला के साथ सो तो लेते थे, प्यार नहीं करते थे। और मानते थे कि इसकी जिम्मेदार खुद शिला है। वह ऐसी औरत थी जिसे प्रतिदिन प्यार का प्रमाण चाहिए--यह नहीं कि एक बार या दो बार या तीन बार आपने उसे आश्वस्त कर दिया कि आप किसी और को नहीं, उसी को प्यार करते हैं तो वह मान जाए ! वह अगले दिन फिर परीक्षा लेना चाहेगी कि वह कहीं आकस्मिक तो नहीं था ? यही नहीं, वह अपने प्यार को केवल शिकायतों में ही व्यक्त कर सकती थी-इसके सिवा उसके पास और कोई दूसरी भाषा नहीं थी ! इन स्थितियों ने रघुनाथ में सिर्फ चिड़चिड़ाहट ही नहीं पैदा की थी, उन्हें उसकी ओर से उदासीन भी कर दिया था ! शीला ने कभी उनकी रुचि या पसन्द के हिसाब से अपने को बदलने की भी कोशिश नहीं की ! मसलन, वे चाहते थे कि घर में कोई अच्छी बात हो तो शीला खुश हो...।''[13] इन पंक्तियों से हम यह समझ सकते है कि लेखक ने पुरुषवादी दृष्टिकोण से शीला का चरित्र चित्रण किया है। सवाल यह है कि समाज हमेशा एक स्त्री को ही क्यों दोषी मानता है? पुरुष को क्यों नहीं ? रघुनाथ खुद को प्रेम करने वाले व्यक्ति के रूप में दिखता है। जो व्यक्ति सिर्फ स्वयं से प्रेम करता हो वह कभी भी अपने पत्नी से प्रेम नहीं कर सकता। रघुनाथ अपने बच्चों से तो प्रेम करता है। एक जिम्मेदार पिता है और पति भी है लेकिन पत्नी को सिर्फ पत्नी बना कर रखता है। इसी तरह उसका बेटा संजय जो सोनल सक्सेना से शादी करता है। अपने पति धर्म को ठीक से निभा नहीं पाता है। भूमंडलीकरण के दौर में पति-पत्नी संबंध भी काफी हद तक प्रभावित हो रहे हैं। संजय अपना घर नहीं बसा पाता। सिर्फ अपनी महत्वकांक्षा को पूरा करने के लिए सोनल से विवाह

करता है। जब सोनल को जीवन में उसकी सबसे ज्यादा जरूरत होती है तो वह उसे छोड़कर दूसरी शादी कर लेता है। संबंध का कोई कीमत नहीं होती है। आज संबंध लोग अपने अनुसार बना रहे हैं और अपने अनुसार तोड़ रहे हैं। ऐसे कई सवालों को इस उपन्यास में उठाया गया है। उपन्यासकार यह दिखाना चाहते हैं कि हम एक ऐसे दौर में जी रहे हैं जहाँ मानवीय संवेदना खत्म हो रही है लोग अपने जीवन में और और पाने की चाह में भाग रहे हैं। यह एक भयावाह दौर है जहं पति-पत्नी रिश्तों के साथ ही साथ पिता और बेटे का संबंध भी नहीं बच पा रहा है। पिता होने का दंश रघुनाथ भोगता है। वह अपने बच्चों के लिए क्या नहीं करता? लेकिन अंत में पिता होने के नाते उन्हें कुछ नहीं मिलता। उनके कई सपने टूटते हैं। ऐसे कई सवाल इस उपन्यास के केन्द्र में है।

'अर्द्धनारीश्वर' विष्णु प्रभाकर द्वारा रचित अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का उपन्यास है। इस उपन्यास में स्त्री-पुरुष संबंध को बहुत ही अच्छी तरीके से उजागर किया गया है। इस उपन्यास के केन्द्र में बलात्कार की समस्या है। उपन्यासकार ने बलात्कार से पीड़ित स्त्री के उत्पीड़न का और उसकी मानसिक पीड़ा को चित्रित किया है। पति-पत्नी के संबंधों में इस तरह की घटनाएं कैसे रिश्तों में दरार पैदा करती हैं इसे उपन्यासकार ने बहुत ही अच्छे तरीके से पिरोया है। इस उपन्यास की प्रमुख पात्र सुमिता अपनी ननद को बचाने के लिए खुद के जीवन को दांव पर लगा देती है। जब अजित, सुमिता और ननद विभा फिल्म देखकर घर लौट रहे थे तो एक अप्रत्याशित घटना घटती है। वहीं अपनी ननद (विभा) को बचाने के लिए सुमिता खुद को उन पुरुषों के हवाले कर देती यह कह कर कि अभी विभा की शादी नहीं हुई है। ''मैंने कहा न, मैं चलूंगी तुम्हारे साथ। वायदा करो, इन्हें कुछ न कहोगे...अजित ने पूरा खतरा मोल लेते हुए प्रतिवाद करना चाहा था, पर मैंने उनके मुंह पर हाथ रख दिया, मेरी शादी हो चुकी है। विभा का सर्वनाश मत करो। और मैं उन गुंडों की ओर मुड़ी, चलो।''[14] अगर उसके साथ कुछ होता है तो उसका पूरा जीवन खराब हो जाएगा। इस प्रकार सुमिता खुद बलात्कार की शिकार होती है। इस घटना के बाद बाहर के लोग तो उसे हेय दृष्टि से देखते ही हैं लेकिन जब घर के लोग ही उस पर प्रश्न खड़ा करते हैं तो सुमिता टूट जाती है। अजित सोचता है कहीं सुमिता रति-क्रिया में मुझसे संतुष्ट न हो इसी को पूरा करने के लिए तो नहीं खुद को आगे की। यहां कई सवाल मन में यह कौंधता है? अजित की पत्नी सुमिता अपना स्त्रीत्व खोकर उसकी बहन की आबरू बचाती है ताकि उसके आगे का जीवन नष्ट न हो। अजित का यह सोच कहीं न कहीं पुरुषवादी नजरिया को पुष्ट करता है क्योंकि अजित इस घटना के बाद पति का कर्तव्य निभा तो रहे थे लेकिन पति-पत्नी का रिश्ता अब उस तरह नहीं बचा था जैसा कि पहले था। अजित उसे स्वयं स्वीकार भी करता है। ''...और अपने अंतरमन में मैं भी तो उसे अपवित्र समझता हूं। मैं भी तो संस्कारों का दास हूं, उन संस्कारों का जो शुचिता की यातना को पवित्र और देवी मानते हैं। ''[15] इस घटना में दोष सुमिता का नहीं है। सुमिता तो अपना कर्तव्य

निभाती है। पवित्रता सिर्फ स्त्री में देखी जाती है। जब इस घटना के बाद सुमिता बलात्कार से पीड़ित स्त्रियों पर शोध करती है और इसी दौरान वह कई बलात्कृत स्त्रियों का साक्षात्कार लेती है। बलात्कार के बाद की मानसिक पीड़ा को वह स्वयं भोग चुकी थी। स्त्री किसी भी स्थिति में अपना पारिवारिक दायित्व निभाती है। वह सदियों से अपने को दूसरों पर न्यौछावर करती आई है। परिवार की जितनी अच्छी जिम्मेदारी वह निभाती है उतना कोई और नहीं।

3.2.स्त्री मुक्ति का प्रश्न

स्त्री मुक्ति किसे कहते हैं? पहले इसे समझने की जरूरत है। सवाल यह भी है कि मुक्ति किससे और कैसी मुक्ति? दरअसल स्त्री सदियों से पुरुष वर्चस्व के शोषण से मुक्ति चाहती है। एक तरह से देखा जाए तो इसी समाज में पुरुष की आजादी पुरुषत्व का प्रतीक मानी जाती है लेकिन वहीं एक स्त्री के लिए आजादी कुलटा के अर्थ में लिया जाता है। ऐसे में सवाल यह है कि स्त्री कहाँ मुक्त है? स्त्रियाँ आज भी गुलामी की जंजीरों में जकड़ी हुई हैं। सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी है कि अगर एक स्त्री स्वत्रंत होकर जीना चाहे तो समाज उनके लिए कुलटा, छिनाल न जाने किन-किन संबोधनों का प्रयोग करता है।

वास्तविक रूप से स्त्री मुक्ति का अर्थ स्त्रियों की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक स्वतंत्रता से है। यदि इसे हम विस्तृत अर्थ में परिभाषित करें तो यह घर-परिवार, समाज में स्त्री की अपनी पहचान, अधिकार और उन अधिकारों की प्राप्ति के लिए किए जा रहे संघर्षों से है। अनामिका का कहना है ''स्त्री मुक्ति का आशय मानव मुक्ति से है। एक स्त्री को शिक्षित करने का अर्थ है पूरे परिवार का वैचारिक, मानसिक तथा बौद्धिक परिष्कार करना। स्त्री के मानसिक, बौद्धिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास के साथ-साथ उसे यौन-शोषण, आर्थिक दोहन और दैहिक मानसिक प्रताड़नाओं से मुक्त करने की मानव मात्र की मुक्ति के सूत्र हैं।''[16] अतः अनामिका स्त्री मुक्ति को मानव मुक्ति से जोड़कर देखती हैं क्योंकि समाज में स्त्री की भूमिका और उसकी सामाजिक हैसियत का निर्धारण पुरुष ही करता रहा है। उसे आज भी मां, बेटी, बहन के रूप में सीमित कर दिया गया है। इससे ऊपर उसे मानव कभी माना ही नहीं जाता। यह पुरुषवादी व्यवस्था की देन है। समाज में आज भी पुरुषों का वर्चस्व है। तभी तो 'मनुस्मृति' में पहले ही कहा जा चुका है कि स्त्री को कभी भी स्वतंत्र नहीं छोड़ना चाहिए। बचपन में वह अपने पिता, भाई के अधीन रहती है और शादी के बाद पति पर आश्रित होती है तथा बुढ़ापे में बेटे पर निर्भर रहती है। यानी कुलमिला कर स्त्री अकेली नहीं रह सकती। स्त्री आज भी एक पुरुष के बिना अधूरी मानी जाती है। अमरकांत के उपन्यास 'सुन्नर पाण्डे की पतोह' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। इस उपन्यास में राजलक्ष्मी बचपन में पुरुष के कुदृष्टि का शिकार होने से बच जाती है। लाड़-प्यार से

पली होती है लेकिन विवाह के बाद उसका नाम बदल जाता है और वह सुन्नर पांडे के पतोह के नाम से जानी जाती है। ससुराल में अपनी सास की जली-कटी बातें सुनकर अपने पति झुल्लन से दूर रहती है । सास की तबीयत खराब होने के कारण झुल्लन पांडे और राजलक्ष्मी के बीच रागात्मक संबंध बन जाता है। माँ की परेशानी के कारण झुल्लन पांडे एक दिन घर छोड़ कर भाग जाते हैं। सांसारिक माया मोह से दूर कहीं साधू का जीवन जीने लगते हैं। एक तरह से झुल्लन पांडे भगोड़े किस्म के पुरुष थे। अगर झुल्लन के पास थोड़ी भी हिम्मत होती तो वह अपनी पत्नी को लेकर अलग घर में रह सकता था लेकिन नहीं, वह इतना परेशान हो गया कि पत्नी से प्रेम करने के बावजूद उसे छोड़कर चला जाता है और जीवन भर सुन्नर पांडे की पतोह अपने पति की प्रतीक्षा करती रहती है। अमरकांत लिखते हैं ''कभी झुल्लन पांडे किसी बच्चे की तरह किलकारी मारते नजर आते और कभी भेड़िया की तरह गुर्राने लगते और एक समय आया जब ये सारे अहसास भी क्षीण पड़ने लगे । लेकिन इन सारी स्थितियों में भी वह सिन्दूर माथे के आकाश पर उसी तरह चममकता रहा--स्थिर ध्रुवतारा की तरह। वस्तुतः पहले सिन्दूर का मतलब था पति, बाद में पति का मतलब सिन्दूर हो गया। वास्तव में सिन्दूर ही उसका पति बन गया। सिन्दूर ही उसकी आशा, आकांक्षा और परमात्मा था। सिन्दूर ही ऐसा तिनका भी था, जिसके सहारे भयावह तरंगों से भरपूर संसार रूपी महानदी में धारा के विपरीत तैरती रही।''[17] सुन्नर पांडे की पतोह सिन्दूर से मुक्त नहीं हो पाती है। राजलक्ष्मी चाहती तो दूसरे पुरुष के साथ आराम से घर बसा सकती थी लेकिन वह ऐसा नहीं करती। वह खुद को झुल्लन पांडे की यादों से मुक्त नहीं कर पाती। समाज में पुरुष का साथ होना यानी उस स्त्री पर बहुत कम पुरुषों का कुदृष्टि पड़ना होता है। झुल्लन पाडे के न रहने के कारण कई बार सुन्नर पांडे की पतोह को अपने घर में ससुर की कुदृष्टि का सामना करना पड़ता है साथ ही घर के बाहरी पुरुषों का भी। इन कुदृष्टि का वह जमकर सामना करती है। फिर भी अपना जीवन झुल्लन पांडे के नाम से मुक्त नहीं कर पाती है।

अब सवाल यह उठता है कि आखिर स्त्री-मुक्ति है क्या? क्या स्त्री-मुक्ति की समझ हर वर्ग की स्त्री को है? अगर हम आदिवासी स्त्री या दलित स्त्री की बात करें तो क्या स्त्री-मुक्ति के जो प्रश्न उनके यहां हैं? क्या वह आदिवासी, दलित, निम्न वर्ग की स्त्रियों के यहां भी हैं? इस वर्ग की स्त्री को तो मुक्ति की समझ भी नहीं है क्योंकि इनके यहां उस तरह की बंदिशे नहीं होती हैं जो मध्यवर्ग या उच्च वर्ग की स्त्री के यहां है। आदिवासी समाज की बात करें तो वहां भले सभ्य समाज की तथाकथित संस्कृति न हो लेकिन इस समाज में स्त्री दासी नहीं होती। रमणिका गुप्ता का मानना है ''आदिवासी समाज भले सभ्य समाज के तथाकथित परिष्कृत संस्कारों से लैस नहीं हो, पर वहां स्त्री दासी नहीं है। भले कबीले के कानून उसे भी कई वर्जनाओं से लाद देते हैं, फिर भी वह प्रेम व विवाह करने अथवा बाहर जाकर खुद खटने-कमाने और स्वावलंबी बनने को स्वतंत्र है। वहां

विवाह इतना जड़ नहीं। वहां रिश्ता गतिशील है, वह बनता है, टूटता है, फिर जुड़ जाता है यानी काफी सहज है। औरत की अपनी इच्छा भी इस व्यवस्था में रची-बसी होती है।''[18] जबकि मध्यवर्गीय स्त्री सबसे ज्यादा बंदिशों में जकड़ी होती हैं। तभी तो सुन्नर पांडे की बहु को पति छोड़कर चला गया लेकिन वह सास-ससुर के साथ जली-कटी बात सुनकर भी रहती है। 'सुन्नर पांडे की पतोह' उपन्यास मध्यवर्ग की कहानी है। इस उपन्यास की राजलक्ष्मी एक सशक्त स्त्री है। वह शादी के बाद अपने सास की बात तो सुनती है और एक साल तक अपने पति से दूर रहती है लेकिन उसे जैसे ही अवसर मिलता है झुल्लन के नजदीक आने का तो वह झुल्लन को अपनी ओर खींचती है। सुन्नर पांडे की पतोह कहती है '' वह पत्नी है, ब्याहकर लाई गई है, भगाकर नहीं--और उसको हक है पति के पास जाने का, उसको प्यार करने का और उससे प्यार पाने का और जब मर्द में हिम्मत नहीं तो क्या स्त्री उसकी हिम्मत नहीं बढ़ा सकती, उसकी भटक नहीं खोल सकती, उसको प्यार का ढंग नहीं सिखा सकती?''[19] स्त्री अपनी मुक्ति हर एक बंधन से चाहती है। वह चाहे पति-पत्नी का संबंध हो या कोई और प्रश्न? इसी की लड़ाई सदियों से स्त्री लड़ रही है। स्त्री की जिजिविषा है कि वह सामाजिक, परिवारिक बंधन तथा हर एक बंधन से मुक्त रहे। जैसे कि झुल्लन पांडे की मां चाहती है कि राजलक्ष्मी उसके बेटे से दूर रहे लेकिन सुन्नर पांडे की पतोह मौका देख अपने पति को अपना बनाने में देर नहीं करती। समाज में हर वर्ग की स्त्री की मुक्ति अलग होती है। रमणिका गुप्ता का मानना है कि ''स्त्री-मुक्ति की अवधारणा भिन्न-भिन्न समाजों में, विकास के भिन्न-भिन्न स्तरों व भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भी अलग-अलग होती है। आज भी शहरी इलाकों में बौद्धिकता के भिन्न-भिन्न स्तर होने के कारण मध्यमवर्गीय मानसिकता और अभिजात्य व सवर्ण दृष्टिकोण, सर्वहारा वर्ग से भिन्न होने के कारण मुक्ति के अलग सपने पालता है, जबकि सर्वहारा वर्ग या तथाकथित निम्न-जातीय समाज की खुद खटने-कमाने वाली स्त्रियों की मुक्ति का सपना मध्यवर्गीय स्त्रियों से भिन्न होता है। इस वर्ग में स्त्रियों को काम करने की स्वतंत्रता है। जिंदा रहने के लिए काम करना उनकी जरूरत ही नहीं, मजबूरी भी है। मध्यवर्गीय मानसिकता वाले परिवारों की तरह नौकरी अथवा मजदूरी करने से उनकी प्रतिष्ठा में बट्टा नहीं लगता। उनके समाज में औरत खटने-कमाने वाला हाथ होती है, केवल खाने वाला परजीवी मुंह नहीं।''[20] यानी 'स्त्री-मुक्ति हर वर्ग की स्त्री के लिए अलग होता है। स्त्री-मुक्ति के कई उदाहरण हैं जैसे--'स्त्री के स्वनिर्णय और स्वायत्तता का अधिकार, लैंगिक विभेद को खत्म कर समानता का अधिकार, पुरुष-सत्ता के तहत उत्पीड़न की समाप्ति' आदि बातें मानी जाती हैं। स्वायत्तता के प्रश्न को 'सुन्नर पांडे की पतोह' उपन्यास में भी देख सकते हैं। स्त्री कितनी मजबूर होती है अगर मजबूर न भी हो तो कितनी परंपरा से बंधी होती है, चाह कर कहीं रुकती है तो कहीं चलती है। यह सामाजिक व्यवस्था की देन है। तभी तो सिमोन को कहना पड़ 'स्त्री पैदा नहीं होती है बल्कि समाज उसे

बनाता है।' आज के संदर्भ में भी यह प्रसांगिक है क्योंकि आज भी स्त्री सामाजिक निर्मिति है। वह बनती नहीं बल्कि बनाई जाती है।

जब सुन्नर पांडे की पतोह सुशीला की शादी को लेकर मना करती है कि सुशीला वहां शादी नहीं करना चाहती है, क्योंकि वह किसी और से प्रेम करती है। इस बात पर बेनी प्रसाद सुन्नर पांडे की पतोह को जली कटी सुनाते हैं। उस समय सुन्नर पांडे की पतोह कुछ कह नहीं पाती हैं लेकिन बाद में कहती है। सुन्नर पांडे की पतोह बेनी प्रसाद से कहती है ''स्त्री बेजबान गऊ होती है, उस पर लांछन लगाना, उस पर अन्याय करना आसान होता है।''[21] एक तरह से वह पितृसत्तात्मक समाज पर प्रश्न चिह्न लगाती है। सदियों से स्त्री बेजबान ही रही है। कई तरह के जुल्म सहती है लेकिन मुंह से आह तक नहीं करती। रीति-रिवाजों के पालन करने का धर्म सिर्फ एक स्त्री को है। क्योंकि सुन्नर पांडे की पतोह खुद अपने जीवन में अपना निर्णय नहीं ले पाती और कहती है ''कितनी साहसी है सुशीला, जबकि वह स्वयं सब कुछ झेलती रही और सब सह-सहकर जीती रही। अवश्य उसने कई बार सुशीला की तरह आत्महत्या करने का संकल्प किया था, पर वह ऐसा क्यों नहीं कर सकी? वह अपने को धिक्कारने लगी। अपनी नजरों में ही वह बहुत गिर गई, जबकि सुशीला का स्थान उसकी दृष्टि में बहुत ऊँचा हो गया। आज उसे पहली बार लगा कि स्त्री जाति की तरह मजबूर कोई भी नहीं है। उसे लगा कि हर स्त्री अपना जीवन बोझ की तरह ढोती रहती है। फिर भी जब स्त्री निश्चय कर लेती है तो वह बड़े-से-बड़े संकट का मुकाबला भी कर सकती है। किसी भी अन्याय से संघर्ष कर सकती है। सुशीला ने आज यह सब सिद्ध कर दिया था। आह, वह क्यों एक बेजबान और निर्दोष लड़की को कसाई के हाथों सौंपने की सिफारिश कर बैठी ? नहीं, वह ऐसा नहीं होने देगी, किसी भी हालत में ऐसा नहीं होने देगी। लेकिन वह कर भी क्या सकती है? सारा निश्चय तो बेनी प्रसाद के हाथ में है।''[22] एक जगह तो सुन्नर पांडे की पतोह कोशिश करती है कि सुशीला के साथ कुछ भी गलत नहीं होने देगी, लेकिन दूसरी तरफ वह सोचने लगती है आखिर वह क्या करेगी क्योंकि उसके हाथ में तो कुछ भी नहीं है ? स्त्री की स्थिति पुरुष वर्चस्व के आगे इतनी दयनीय होती है कि वह चाह कर भी कुछ नहीं कर पाती।

'मुझे चांद चाहिए' उपन्यास नायिका प्रधान उपन्यास है। सिलबिल का चरित्र उपन्यासकार ने बहुत ही बोल्ड तरीके से दिखाया है। सिलबिल शाहजहाँपुर की रहने वाली है। वह बचपन में ही अपना नाम बदल लेती है क्योंकि उसे अपना नाम पसंद नहीं है। इसी कसौटी पर सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' को देखें तो कई बातें निकल कर सामने आती हैं। 'मुझे चांद चाहिए' उपन्यास सुरेन्द्र वर्मा कृत एक उत्कृष्ठ कोटि का उपन्यास है। इस उपन्यास की नायिका यशोदा (नाम बदल कर वर्षा वशिष्ट) बहुत ही विद्रोहिणी है। बचपन में अपना नाम पसंद न होने के कारण पिता से बिना पूछे वह बदल लेती है। पिता के पूछने पर कहती है ''तुमने अपना नाम बदल लिया

है? सिलबिल ने अपराध भाव से नीचे नहीं देखा। वह पूर्ववत् सामने देखती रही। हाँ उसका स्वर स्थिर था। काहे ? मुझे अपना नाम पसंद नहीं था। पल भर की चुप्पी रही। अगर हाईस्कूल में नहीं बदलती तो आगे चलकर मुश्किल होती। अखबार में छपवाना पड़ता।...तुम्हारे नाम में क्या खराबी है? पिता ने कड़वे स्वर में पूछा। अब हर तीसरे-चौथे के नाम में शर्मा लगा होता है। मेरी क्लास में ही सात शर्मा हैं...और यशोदा? घिसा-पिटा, दकियानूसी नाम। उन्होंने क्या किया था? सिवा कृष्ण को पालने के? सिलबिल ने पिता की ओर देखते हुए पलभर का विराम दिया, फिर उपसंहार कर दिया, यशोदा शर्मा नाम में कोई सुंदरता नहीं।''[23] सिलबिल घर से ही विद्रोह शुरू कर देती है। उसे नाम पसंद नहीं वह अपना नाम बदल देती है। सिलबिल की मुक्ति उसके नाम से शुरू होती है। एक स्त्री चाहती क्या है? यह भी एक सवाल है? क्या हर वर्ग की स्त्री अपनी चाहत को पूरा कर पाती है? सिलबिल अच्छे घर से है उसके पिता प्राइमरी के मास्टर हैं। उसका जीवन निम्न वर्ग की स्त्री से तो अलग ही है।

3.3.स्त्री यौनिकता और दैहिक मुक्ति का प्रश्न

स्त्री यौनिकता और दैहिक मुक्ति का प्रश्न आज एक बड़ा सवाल है स्त्री के लिए। स्त्री यह चाहती है कि कोई उसे यौनिकता से जोड़कर न देखे। वह अपनी देह से मुक्त होकर देखे जाने की मांग करती है। इस पर बहुत लिखा जा चुका है। मैत्रेयी पुष्पा का पूरा साहित्य इसी प्रश्न पर केन्द्रित है। मैत्रेयी पुष्पा अपने उपन्यास में स्त्री की यौनिकता का प्रश्न और दैहिक मुक्ति के सवाल को उठाते हुए उन प्रश्नों की ओर हमारा ध्यान ले जाती हैं जहाँ लोग स्त्री को देह से ऊपर कुछ समझना ही नहीं चाहते हैं। ''मर्द की देह का भी अपना संगीत होता है।''[24] मर्द का भी देह है लेकिन उसे सिर्फ देह नहीं माना जाता और न ही मर्द के देह को भोग्य वस्तु माना जाता है।

सिर्फ स्त्री की ही देह को भोग की वस्तु समझा जाता है। शुचिता का प्रमाण हमेशा एक स्त्री देती है पुरुष नहीं, आखिर क्यों? कब तक देती रहगी? झूठी इज्जत का ढोंग स्त्री को ही सहना पड़ता है। देवेंद्र इस्सर लिखते हैं ''औरत में यौनिक आनंद एक जादुई पहेली की तरह है, यह पूरी तरह से स्वच्छंदता की मांग करता है। यदि शब्द या कार्यकलाप प्रेम-स्पर्श के जादू के विरोध में होते हैं, जादू टूट जाता है...औरत पूरी तरह से 'विषय' होना चाहती है, जबकि उसे वस्तु में तब्दील कर दिया जाता है, आदमी की तुलना में औरत को और अधिक पारंगत होना होगा, क्योंकि उसका पूरा शरीर इच्छा व उत्तेजना से संचालित होता है।''[25] सदियों से स्त्री 'मादा' के रुप में देखी जाती रही है जबकि यह सच नहीं है। स्त्री उससे ऊपर भी बहुत कुछ होती है। स्त्री का भी अपना मन होता है। इसी की लड़ाई स्त्रीवादी लेखिका लड़ रही है। एक समय था जब समाज में स्त्री की सत्ता थी वह अपने अनुसार अपना जीवन जीती थी। अपनी इच्छाओं के अनुसार किसी भी पुरुष के साथ रहती

थी। वी. गीता का मानना है कि ''साम्यवादी कुटुम्ब के केन्द्र में स्त्री थी क्योंकि केवल वही जानती थी कि उसके बच्चों का बाप कौन है? आज की तुलना में वहां यौन-संबंधों में अधिक आजादी थी। औरतें अपने आदमियों का चुनाव कर सकती थीं। वे वस्तुतः कुटुम्ब का नियंत्रण संचालन करती थीं, मर्द केवल आने-जाने वालों में थे जिन्हें औरतें अपनी इच्छानुसार बाहर कर सकती थीं।''[26] लेकिन सामाजिक प्रकृति के साथ साम्यवादी समाज की प्रकृति बदली। इसके साथ ही जैसे ही धीरे-धीरे समुदाय में संपत्ति का संचय होना शुरु हुआ, स्त्री-पुरुष के संबंध भी बदले। इस बदलाव ने स्त्री को गुलाम बना दिया। इस प्रकार स्त्री एक 'मादा' के रूप में उपयोग होने लगी।

'अर्द्धनारीश्वर' विष्णु प्रभाकर द्वारा रचित काफी चर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास की नायिका सुमिता बलात्कार से पीड़ित स्त्रियों की मानसिकता पर शोध करती है तथा अपने शोध के दौरान ऐसी स्त्रियों से मिलती है जो इस हादसे का शिकार हो चुकी है। बलात्कार आज हमारे समाज की सबसे ज्वलंत समस्या बन चुकी है। आज के समय में तो भारत देश को 'बलात्कार देश' घोषित किया जा रहा है। आखिर क्यों पुरुष इस तरह के जघन्य अपराध कर रहे हैं? इसके पीछे हम किस मानसिकता को देखें? जबकि समाज में आए दिन किसी न किसी बच्ची, बड़ों को इस तरह के जघन्य घटना का सामना करना पड़ रहा है। इस तरह के मुद्दों पर शोध करते हुए कई बार सुमिता को अपने मानसिक मनोबल के टूटने का सामना करना पड़ता है लेकिन वह तुरंत अपने को समझा लेती है। इस शोध के निष्कर्ष तक पहुँचते हुए सुमिता को कई ऐसे सवालों से रू-ब-रू होना पड़ता है जिससे वह कभी कभी विचलित हो जाती है और सोचती है कि ये किस तरह के सामाजिक दंश हैं जिसका समाना एक स्त्री को करना पड़ता है ? जो बलात्कारी होते हैं वे तो सामाजिक दंश से बच निकलते हैं। लेकिन स्त्री उसे पूरी जिन्दगी ढोती है।

आज यौन शुचिता स्त्री के लिए उतना मायने नहीं रखती है। यह कहना उतना बड़ा सच नहीं जितना की आज भी विवाह के लिए वर्जिन लड़की की ही मांग होती है। इसे हम 'मुझे चांद चाहिए' उपन्यास में देख सकते हैं किस तरह वर्षा वशिष्ट हर्ष के साथ रहती है और हर्ष के मरने के बाद उसके बच्चे की मां बनती है तथा सामाजिक चुनौतियों का सामना करती है। वर्षा कहती है ''उसके पेट में जो बीज है, वह सिर्फ हर्ष की ही स्मृति नहीं, उसका अपना भी अंश है। वह उन दोनों की साझी प्रतिबद्धता है।''[27] इसे वर्षा सामाजिक रूप से स्वीकार करती है लेकिन समाज आसानी से वर्षा के निर्णय को सम्मान नहीं देता है। वर्षा कई तरह के सामाजिक दंश को झेलती है। जिससे लगता है कहीं न कहीं समाज में पुरुषों का वर्चस्व बना हुआ है। इस तरह के संबंध महानगरों में तो चल भी जाते हैं लेकिन गांव या छोटे शहरों में यह स्वीकार नहीं, छोटे शहरों या गांव में इस तरह की स्त्री सामाजिक प्रताड़ना की शिकार हो जाती है। वर्षा वशिष्ठ महानगर में अपना जीवन यापन करती है। आज महानगरों का सामाजिक परिदृश्य बदला है लेकिन पुरुष की

मानसिकता अभी वही है। देवेन्द्र इस्सर लिखते हैं ''हम यौन-क्रांति के युग से गुजर रहे हैं। लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार और रीति-रिवाज में इतनी तीव्र गति से परिवर्तन आ रहे हैं कि विवाह से पूर्व कौमार्य एक दकियानूसी प्रथा समझी जाने लगी है। स्वयं विवाह की पद्धति को ही चुनौती दी जा रही है। विवाह से पूर्व और विवाह के बावजूद विवाहेतर यौन-संबंध, स्वॉपिंग, समूह-सेक्स, मौखिक रति-क्रीड़ा, समलैंगिक संबंधों आदि को नैतिक और मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टि से स्वस्थ घोषित किया जा रहा है।''[28]

यह बदलाव समकालीन उपन्यासों में अभिव्यक्त हुआ है। सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' में बदलती स्त्री की छवि को चित्रित किया गया है। वर्षा पूरी तरह से महानगरीय जीवन-शैली के रंग रूप में डूब जाती है। परंपरावादी पिता के सामने भी उसे कोई शर्म का बोध नहीं होता है जब पिता पूछते हैं। 'सिलबिल, तुम मदिरा भी करती हो? पिता ने पूछा,...क्यों? ''...जब मैं थकी हुई या तनाव में होती हूँ तो रिलैक्स करने में उससे मदद मिलती है।'' ''यह वंश की परंपरा के अनुकूल नहीं। अपनी सात पीढियों में किसी पुरुष ने भी मदिरा को हाथ नहीं लगाया होगा। स्त्री को तो बात ही छोड़ों।'' परिवार की सात पीढियों में किसी स्त्री ने काम नहीं किया, पर मैं कर रही हूँ।''[29] इस तरह की स्त्री पात्र आधुनिक युग में गढ़ी जाने लगी। रचनाकार सामज से ही प्रभावित होकर अपनी रचना को कलमबद्ध करता है। सामाजिक बदलाव के साथ साहित्य में परिवर्तन होता है। वर्षा वशिष्ठ इसी सामाजिक बदलाव की देन है। सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' मध्यवर्गीय नारी की गगनचुंबी महत्वकांक्षाओं का दस्तावेज है। उपन्यास में अनेक घटनाओं के वर्णन के साथ ही साथ मूलतः सिलबिल पर केन्द्रित आख्यान है। वर्षा वशिष्ठ जहाँ कुछ परंपराओं को तोड़ती दिखती है वहीं कुछ नयी परंपराओं का वरण भी करती है। वह तमाम बाधाओं और विरोधों के बावजूद सफलता के शिखर पर तो पहुँच जाती है लेकिन विडंबना है कि फिर भी आदर्श नहीं बन पाती है। वह सिगरेट-शराब पीती है, विवाह पूर्व शारीरिक संबंध बनाती है और किसी तरह के अपराध-बोध से परे है और अंत में अनब्याही मां बनने का भी निर्णय लेती है।' मां बनकर सामाजिक व्यवस्था को ठेंगा दिखाती है।

'अर्द्धनारीश्वर' विष्णु प्रभाकर का महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में स्त्री--उत्पीड़न की व्यथा को अभिव्यक्त किया गया है। जब एक स्त्री बलात्कार के दंश को झेलती है तो वह बलात्कार के दंश के साथ ही साथ सामाजिक प्रताड़ना को भी सहती है जबकि बलात्कार में स्त्री की मर्जी शामिल नहीं होती है। स्त्री मुक्त होना चाहती है। ''इच्छाओं से मुक्ति नहीं, इच्छाओं की दासता से मुक्ति, पुरुष के बल के आकर्षण से मुक्ति नहीं बल के पशुत्व के आकर्षण से मुक्ति, निर्भरता से नहीं, निर्भरता की अनिवार्यता से मुक्ति।''[30] विष्णु प्रभाकर का मानना है कि स्त्री न घर में सुरक्षित है न ही घर के बाहर। स्त्री घर में भी यौन-शोषण का शिकार होती है। कभी नौकर के द्वारा तो कभी घर

के भाई, चाचा, मौसा, ताऊ किसी के द्वारा भी। पम्मी अपने नौकर का शिकार होती है। उसका नौकर ही उसका बलात्कार करता है। वह कहती है कि ''मैं अपना वाक्य पूरा कर पाती कि उसने मुझे जोर से धक्का दिया। साड़ी समेटने की प्रकिया में तब दोनों हाथ घिरे थे, उस पर घटना की आकस्मिकता, मैं तेजी से फर्श पर गिर पड़ी। मेरा सिर पलंग की पट्टी से टकराया। दूसरे ही क्षण हाथ में छूरी लिए वह मेरी छाती पर था। उसका वह रौद्र रूप, आँखों से टपकती वहशत, मेरी आंख में धुआँ भर गया, जमा हुआ कड़वा धुआँ...मेरी चीखें उसी धुएं में जम गई।''[31] उपन्यासकार ने इसके बाद की स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है। जब पम्मी को यह लगता है कि यौन-शोषण के बाद उसकी पवित्रता खत्म हो गई, वह अपने पति से आंखें नहीं मिलाती है लेकिन उसके पति को यह समझ होता है कि इसमें उसका कोई दोष नहीं है तभी पम्मी चैन की सांस लेती है। वह कहती है कि पति-पत्नी एक दूसरे के पूरक और सहायक होते हैं। तभी जीवन जीया जा सकता है।

जब स्त्री के साथ बलात्कार होता है तो शरीर के साथ ही साथ उसकी आत्मा भी घायल होती है। इसे हम 'अर्द्धनारीश्वर' उपन्यास में देख सकते हैं। विष्णु प्रभाकर इस उपन्यास में बलात्कार के बाद स्त्री की मानसिक स्थिति का वर्णन करते हैं। बलात्कार के बाद स्त्री अपने को अपवित्र और न जाने किस-किस तरह की सामाजिक प्रताड़ना को सहती है। 'अर्द्धनारीश्वर' की पात्रा पम्मी कहती है ''सच सुमिता ! सब कुछ के बावजूद मैं वह नहीं रही थी जो स्नानघर से निकलते समय थी। समाज की नीति-नैतिकता, शास्त्र में यह पाप-पुण्य की व्याख्या, नर-नारी के संबंध सबने मिलकर मेरे अंतःकरण में यह भावना पैवस्त कर दी थी कि कुछ अघटित घट गया है और जो कुछ घटित हुआ है वह पाप है। ऐसा पाप जिसका प्रतिकार नहीं हो सकता। मुझे अपराधिनी उस दरिंदे ने नहीं बनाया बल्कि मेरे समाज ने बनाया। भीतर से मैं जिसे स्वीकार नहीं कर सकी थी, वहीं मुझ पर थोप दिया गया। जिसके प्रति अपराध किया गया, सजा भी उसी को मिली। अपमानित मैं किसी की करुणा की अधिकारिणी भी नहीं रह गई...।''[32]

3.4. चयन और निर्णय का अधिकार

सामाजिक रूप से देखा जाए तो सदियों से चयन और निर्णय का अधिकार पुरुष के जिम्मे ही रहा है। पुरुष घर का मुखिया होता है इसलिए निर्णय का अधिकार भी उसी के पास रहा है। पुरुष घर-गृहस्थी की जिम्मेदारी उठाता है इसलिए शादी-विवाह में चयन का अधिकार उसी के पास होता है। स्त्री पुरुष की कठपुतली मात्र होती है लेकिन समय के साथ चीजें बदली हैं और बदलाव ही जीवन का सत्य है। आज सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ सामाजिक परिदृश्य भी बदला है। समकालीन उपन्यासों में आज स्त्री की एक अलग छवि गढ़ी जा रही है। चाहे वह लेखन स्त्री ने किया हो या पुरुष ने। आज स्त्री अपनी बात परिवार या समाज के समझ दृढ़ता से प्रकट करती है।

तभी तो सुशीला कह पाती है ''मैं मर जाऊँगी, मैं जहर खा लूँगी, छत पर से नीचे कूद पड़ूँगी, जल मरूँगी, पर यह शादी नहीं करूंगी, नहीं करूँगी... । आप तो खैर कुछ नहीं समझतीं। आप इस घर की नहीं हैं । आपको चाहिए साड़ी, रुपया-पैसा, आपकी खुशी इसी में है । आपको तो घूस मिल गई। इसके बाद अगर लड़की कहीं भी फेंक दी जाती है तो इससे आपको मतलब? आपकी नजर में तो लड़की बिक्री का समान है । उसको सुख-दुख नहीं होता, उसके दिल नहीं होता, उसके अरमान नहीं होते । मैं आपको क्या कह सकती हूँ, पर मुझे अचम्भा तो बाबूजी पर होता है । दुनिया को ऋषि दयानन्द का उपदेश देते हैं और लड़की के हाथ-पैर बाँधकर चरित्रहीन बुड्ढे के घर में फेंक देना चाहते हैं । मैं थूकती हूँ ऐसे रुपए-पैसे पर, ऐसे सुख पर... ।''[33] सुशीला विरोध दर्शाती है सुन्नर पांडे की पतोह से और उसे जीवन का आईना भी दिखाती है कि वह गलत है । जीवन में सिर्फ पैसा ही सबकुछ नहीं होता बल्कि खुशी भी होनी चाहिए । सुशीला अपने पसंद के लड़के से शादी करना चाहती है और इसका निर्णय वह ले चुकी होती है । यहाँ पर अमरकांत एक सशक्त स्त्री की छवि को गढ़े हैं, यह स्त्री पारंपरिक स्त्री से अलग है । सुशीला उस पितृसत्तात्मक समाज में अपना मुंह खोलती है । जिस समाज मे हमेशा स्त्री को चुप रहने की नसीहत दी जाती रही है ।

'रेहन पर रग्घू' उपन्यास भूमंडलीकरण के दौड़ में बदलते रिश्ते-संबंधों की कहानी है । रघुनाथ का बड़ा बेटा अपने फायदे के लिए सोनल से विवाह करता है ताकि वह अमेरिका जा सके। यहां एक पुरुष अपने फायदे के लिए विवाह करता है । वैसे भी सदियों से पुरुष हर काम अपने फायदे के लिए ही करता आया है । इसे सोनल बाद में समझती है । जब संजय अपने फायदे के लिए फिर से अमेरिका में दूसरी शादी करता है ताकि वह अमेरिका का निवासी बन जाए । ''संजय सोनल से मिला तो कई बार था, लेकिन देखा पहली बार । उसे लगा कि किसी लड़की को टुकड़ों में नहीं, 'टोटैलिटी' में देखना चाहिए! कितना फर्क पड़ जाता है? साथ ही लड़की और पत्नी को एक ही तरह से नहीं देखना चाहिए । रूप रंग, हाव भाव, नाज नखरे लड़की में देखे जाते हैं, पत्नी में नहीं! ये सब पुराने कन्सेप्शन हुए हमारे पापा मम्मी के जमाने के, हमारे नहीं!''[34] स्त्री के लिए यह पुरुष दृष्टिकोण है । पुरुष अक्सर एक स्त्री को टोटैलिटी में ही देखता है । पितृसत्तात्मक व्यवस्था में पुरुषों की ही सत्ता होती है । इसी पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री जब अपने अधिकार की बात करती है तो उस पर सामाजिक बंदिशें लगाई जाती हैं । स्त्री को आज भी चयन का अधिकार बहुत ही कम है । तभी तो जहाँ संजय सोनल से शादी कर लेता है बिना पिता को बताए । सिर्फ शादी का कार्ड भेजता है । रग्घू की बेटी सरला भी किसी निम्न जाति के लड़के से शादी करना चाहती है तो घर में पिता की जली कटी बातें सुननी पड़ती है । यह अलग बात है कि सरला पढ़ी-लिखी होने के कारण अपना फैसला सुना पाती है । वह अपने पिता से कहती है ''आप दूसरों की शर्तों पर शादी कर रहे थे, यहाँ मैं करूँगी लेकिन अपनी शर्तों पर, आप मेरी 'स्वाधीनता' दूसरे के हाथ बेच रहे थे, यहाँ

मेरी 'स्वाधीनता' सुरक्षित है, आप अतीत और वर्तमान से आगे नहीं देख रहे थे, हाँ मैं भविष्य देख रही हूँ जहाँ स्पेस ही स्पेस है।''[35] अब इस तरह की स्त्री पात्र पुरुष उपन्यासकारों के यहाँ मिलने लगी हैं। पितृसत्तात्मक समाज में जहाँ सिर्फ पुरुषों का वर्चस्व होता है वहां अगर इस तरह के स्त्री पात्र गढ़े जा रहे हैं तो कहीं न कहीं पुरुष मानसिकता में बदलाव का अभास दिखता है।

भारतीय समाज स्त्री के लिए आदिम युग से ही दमन करने वाला समाज रहा है। 'मुझे चाँद चाहिए' की नायिका सिलबिल छोटे से शहर शाहजहाँपुर के निम्न मध्यवर्गीय परिवार की बेटी है। प्रज्ञा पाठक लिखती हैं ''वर्षा के माध्यम से यह उपन्यास यशोदा शर्मा जो वर्षा वशिष्ठ की इच्छा-आकांक्षा की दुनिया का खाका, दमनकारी समाज व्यवस्था के बीच उसकी दुर्दम्य इच्छा शक्ति के माध्यम से गढ़ता है। अपनी और अपने परिवार की हालत को बदलने की बेचैनी से शुरू हुआ उसका सफर रंगमंच की कलाकार और सिने स्टार वर्षा वशिष्ठ की कलात्मक बेचैनी तक पहुँचता है। इसकी एक लम्बी गाथा है, यही गाथा उस सवाल तक भी पहुँचती है कि भारतीय स्त्री की छोटी-छोटी इच्छाएँ भी चाँद सरीखी ही क्यों होती हैं-दूर और चमकदार, जिसको पाना मुश्किल है--और पा जाने पर बिगड़ने का खतरा भरपूर।''[36] स्त्री की यही नियति रही है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में एक स्त्री अपनी मर्जी से कुछ करे यह कैसे संभव हो सकता है? जहाँ जवान होते ही उसे आगे पढ़ाने की अपेक्षा मां-बाप को विवाह की चिंता होती है। खैर, वर्षा बचपन से ही अपने घर में विद्रोहिणी रही है। वह अपने घर में पांच भाई-बहनों में सबसे छोटी रहती है। रंग-रूप में सांवली होने के कारण उसके मां-पिता उसकी शादी की चिंता करते हैं क्योंकि सामाजिक व्यवस्था ऐसी है जहाँ शादी के लिए सुंदर तथा गोरी स्त्री की माँग होती है कुरुप स्त्री 'डिमांड लेस' होती है। वर्षा अपने पैर पर खड़ा होना चाहती है क्योंकि उसको यह समझ में आ जाता है कि जीवन को अगर अपने अनुसार सही ढंग से जीना है तो स्वावलम्बी होना जरूरी है नहीं तो जीवन में कुछ नहीं हो सकता है। इस प्रश्न से वह कई बार जूझती है। वह जबसे होश संभाली है उसका जीवन हताशा, घुटन भरा ही बीता है। स्त्री की सामाजिक संरचना के कारण वह भी साँवलेपन को अपने रास्ता का रोड़ा समझती है और इस दंश को झेलती है। ''बत्तीस वर्ष के विधुर, दो बच्चों के पिता, कचहरी में पेशकार के लिए वर्षा को स्टेशन के वेटिंग रूम में दिखाने के लिए ले जाया जाता है। कुएँ में कूदने की धमकी के साथ बमुश्किल इस प्रस्ताव से वर्षा जान छुड़ा पाती है। बड़ी बहन के नारी जीवन में ससुराल की महत्ता के आख्यान और विवाह कर लेने की नसीहत बहुत कड़वाहट भरे मोड़ पर खत्म होती है जहाँ वर्षा कहती है ''मैं सिर्फ मादा नहीं हूँ।''[37] जब स्त्री विरोध करती है तब कैसे घरवाले हो या बाहर के लोग, स्त्री को भावनात्मक रूप से जीतने की कोशिश करते हैं। इसी संदर्भ का उल्लेख सुरेन्द्र वर्मा 'मुझे चांद चाहिए' में करते हैं ''बड़े भाई अपने सामर्थ्य को लेकर वर्षा को ब्लैकमेल करते हैं कि उनका बस चले तो अपनी खाल बेचकर उसके लिए योग्य वर जुटाएँ, लेकिन

यह उनके बस में नहीं है और वर्षा का रंग रूप भी गायत्री जैसा नहीं है। इस पर वर्षा का जवाब है कि आयु के जिस मोड़ पर मैं खड़ी हूँ, उसमें शादी मुझे उतनी महत्व की नहीं लगती, जितना अपने पैर पर खड़े होना।''[38] सिलबिल एक सशक्त स्त्री है। जो आर्थिक रूप से संबल होना चाहती है और इसी में अपनी मुक्ति ढूँढ़ती है। वर्षा शाहजहाँपुर से दिल्ली का सफर तय करती है और सारी परिस्थिति उसके अनुसार होती है। शशिकला त्रिपाठी प्रश्न उठाती है कि ''वर्षा वशिष्ठ के गैरपारम्परिक आचार-विचार भरे जीवन में सुरक्षा की चहारदीवारी कैसे खड़ी है? एक लड़की होने के नाते परिजनों से दूर उसे कभी 'मादा' या 'वस्तु' की दृष्टि से नहीं देखा गया। ''[39] शशिकला जी सही सवाल उठाती हैं क्योंकि हमारा समाज ऐसा नहीं रहा है और 21वी सदी में भी नहीं है। आज भी स्त्री अगर अकेले घर से बाहर निकलती है तो पुरुष उसे 'मादा' ही समझता है। जिस उत्तर आधुनिक समाज में हम जी रहे है वहां आज भी स्त्री सुरक्षित नहीं है। बलात्कार की घटना आए दिन घटती है। स्त्री लेखिका के यहाँ यौन-उत्पीड़न एक गम्भीर समस्या के रूप में चित्रित होता है। सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' इस प्रश्न से अछूता है।

चयन और निर्णय के अधिकार के सवाल को 'मुझे चांद चाहिए' में बहुत ही अच्छी तरीके से रेखांकित किया गया है। वर्षा अपना जीवन अपने तरीके से जीने का निर्णय लेती है। समाज में जब भी एक स्त्री अपने अधिकारों के पक्ष में और स्त्री-उत्पीड़न के खिलाफ अपनी आवाज उठाती है तो उसे पुरुष वर्चस्व का सामना करना पड़ता है। वर्षा भी अपने जीवन में कई मुश्किलों का सामना करती है। वर्षा वशिष्ठ कई बार अपने पिता और भाई का सामाना करती है। वर्षा वशिष्ठ शाहजहाँपुर से दिल्ली एन.एस.डी. की यात्रा करती है और रंगमंच करने लगती है। 'अभिशप्त सौम्यमुद्रा' के रिहर्सल पर पिता के शब्द होते हैं- ''तू नौटंकी में काम कर रही है?...कान खोलकर सुन ले, हर बात की हद होती है। आखिर हमारे घर की भी इज्जत है। तेरे साथ लड़के भी काम कर रहे हैं। एक के साथ तू नाचती और गाना गाती है। कल के दिन कुछ ऊँच-नीच हो गया तो हमें मुँह छिपाने की जगह नहीं मिलेगी...लड़की की लाज मिट्टी का सकोरा होती है।''[40] वर्षा के ऊपर किसी बात का प्रभाव नहीं होता। उसके दिनोंदिन बढ़ते स्वच्छन्द व्यवहार पर पिता कोसते, ईश्वर मुझे किस जन्म के पाप का दण्ड दे रहे हैं। मुझे इस लड़की के लच्छिन ठीक नहीं दिखायी देते। करौंदे की झाड़ी दोहद के बाद का खिला अशोक बनाना चाहती है।''[41] जाहिर सी बात है कि उपन्यासकार छोटे शहरों और मध्यवर्गीय परिवारों में आ रहे बदलाव को रेखांकित करते हैं। जिस तरह महत्वाकांक्षी वर्षा वशिष्ठ निर्णय लेती है, यह बदलाव का ही परिणाम है। एक तरह से अब स्त्रियाँ जागरूक हो गई हैं। अब विवाह ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य नहीं रहा। डॉ. शशिकला त्रिपाठी कहती हैं कि ''पारिवारिक हिंसा का विरोध करती हुई वर्षा अपने अस्तित्व के लिए मेधा व प्रतिभा के विकास के लिए संघर्ष करती है। उसके निश्चय को न कोई डिगा पाता है

और न ही वह किसी दुहाजू से विवाह करने को तैयार होती है । पुरुषसत्तात्मक समाज के सुर मिलाकर भी माँ-बहन को असफलता ही मिलती है।''[42] वर्षा जब हर्ष से प्रेम करती है तो भी उसके साथ रहने का निर्णय वह स्वयं लेती है। यहाँ तक की वर्षा हर्ष की मृत्यु के बाद उसके बच्चे की माँ भी बनती है । जो सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देने के बराबर है । जिस समाज में एक स्त्री को हमेशा चुप करा दिया जता है वहीं वर्षा जैसी स्त्री पात्र गढ़ी गई, इससे यह समझा जा सकता है कि आज सामाजिक परिदृश्य बदला है । जहाँ खुले गगन के नीचे स्त्री चयन की सांस ले सकती है । स्त्री एक ही जीवन में कई जीवन को जीती है । सामाजिक प्रताड़ना से लेकर घर बाहर की ताने को झेलती है । स्त्री अपनी पसंद से किसी पुरुष से शादी करे या मां-बाप की मर्जी से लेकिन वहां भी वह पुरुष के वर्चस्व से बच नहीं पाती । स्त्री-जीवन भर इस पीड़ा से निकल नहीं पाती है ।

3.4. प्रेम, विवाह और विवाहेत्तर संबंध

''प्रेम व्यक्ति के भीतर एक सक्रिय शक्ति का नाम है । यह वह शक्ति है जो व्यक्ति और दुनिया के बीच की दीवारों को तोड़ डालती है । उसे दूसरों से जोड़ देती है । प्रेम उसके अकेलेपन और विलगाव की भावना को दूर कर देता है, पर इसके बावजूद उसकी वैयक्तिकता बची रहती है । प्रेम एक ऐसी क्रिया है जिसमें दो व्यक्ति एक होकर भी दो बने रहते हैं ।''[43] एरिक फॉम का यह सवाल विचारणीय है क्योंकि जहाँ प्रेम मनुष्य को विश्व से जोड़ता है वहीं दूसरी तरफ प्रेम मनुष्य की वैयक्तिकता को बचाए रखता है । प्रेम निश्छल होता है जहाँ छल की कोई गुंजाइश नहीं होती है। लेकिन स्त्री और पुरुष के प्रेम में अंतर होता है । जब एक स्त्री किसी से प्रेम करती है तो वह अपना सब कुछ अर्पण कर देती है । यहां तक की वह अपने अस्तित्व को दाँव पर लगा कर प्रेम पाना चाहती है । लेकिन जब एक पुरुष प्रेम करता है तो वह सिर्फ पाना चाहता है देना उसे आता ही नहीं है । दरअसल सामाजिक निर्मित ही ऐसी है जहाँ स्त्री और पुरुष इस तरह से सोचते हैं । ऐसे तो प्रेम का शाब्दिक अर्थ एक होता है लेकिन सीमोन के अनुसार स्त्री और पुरुष के लिए प्रेम का अर्थ पृथक है । सीमोन का कहना है ''स्त्री और पुरुष के लिए 'प्रेम' शब्द का अर्थ अलग अलग होता है। प्रेम से स्त्री क्या समझती है ? स्पष्ट ही यह केवल अनुराग न होकर शरीर और आत्मा का ऐसा वरदान है जो न तो बंधन मानता है, न किसी की परवाह करता है । चूँकि स्त्री का प्यार शर्तहीन होता है इसलिए उसके लिए यह एक विश्वास है । स्त्री केवल एक को अपनाती है । पुरुष यदि किसी से प्यार करता है तो प्रतिदान में वह उससे भी प्रेम पाना चाहता है ।''[44] अर्थात् यह कहा जा सकता है कि जहाँ स्त्री का प्रेम शर्तहीन होता है, वही पुरुष का प्रेम प्रतिदान चाहता है । स्त्री और पुरुष के मानसिक बनावट में अंतर होता है । स्त्री को बचपन से ही त्याग करना, शोषण को बिना किसी प्रतिरोध के सहना सिखाया जाता है । जबकि पुरुष आक्रामक होता है और स्त्रियों को आक्रामक

पुरुष पसंद होता है। दरअसल बात यह है कि स्त्री को बचपन से हारना और पुरुष को जीतना सिखाया जाता है। यही कारण है कि पुरुष स्त्री को एक वस्तु समझता है और हारने का नाटक करके, उस पर विजय प्राप्त करते रहता है और उन्हें अपनी संपत्ति बनाए रखता है।

प्रेम मनुष्य को कभी भी हो सकता है। विवाह के पहले या विवाह के बाद । विवाहेत्तर संबंध वह संबंध होता है जो विवाह के बाद अपने पति या पत्नी के सिवा किसी और स्त्री या पुरुष के साथ प्रेम करना या शारीरिक संबंध बनाना होता है तो वह विवाहेत्तर संबंध के अंतर्गत आता है। समकालीन समय में इस तरह के संबंध दृष्टिगोचर हो रहे हैं। पहले लोग छुपकर किया करते थे आज खुलकर रहे हैं। विवाहेत्तर संबंध बनने से परिवार बिखरने का डर होता है। सवाल यह उठता है क्यों लोगों का विवाहेत्तर संबंध बनता है ? इस रिश्ते में क्या प्रेम होता है या सिर्फ शरीर की भूख होती है ? शुरू से ही विवाहेत्तर संबंध कई सवालों के घेरे में रहा है। ज्यादातर इस तरह के संबंध पुरुष के यहां ज्यादा होता है। पुरुषों के लिए ही व्यभिचार जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। भारतीय समाज में स्त्री अगर इस तरह संबंध में रहती है तो उसे कुलटा और न जाने कितने ऐसे संबोधनों को सुनना पड़ता है। सवाल उठता है कि जहाँ प्रेम है लेकिन शारीरिक संबंध नहीं है तो क्या वह विवाहेत्तर संबंधों के अंतर्गत आ सकता है ? क्योंकि प्रेम तो निश्छल होता है। यह विवाह के बाद और विवाह के पहले कभी भी हो सकता है। विवाह को सामाजिक स्वीकृति मिलती है। जिसके कारण स्त्री-पुरुष बिना किसी सामाजिक बंधन के साथ रहते हैं।

पुरुष द्वारा लिखित उपन्यासों में जीवन के अन्य प्रसंगों के बरक्स प्रेम और विवाहेत्तर संबंध महत्वपूर्ण रहे हैं। इनके उपन्यासों में इन संबंधों का बखान मिलता है। विवाहेत्तर संबंधों का प्रसंग विष्णु प्रभाकर के उपन्यासों में बहुतायत रूप से है। 'अर्द्धनारीश्वर' में स्त्री-पुरुष संबंधों का यथार्थ चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में बलात्कार से शोषित स्त्री की कहानी है। जब एक स्त्री के साथ बलात्कार होता है तो कैसे उसका शरीर के साथ आत्मा भी घायल हो जाती है। ऐसे जघन्य अपराध का वर्णन किया गया है। बलात्कार तो पुरुष करता है लेकिन इसकी सजा जीवनपर्यंत स्त्री भोगती है। ऐसी घटना के बाद स्त्री का जीवन ज्यादा प्रभावित होता है। पुरुषवादी समाज में ऐसी स्त्रियाँ किसी को मुंह दिखाने लायक नहीं होती। क्योंकि आज भी समाज में यौन शुचिता का ठीकरा स्त्री पर ही फोड़ा जाता है। स्त्रियों को ऐसे कर्मों की सजा मिलती है जहाँ उसकी कोई गलती नहीं होती। इस उपन्यास की नायिका सुमिता अपनी ननद को बचाने के चक्कर में बलात्कार जैसे जघन्य अपराध का शिकार होती है। फिर भी दोष सुमिता को दिया जाता है, यहां तक कि पति भी गलत ही समझता है। इस घटना के बाद सुमिता और अजित का वैवाहिक संबंध प्रभावित होता है।

इस घटना के बाद से अजित श्यामला की ओर आकर्षित होता है। श्यामला पतित्यक्ता स्त्री होती है। उसे एक डॉक्टर पति की चाहत है। श्यामला कहानी उपन्यास लिखने वाली स्त्री है। अजीत भी लेखक होता है। शादी-शुदा होते हुए भी अजित का मन विचलित होता है। उसका झुकाव श्यामला की ओर होता है। दोनों के बीच प्रेम होता है। शारीरिक संबंध नहीं। अजित कहता है ''तुम जानती हो, मैं विवाहित हूं इसलिए तुमने हमारे संबंधों के बीच एक रेखा खींच ली थी। तुम्हारे प्रति नतमस्तक हूं मैं... ।''[45]

विवाहेत्तर संबंध को सामाजिक स्वीकृति नहीं मिलती। इसे सामाजिक रूप से हेय दृष्टि से देखा जाता है। यह अनैतिक संबंध होता है। विवाहेत्तर संबंध कभी-कभी मनुष्य अपनी शारीरिक संतुष्टि के लिए बनाता है तो कभी अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए। 'रेहन पर रग्घू' उपन्यास में जिस तरह के विवाहेत्तर संबंधों का प्रसंग आया है उससे साफ जाहिर होता है कि संजय अपने स्वार्थ पूर्ती के लिए आरती गुर्जर से संबंध बनाता है। यहां तक की संजय सोनल सक्सेना से विवाह अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए ही करता है। संजय अपने पिता को बिना बताए अपने प्रोफेसर की बेटी से विवाह कर लेता है। सोनल के पिता के सिफारिश पर संजय कैलिफोर्निया चला जाता है। इस तरह से संजय का सोनल के प्रति प्रेम नहीं होता है बल्कि सौदेबाजी रहता है। ''संजय ने प्यार किया था सोनल को ! यह प्यार किसी सड़कछाप टुच्चे युवक का दिलफेंक प्यार नहीं था, इसमें गुणा भाग भी था और जोड़ घटाना भी ! जितना गहरा था, उतना ही व्यापक ! सोनल संजय के प्रोफेसर सक्सेना की इकलौती बेटी थी ! थ्रू आउट फर्स्ट क्लास, नेट और दर्शन से पीएच. डी.। नौकरी तो पक्की थी।''[46] यह बदलते समय का सामाजिक यथार्थ है कि संबंधों में आज स्वार्थ घुसपैठ कर गया है। संजय सोनल से अंतरजातीय विवाह सिर्फ अमेरिका जाने के लिए करता है तथा अपना अच्छा भविष्य बनाने के लिए।

इसी तरह बाद में अमेरिका में स्थायी रूप से रहने के लिए वहां पर और अधिक पैसे वाली औरत से संबंध बनाता है। ताकि अमेरिका में स्थायी रूप से सेटल हो सके। ''आरती गुर्जर-उसके लैण्डलार्ड की बेटी। उसी काल सेण्टर में काम करती थी जिसमें संजय करता था ! साथ आना जाना उसी की कार से होता था । दिन रात का साथ ! आश्चर्य यह था कि आरती के मां बाप उन्हें एक दूसरे के करीब आते देख रहे थे फिर भी चुप थे ! आश्चर्य यह भी था कि उसकी भी आँखों के सामने वे छेड़छाड़ करते थे-- बेशर्मी की हद तक... ।''[47] एक तरह से देखा जाए तो बदलाव की ऐसी बयार भूमंडलीकरण के कारण चली है जिसने पति-पत्नी के बीच के संबंध, बाप-बेटे के बीच के रिश्ते तथा पूरा पारिवारिक रिश्तों को बदल दिया। लोग अपने रिश्तों में फायदा-नुकसान को लेकर सोचने लगे हैं। बदलते परिदृश्य में लोग इतने महत्वकांक्षी हो गए हैं कि रिश्ते बनते हैं और टूटते हैं। अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए लेकिन यहां जिस समाज का वर्णन लेखक करता

है वह भारतीय समाज नहीं है। यूरोप का समाज है। हालांकि संजय भारतीय पुरुष है और वह भी अपने को आधुनिक मानसिकता से मुक्त नहीं रख पाता है। सोनल कहती है ''पापा, आपने ऐसा बेटा क्यों पैदा किया जो वह नहीं देखता जो उसके पास है, हमेशा उधर ही देखता है जो दूसरों के पास है--लार टपकाते हुए ! पता है, उसने आरती गुर्जर से क्यों की शादी ?...इसलिए की वह इकलौती संतान है करोड़पति एन.आर.आई. व्यवसाई की ! एक्सपोर्ट इम्पोर्ट कम्पनी 'आरती इंटरप्राइज' के मालिक की !''[48] संजय ऐसा इसलिए करता है क्योंकि उसे अमेरिका में बसना है तभी तो वह अपनी पत्नी से बिना तलाक लिए दूसरा विवाह करता है। कई सवालों को इस उपन्यास में उठाया गया है। क्यों पुरुष मनमानी करते रहता है और स्त्री चुप्पी साध लेती है? संजय अपनी महत्वकांक्षा पूरा करने के चक्कर में सोनल के बारे में एक बार भी नहीं सोचता। यह उपन्यास आज के युवा पीढ़ी की जीवन दृष्टि को रेखांकित करता है। आज की युवा पीढ़ी बहुत जल्दी सब कुछ पा लेना चाहती है और इस जल्दी पाने के चक्कर में किसी को भी अपने रास्ते से हटा सकता है। जब स्त्री की शादी होती है तो वह अपना घर छोड़ कर पति के घर जाती है और पति का घर ही सब कुछ होता है। संजय जैसा पति स्त्री का शोषण ही कर सकता है। दरअसल यह एक संजय का दोष नहीं है, पूरी सामाजिक व्यवस्था ही गलत है। चूँकि समाजिक-व्यवस्था पुरुषों की है इसलिए बचपन से इनकी मानसिकता भी इसी तरह की बनती है।

3.5. मां, बहन, पुत्री, पत्नी, प्रेयसी के विविध रूप

जन्म लेते ही एक शिशु का समाज से विविध रिश्ता कायम हो जाता है। जिसने जन्म दिया वह मां कहलाती है। मां का भाई मामा, पति-पिता, सास-दादी, ससुर-दादा जन्म देने वाले के अपने माता, पिता, नाना, नानी। उसी तरह एक स्त्री भी जीवन (जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत) भर विविध संबंधों को ढोती अर्थात निर्वाह करती है। बहुत जल्द बेटी का रूप परिवर्तित होकर पत्नी और मां के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह पत्नी और मां का रूप स्त्री के जीवन में दीर्घकालिक होता है। समाज में एक और रूप भी स्त्री का देखने को मिलता है। वह है प्रेयसी का रूप। लेकिन यह रूप भारतीय समाज में स्वीकार नहीं है। (अगर राधा और गोपी के प्रेयसी रूप को छोड़ दें) पुरुषवादी समाज इसे अनैतिक रूप में देखता है। वहीं प्रेमी इसे अपनी उपलब्धि समझते हैं न कि इस प्रेम की संवेदना को समझ पाते हैं। एक तरह से स्त्री मां, बेटी, प्रेयसी, पत्नी आदि होती है लेकिन इन सब रिश्तों से ऊपर उठकर सबसे पहले वह एक 'मानव' है। मौजूदा हालात यह है कि वह सब कुछ है लेकिन 'व्यक्ति' नहीं समझी जाती है। आज वह इन सभी रिश्तों के बीच ही सांस ले रही है। पुरुषों की निगाह से स्त्री-जीवन को देखना कहीं न कहीं काफी कठिन हो जाता है। पुरुष अपने सुविधा अनुसार स्त्री की छवि को गढ़ता है। वर्षा का रूप एक साथ कई रूपों में उपन्यासकार ने दिखाया

है। वह एक विद्रोहिणी बेटी होती है, हर्ष की प्रेमिका यानी प्रेयसी होती है । वह हर्ष से बहुत प्रेम करती है । इसके साथ समाज से बगावत कर मां बनती है। हर्ष के मृत्यु होने के बाद भी।

3.6. स्त्री के सामाजिक, सांस्कृतिक सरोकार

समाज की प्राथमिक इकाई व्यक्ति है । व्यक्ति जो परिवार का अंग होता है । परिवार संबंधों का एक ऐसा ताना-बाना है जिसमें एक भी ताने-बाने के न रहने पर परिवार की अवधारणा ही खंडित होने लगती है । इस परिवार की अवधारणा में सबसे महत्वपूर्ण संबंध पति-पत्नी का है । पति तो उसी घर में पूर्व से रह रहा होता है । पत्नी किसी और घर की बेटी होती है और उसे सामाजिक संस्कारों द्वारा पत्नी बना कर लाया जाता है। यहीं से उसके सामाजिक सरोकार (पत्नी या स्त्री) बदलने या व्यापक होने लगते हैं । स्त्रियों की सामाजिक स्थिति सदियों से दोयम दर्जे की रही है । सामाजिक रूप से स्त्रियाँ कभी भी पुरुषों के बराबर नहीं रही । उसके साथ लैंगिक भेद भाव बचपन से ही शुरु हो जाता है ।

प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'मुन्नी मोबाइल' समकालीन समय में काफी चर्चित रहा है । इस उपन्यास में एक ऐसे स्त्री की कथा है जो बिहार के बक्सर जिले के रहने वाली है । रोजी-रोजगार के चक्कर में वह दिल्ली के पास के गांव साहिबाबाद में रहने लगती है । शुरुआती दौर में वह झुग्गी-झोपड़ी में रहती है और बाद में उसने धीर-धीरे जमीन खरीदा और पक्का मकान बनाकर रहने लगी। मुन्नी सामाजिक रूप से काफी संघर्ष करती है । साहिबाबाद में वह लोगों के घर में झाड़ू-पोंछा और खाना बनाने का काम करती है । मुन्नी अपनी लगन और मेहनत से बहुत जल्दी ही तरक्की की कई सीढ़ियां चढ़ जाती है । मुन्नी की इच्छाएं अनन्त है । वह पहले तो अवैध गर्भपात की एजेंट बनती है। डॉक्टरनी से मतभेद हो जाने के कारण उसे छोड़कर वह आनन्द भारती के यहां घरेलू नौकारानी बन जाती है । यानी आनन्द भारती के घर की पूरी जिम्मेदारी झाड़ू-पोंछा से लेकर खाना बनाने की जिम्मेदारी वह संभाल लेती है । मुन्नी का जीवन यहीं तक सीमित नहीं रहता । वह एक ऐसी स्त्री है जो अपनी मेहनत और लगन से कुछ भी पाने और करने को तैयार रहती है । बाद में मुन्नी कई बसों की मालकिन बनती है । यहां तक वह कई गुर्जर, जाटों और ठाकुरों से लोहा लेती है । मुन्नी का जीवन यहीं तक सीमित नहीं रहता है । उसे पैसे कमाने का धुन सवार था और वह पैसे के पीछे भाग रही थी । अंत में मुन्नी का मर्डर हो जाता है क्योंकि वह लड़कियाँ सप्लाई करने का काम करने लगती है या यूं कहें कि वह सेक्स रैकेट चलाने लगी थी । वह बिहार के गांव से गरीब लड़कियों को नौकरी देने के बहाने लाती थी और उन सभी लड़कियों को इस काम में झोंक देती । उपन्यासकार यह दिखाना चाहता है कि किस तरह भूमंडलीकरण के दौर में मानवीय संवेदनाए खत्म हो रही हैं । लोग इंसान से प्रेम न कर पैसे और स्वयं से प्रेम करने लगे हैं । जहाँ पर सिर्फ अपना 'मैं' ही देखा

जाता है। अपने बारे में सोचा जाता हैं । मुन्नी एक स्त्री है और एक स्त्री को कॉल गर्ल के रूप में इस्तेमाल करने लगती है । मुन्नी नहीं समझ पाती है कि वह जो कर रही है गलत है? स्त्री शोषण ऐसे क्या कम हो गया है जो अब स्त्री भी स्त्री का शोषण करने लगी है? पितृसत्ता ने स्त्री की मानसिकता को इस तरह कैद कर लिया है कि अब स्त्रियाँ भी पितृसत्तात्मक मानसिकता से ग्रसित हो गई है । मुन्नी इस तरह का काम करते समय न जाने कई लोगों से लोहा ले चुकी थी । जिसके कारण कॉल गर्ल के डॉन मुन्नी का मर्डर करवा देता है क्योंकि कोई भी बिजनेस करने वाले दूसरे की तरक्की को देख नहीं सकता । मुन्नी के मर्डर के बाद मुन्नी द्वारा फैलाई गई कॉल गर्ल की दुनिया खत्म नहीं होती । बल्कि इसे और अच्छे तरीके से उसकी बेटी रेखा संभालने लगती है । वह इस काम के लिए तकनीक का प्रयोग करती है । मुन्नी की बेटी रेखा के बारे में आनन्द भारती का कहना है ‘‘वह मुन्नी के आशिक पलटू के साथ उसके घर में बैठ गई है । धंधे के दौरान मुन्नी का गाजियाबाद के गैंगस्टर पलटू से रिश्ता हो गया था । उसकी और उसके लड़कियों की वह ही रक्षा करता था । रेखा पर उसकी पहले से ही नजर थी । कॉर्ल गर्ल वर्ल्ड में मुन्नी मोबाइल की जगह रेखा चितकबरी ने ली थी ।...इसके अलावा रेखा के रास्ते किसी और दिशा में भला जाते भी कैसे ? मुन्नी ने जो रास्ता चुना था, रेखा के लिए वही उसकी विरासत थी । उसने अपना नया नम्बर अपनी मम्मी के पक्के कस्टमरों को एसएमएस कर दिया था । मोबाइल पर वह पक्के कस्टमरों से ही डील करती थी । इंटरनेट के जरिये वह नये कस्टमर बनाती । लड़कियों की तस्वीरें उसने अपने ब्लाग में डाल दी थीं। हाईफाई तरीके से वह धंधा करने लगी थी । पुलिस को नियमित हफ्ता देती । गुण्डों-लफंगों को भी पालती । अपनी मम्मी के हत्यारों को सजा देने के जुगत में रहती । उसने कॉल गर्ल वर्ल्ड के सभी बड़े गुर्गों को किनारे कर दिया था । कॉल गर्ल वर्ल्ड की नई अवतार बन चुकी थी रेखा चितकबरी।’’[49]

बिहार के बक्सर के गांव से आने वाली बिन्दु यादव कब मुन्नी बन जाती है उसे खुद ही पता नहीं होता ? वहीं मुन्नी कब मुन्नी मोबाइल में तब्दील हो जाती है ? वह समझ नहीं पाती ? मुन्नी एक अनपढ़ स्त्री है लेकिन काफी बोल्ड है। सुदूर गांव से महानगरों में आने वाली स्त्री धीरे-धीरे गँवईपन को छोड़कर शहराती बन जाती है । इसे हम मुन्नी के माध्यम से देख सकते हैं । उसके सामाजिक और सांस्कृतिक सरोकार बदल रहे थे । वह जैसे जैसे काम करने के लिए घर बदलने लगी वैसे-वैसे उसे जीवन का अनुभव मिलने लगा । ‘‘ हर जगह उसे नये-नये अनुभव होने लगे । नये घरों में उसकी भोजपुरी भाषा की दीवार टूट गई । उसके नये घर मराठी, बंगाली और मारवाड़ी थे । महाराष्ट्र, बंगाल और राजस्थान की मिट्टी और वहाँ की सांस्कृतिक पहचान से रूबरू होने की उसकी शुरुआत हुई । देश की गोबर पट्टी से उसका परिचय हो रहा था । वह रोमांचित हो रही थी । खाली वक्त में इन घरों में टीवी दर्शन उसके अनुभव को बढ़ाने में मददगार साबित हुआ । सास, बहू

और घर-घर की कहानी जैसे सीरियल कारपोरेट परिवारों में वर्चस्व के लिए मचे घमासान से उसका परिचय करा रहे थे। उसके बिहारी गंवई मूल्य धूल-धूसरित हो रहे थे। एक औरत के कई मर्दों के साथ रिश्ते उसे अचंभित करते थे। धन धान्य से भरे पूरे परिवार में पैसों के लिए होने वाले घमासान उसकी समझ से परे थे।''[50] उपन्यासकार ने गांव और शहर के सांस्कृतिक अंतर और बदलते सामाजिक परिदृश्य की ओर इशारा किया है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने बाजारवाद के प्रसंग को उठाया है । इस बाजारवाद से ग्रसित मुन्नी जैसी स्त्री चरित्र का चित्रण किया गया है। उपन्यासकार ने 'मुन्नी मोबाइल' उपन्यास के माध्यम से एक महत्वकांक्षी स्त्री का चरित्र गढ़ा है तथा उसकी सोच एवं क्रियाकलापों का वर्णन समकालीन परिदृश्य को उजागर करता है। इस तरह से इस उपन्यास में प्रदीप सौरभ स्त्री-जीवन के अनछुए यथार्थ को उजागर करते हैं।

'मुझे चांद चाहिए' उपन्यास की प्रमुख पात्र वर्षा वशिष्ट है। वह एक छोटे कस्बेनुमा शहर शाहजहाँपुर की रहने वाली है। वह अपने आत्मसंघर्ष से अपना नाम यशोदा शर्मा से वर्षा वशिष्ट रख लेती है। वह अपने घर में किसी से कुछ नहीं पूछती यहां तक की किसी से चर्चा तक नहीं करती है और चुपचाप से हाई स्कूल का परीक्षा फार्म भरते समय अपना नाम बदल लेती है। पिता अध्यापक हैं। पिता को जब पता चलता है तो वह पूछते हैं लेकिन वर्षा वशिष्ट बहुत ही बेबाकी यानी तार्किक तरीके से कहती है उसे अपना नाम पसंद नहीं था। इसलिए बदल ली। जबकि उसके घर में उसकी बड़ी बहन की सभी लोग प्रशंसा करते हैं क्योंकि वह सभी की बात मानती है। उसकी बड़ी बहन गायत्री को उसके परिवार के सभी लोग 'सुग्गा या रामजी' की गाय कहते हैं। दरअसल पुरुषवादी व्यवस्था में बोलने वाली स्त्री न घर वालों को ठीक लगती है और न बाहर वाले पसंद करते हैं। वर्षा वशिष्ट बोलने वाली स्त्री है। वह परंपरागत स्त्री से हट कर एक आधुनिक स्त्री है जिसे सही गलत की समझ है और तर्क करना आता है। जबकि घर का माहौल एकदम से परंपरा का मुखौटा ओढ़ा हुआ। पिता और मां तो पूरी तरीके से परंपरावादी हैं। वह एक चिंतनशील और अध्ययनशील स्त्री है। वह खुद से सवाल करती है ''वह क्यों पैदा हुई ? उसके जीवन का उद्देश्य क्या है? क्या उसे भी वैसा ही जीवन जीना होगा, जैसा अम्मा, दद्दा और जीज्जी का है ?''[51] एक तरह से उपन्यासकार वर्षा वशिष्ट के माध्यम से छोटे से कस्बों, छोटे शहरों और मध्यवर्गीय परिवारों में आए बदलाव को चित्रित करते हैं। उपन्यासकार यह दिखाना चाहते है कि आज युवतियाँ जागरुक हो गई हैं। उनमें आत्मविश्वास आ गया है और साथ ही साथ वह अपने अस्तित्व को पहचान रही हैं। अब विवाह किसी भी स्त्री के लिए उतना महत्वपूर्ण नहीं रहा। या यूं कहे कि विवाह अब जीवन की मंजिल नहीं है। इलिए वर्षा अपने घर में पारिवारिक हिंसा का विरोध करती हुई अपने अस्तित्व के लिए, यहां तक की मेधा व प्रतिभा के विकास के लिए संघर्ष करती है।

वर्षा वशिष्ट की जीवन यात्रा शाहजहाँपुर के छोटे से कस्बे से शुरू होता हुआ दिल्ली और मुंबई तक पहुंचता है। वर्षा वशिष्ट राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली में साक्षात्कार देने जाती है तो घर में हाय-तौबा मच जाता है लेकिन वह अपने लक्ष्य से भटकती नहीं। इसी का परिणाम है कि उसका दाखिला एन.एस.डी. में हो जाता है। वर्षा वशिष्ट जब दिल्ली आती है तो उसका भी सामाजिक, सांस्कृतिक सरोकार बदलता है। महानगर में आकर वह महानगरों की जीवन शैली में ढल जाती है। उसका पहनावा बदल जाता है। वह महानगरों का जीवन जीने लगती है। वह और उसके महिला दोस्त शराब पीती हैं। यौन-संबंध बनाने में हिचकती नहीं। किसी तरह की वर्जना को स्वीकार नहीं करती है। एक तरह से वह महानगरीय जीवन-शैली के रंग में डूब जाती हैं। घोर परंपरावादी पिता के किसी बात का कोई फर्क नहीं पड़ता उस पर। ''सिलबिल, तुम मदिरापान भी करती हो ? पिता ने पूछा,...क्यों?...जब मैं थकी हुई या तनाव में होती हूँ तो रिलैक्स करने में उससे मदद मिलती है। यह वंश की परंपरा के अनुकूल नहीं। अपनी सात पीढ़ियों में किसी पुरुष ने भी मदिरा को हाथ नहीं लगाया होगा। स्त्री की तो बात ही छोड़ो। परिवार की सात पीढ़ियों में किसी स्त्री ने काम नहीं किया, पर मैं कर रही हूँ।''[52] सुरेन्द्र वर्मा ने एक ऐसे स्त्री को चित्रित किया है जो आज के समाज का सच दिखलाती है। बीस साल पहले के उपन्यासों में इस तरह की स्त्री की छवि नहीं मिलती है। वर्षा एक पढ़ी-लिखी बौद्धिक स्त्री है। घर से बाहर संघर्ष कर जीवन में वह मुकाम पा जाती है जिसकी उसकी चाहत थी। घर में परंपरावादी पिता, मां, भाई सभी ने उसका उपहास किया था। पिता, भाई तो यह भी कहते कि पढ़-लिख कर क्या करोगी ? नौकरी थोड़े न मिल जाएगी? घर के लोग उसकी शादी दुहाजू लड़के से कराना चाहते हैं लेकिन वर्षा नहीं करती है। वही लड़की जब एक दिन मॉडल बन जाती है। देखने में पतली, नाक तेज तो वही घर के लोग उसके पास अपना आश्रय खोजते हैं। वह सर्वश्रेष्ठ रंगकर्मी, सुप्रसिद्ध अभिनेत्री बनती है। इस तरह से आज स्त्री कमजोर नहीं है। वह संघर्ष कर जीवन में आगे निकल रही है।

'अर्द्धनारीश्वर' की सुमिता भी जीवन में संघर्ष कर आगे बढ़ती है। वह भी एक पढ़ी-लिखी स्त्री है। बलात्कार से टूटने के बाद भी वह जीवन में आगे बढ़ती है। यहां तक की वह विदेशों में पर्चा तक जाकर पढ़ती है। आज हम इक्कीसवीं सदी में जी रहे हैं। आज बहुत सारी चीजें बदली हैं। कई मूल्य बदले हैं। ऐसे समय में स्त्री पहले जैसी नहीं है जो बिना तर्क किए हर चीज को मान ले। कहा जाता है कि जब काल बदलता है तो उसके अनुसार लोगों की मानसिकता बदलती है तथा स्थितियां भी उसके अनुरूप बदलती हैं। आज वैज्ञानिक युग है। कभी-कभी बदलाव पक्ष में होता है तो कभी विपक्ष में। आज स्त्री हर क्षेत्र में अग्रणी है। एक समय था जहाँ स्त्रियों को जाना वर्जित था आज वहां स्त्रियाँ अपनी पहचान बना रही हैं। फिर भी स्त्री की स्थिति दयनीय है। ''वह पुरुष की संपत्ति भी है, माँ भी है। एक ओर प्रतिभा के आकाश में उसकी जय-पताका फहरा रही है,

दूसरी ओर अज्ञान, अंधविश्वास, अनाचार, अत्याचार सब उसे घुट्टी में पिलाए जाते हैं । हर अत्याचार जो पुरुष उस पर करता है, उसका दंड उसे ही भोगना पड़ता है। वह अत्याचार भी सहती है और दंड भी सहती है। कौन-से मूल्यों पर आधारित है यह विधान कि वह एक साथ वेश्या भी बने और सती भी? वह समाज के सर्वोच्च शिखर पर भी रहे, प्रेम की प्रतिमूर्ति मां बनकर और हर क्षण उसी पुरुष की हवश का शिकार हो, परकीया बनकर या कमजोर वर्ग में जन्म लेकर। वह पुरुष की मां भी है भोग्या भी। पुरुष की संपत्ति है वह जैसे धरती।''[53]

संदर्भ ग्रंथ

[1] राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ संख्या-14
[2] डॉ ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री-जीवन, पृष्ठ संख्या-36-37
[3] रमणिका गुप्ता, स्त्री-विमर्शः कलम और कुदाल के बहाने, पृष्ठ संख्या-79
[4] वही, पृष्ठ संख्या-74-75
[5] डॉ. ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास स्त्री-जीवन, पृष्ठ संख्या -39
[6] प्रदीप सौरभ, मुन्नी मोबाइल, पृष्ठ संख्या-48
[7] वही, पृष्ठ संख्या-49
[8] प्रदीप सौरभ, मुन्नी मोबाइल, पृष्ठ संख्या -49-50
[9] वही, पृष्ठ संख्या -71
[10] आशारानी व्होर, नारी शोषण आईने और आयाम, पृष्ठ संख्या-132
[11] अमरकांत, सुन्नर पाडे की पतोह, पृष्ठ संख्या -56
[12] वही, पृष्ठ संख्या -112
[13] काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घु, पृष्ठ संख्या -124
[14] विष्णु प्रभाकर, अर्द्धनारीश्वर, पृष्ठ संख्या -36
[15] वही, पृष्ठ संख्या -77
[16] वर्तमान संदर्भ, अगस्त-2009, पृष्ठ संख्या -52
[17] अमरकांत, सुन्नर पांडे की पतोह, पृष्ठ संख्या -25-26
[18] रमणिका गुप्ता, स्त्री-मुक्ति संघर्ष और इतिहास, पृष्ठ संख्या -24
[19] अमरकांत, सुन्नर पाडे की पतोह, पृष्ठ संख्या - 56
[20] रमणिका गुप्ता, स्त्री-मुक्ति का संघर्ष और इतिहास, पृष्ठ संख्या -24
[21] अमरकांत, सुन्नर पाडे की पतोह, पृष्ठ संख्या -72
[22] वही, पृष्ठ संख्या -70
[23] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या -17
[24] काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ संख्या -40
[25] देवेंद्र इस्सर, स्त्री मुक्ति के प्रश्न, पृष्ठ संख्या -21
[26] गीता, अनुवाद-ऋचा, स्त्रीवाद की सैद्धांतिकी, जेंडर विमर्श, वी, पृष्ठ संख्या-67
[27] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या-497
[28] देवेन्द्र इस्सर, स्त्री मुक्ति का प्रश्न, पृष्ठ संख्या- 60
[29] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चाद चाहिए, पृष्ठ संख्या- 526
[30] विष्णु प्रभाकर, अर्द्धनारीश्वर, पृष्ठ संख्या-167
[31] वही, पृष्ठ संख्या -14
[32] वही, पृष्ठ संख्या -16
[33] अमरकांत, सुन्नर पाडे की पतोह, पृष्ठ संख्या -69
[34] काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ संख्या -21
[35] वही, पृष्ठ संख्या -54
[36] (संपा), ओमप्रकाश सिंह, शिताशुं, उपन्यास का वर्तमान, पृष्ठ संख्या-119
[37] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या -45
[38] वही, पृष्ठ संख्या -48
[39] डॉ. शशिकला त्रिपाठी, उत्तर शती के उपन्यासों में स्त्री, पृष्ठ संख्या- 58
[40] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या -59
[41] वही, पृष्ठ संख्या-34

[42] डॉ शशिकला त्रिपाठी, उत्तर शती के उपन्यासों में स्त्री, पृष्ठ संख्या -56
[43] एरिक फ्रॉम, प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, पृष्ठ संख्या-28
[44] सीमोन द बोउवार, स्त्रीःउपेक्षिता, पृष्ठ संख्या-298
[45] विष्णु प्रभाकर, अर्द्धनारीश्वर, पृष्ठ संख्या -81
[46] काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू, पृष्ठ संख्या -20
[47] वही, पृष्ठ संख्या -109
[48] वही, पृष्ठ संख्या - 140
[49] प्रदीप सौरभ, मुन्नी मोबाइल, पृष्ठ संख्या -156
[50] प्रदीप सौरभ, मुन्नी मोबाइल, पृष्ठ संख्या -20
[51] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या -14
[52] वही, पृष्ठ संख्या -526
[53] विष्णु प्रभाकर, अर्द्धनारीश्वर, पृष्ठ संख्या-223

अध्याय-4

स्त्री उपन्यासकारों की दृष्टि में स्त्री-जीवन के विविध पक्ष

4.1 पारिवारिक दायित्व और पति-पत्नी संबंध

4.2 अस्मिता का प्रश्न और स्त्री

4.3 विवाह संस्था का बदलता स्वरूप और स्त्री

4.4 मातृत्व का सवाल और स्त्री

4.5 स्त्री की सामाजिक स्थिति

4.5.1. राजनैतिक अधिकार और स्त्री प्रश्न

4.5.2. आर्थिक प्रश्न और स्त्री

4.5.3. धर्म में स्त्री का स्थान

4.6 शोषित और उत्पीड़ित स्त्री: मुक्ति के सवाल

स्त्री उपन्यासकारों की दृष्टि में स्त्री-जीवन के विविध पक्ष

साहित्य और समाज का गहरा संबंध होता है। जिस तरह समाज के बिना साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती ठीक उसी तरह साहित्य के बिना समाज की भी कल्पना नहीं की जा सकती है। सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन साहित्य के माध्यम से ही होता है। समाज की प्राथमिक इकाई परिवार होता है। परिवार की संकल्पना का अध्ययन बिना स्त्री-पुरुष के संभव नहीं हैं क्योंकि स्त्री-पुरुष एक दूसरे के संपूरक होते हैं।

आदिमकाल से सामाजिक विकास की प्रक्रिया में स्त्रियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सभ्यता के आरंभ में स्त्री और पुरुष दोनों बराबरी का अधिकार रखते थे लेकिन पुरुषवादी व्यवस्था ने स्त्री की अस्मिता, उसकी सत्ता पर धीरे-धीरे आधिपत्य जमा लिया और उसे घर के चारदीवारी में कैद कर दिया। इतिहास का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि स्त्री की अपनी पहचान ही नहीं थी। उसकी पहचान मां, बेटी, पत्नी तक सीमित कर दी गई। पितृसत्तात्मक समाज में उसे सिर्फ एक 'देह' मान लिया गया। पुरुष की निगाह में वह भोग की वस्तु बनकर रह गई। इसी तरह जीवन को संचालित करने वाली जितनी भी संस्थाए हैं वहां पुरुषों का वर्चस्व हो गया और स्त्री हाशिए पर चली गई। समय के साथ चीजें बदली और स्त्रियों ने लिंगभेदीय असमानता को अपने संघर्षों के द्वारा समाप्त करने का प्रयास किया। आज स्त्री स्वतंत्र है और उसकी अपनी एक अलग पहचान है। वह कई क्षेत्रों में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रही है। बावजूद इसके कई ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ स्त्रियों का प्रतिनिधित्व एक सिरे से गायब है। साहित्येतिहास पर गौर करें तो हम देख सकते हैं कि साठ-पैंसठ साल पहले स्त्रियों की सामाजिक स्थिति पर, उनके द्वारा लिखे साहित्य पर, उनके संघर्षों और उपलब्धियों पर गंभीरता से चर्चा नहीं होती थी। स्त्री लेखन को उस समय बहुत महत्व नहीं दिया जाता था। उस समय कुछ स्त्रियाँ लिख रही थीं लेकिन पुरुषवादी व्यवस्था ने हमेशा स्त्री-लेखन को सीमित दायरे में रखकर देखा। उनका ऐसा मानना था कि स्त्री अपने लेखन में चूल्हे-चौके की बात करती हैं। आज से पहले स्त्री पर जितनी भी चर्चाएं हुई हैं, वह पुरुषों द्वारा किया गया है। वह चाहे सामाजिक सरोकार की दृष्टि से हो या सहानुभूति की दृष्टि से। हम इतिहास उठाकर देखें तो स्त्री चरित्र को लेकर पुरुष रचनाकारों का अपना एक अलग आकलन या नजरिया दिखता है। प्रेमचंद, अज्ञेय, जैनेन्द्र, और यशपाल आदि ने अपने उपन्यासों में स्त्री का बेहद जीवंत चरित्र गढ़ा है। स्त्री संबंधित सरोकारों को स्थापित करने में बाबासाहेब अंबेडकर, ज्योतिबा फूले आदि के योगदान को हम भूल नहीं सकते। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने और स्त्री को उनका अधिकार दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन महान प्रगतिशील साहित्यकारों का ही योगदान है कि स्त्री आज अपनी आत्म-पीड़ा को अभिव्यक्ति दे रही है तथा अपने अधिकारों के प्रति संवेदनशील हुई है।

दरअसल पिछले दो दशकों से जीवन के तमाम क्षेत्रों में स्त्रियों का हस्तक्षेप देखा जा रहा है। जब नारीवादी आंदोलन चर्चा में नहीं आया था तब भी नारियों की समस्याओं पर लिखा जा रहा था। उदाहरण के तौर पर हम महादेवी वर्मा की 'श्रृंखला की कड़ियाँ' के आलेख को देख सकते हैं। उन्होंने अपने समय की स्त्री की समस्याओं को बहुत ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। महादेवी से पहले बंग महिला, सुमित्राकुमारी सिन्हा, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की रचनाओं को भी हम देख सकते हैं। जिसमें स्त्री की यातना का वास्तविक चित्रण मिलता है। महादेवी वर्मा अपने समय से मुठभेड़ करती हैं। बाद की रचनाओं में कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी', मन्नू भंडारी की 'आपका बंटी', उषा प्रियंवदा की 'पचपन खंभे-लाल दीवारें' आदि में चित्रित स्त्री परंपरा से चली आ रही रूढ़ियों को तोड़ती हुई नजर आती हैं। इन उपन्यासों के माध्यम से उस समय के सामाजिक जीवन को बहुत ही अच्छे तरीके से हम समझ सकते हैं। उस समय इन स्त्री रचनाकारों की रचनाओं को स्त्री-लेखन की कोटि में नहीं रखा जाता था बल्कि इनकी रचनाओं की समीक्षा मेनस्ट्रीम के रचनाकारों के साथ की जाती थी। गौरतलब है कि 75 के आसपास स्त्री लेखाकाओं की एक बड़ी जमात उभरी जो हिन्दी साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने लगीं। जहाँ पुरुष लेखक सदियों से अपना वर्चस्व बना रखे थे वहां स्त्री अपना हस्तक्षेप करने लगी। स्त्रियों का लेखन संवेदना के स्तर पर पुरुष लेखकों से अलग है। जो सामाजिक कुरीतियों का पोल अपनी रचना के माध्यम से खोलती हैं।

पिछले बीस वर्षों के उपन्यासों का विश्लेषण करें तो हम देख सकते हैं कि सबसे ज्यादा उपन्यास स्त्री मुद्दों पर ही केन्द्रित हैं जिसमें स्त्री-चेतना मौजूद हैं। कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी' में एक बोल्ड स्त्री की छवि को प्रस्तुत किया गया है। उषा प्रियंवदा की 'रुकोगी नहीं राधिका','पचपन खंभे लाल दीवारें' और 'शेष यात्रा' में रूढ़ियों और परंपरा के बीच पेंडुलम की तरह झूलती आधुनिक स्त्री की तस्वीर है, जो अपनी अस्मिता की जमीन तलाश रही हैं। मन्नू भंडारी का उपन्यास 'आपका बंटी' हिन्दी साहित्य जगत में मील का पत्थर है। यह उपन्यास अपने समय के स्त्री-जीवन की समस्या को व्यक्त करता है। शकुन के जीवन की त्रासदी के माध्यम से लेखिका ने सम्पूर्ण स्त्री-जीवन की त्रासदी को दिखाता है। भारतीय समाज की सामाजिक व्यवस्था ऐसी है कि स्त्री-पुरुष वैवाहिक विच्छेद के बारे में सोचते तो हैं लेकिन अपने बच्चे का ख्याल आते ही वे समझौतावादी रवैया अपना लेते हैं। इस तरह 95 प्रतिशत लोगों का अलगाव नहीं हो पाता। फलतः पूरा परिवार घुटन का अनुभव करता है। 'आपका बंटी' में बच्चे के जीवन की त्रासदी के साथ ही साथ शगुन के जीवन की त्रासदी भी व्यक्त हुई है। आधुनिक समय में सामाजिक परिदृश्य बदला है। आज के सामाजिक परिदृश्य में स्त्रियाँ सिर्फ शिक्षित ही नहीं हुईं, बल्कि अपनी पीड़ा को खुद ही लिख रही हैं। मसलन स्त्री जीवन से संबंधित कई रचनाएं लिखी जा रही हैं जिसमें स्त्री-

जीवन की पीड़ा का चित्रण मिलता है। दरअसल स्त्रियों के जीवन पर स्त्री और पुरुष दोनों लिख रहे थे लेकिन स्त्रियों की संख्या तब कम मात्रा में थी। इस तरह देखा जा सकता है कि बीसवीं सदी में स्त्री लेखिकाओं ने लिखना शुरू किया और लिखना शुरू ही नहीं किया बल्कि जब लिखने लगीं तो अपना इतिहास ही रच दी। यहाँ महादेवी वर्मा का नाम लिए बिना आगे बढ़ना कहीं न कहीं स्त्री-जीवन से संबंधित रचनाओं से अन्याय करना है। महादेवी वर्मा का गद्य स्त्री-जीवन की समस्या पर केन्द्रित है। यह वह समय था जब भारत में नारी-मुक्ति पर बात नहीं होती थी, लेकिन महादेवी वर्मा के यहां उसी समय नारी-मुक्ति का स्वर मौजूद है। जब वह लिखती हैं 'मैं नीर भरी दुःख की बदली, कल उमड़ी थी मिट आज चली' तो कहीं न कहीं वह स्त्री अस्मिता की बात करती हैं।

इसके बाद कई लेखिकाएँ साहित्यिक फलक पर आईं। कृष्णा सोबती ने तो 'मित्रो मरजानी ' लिख कर साहित्यिक जगत में मिसाल कायम कर दिया। ये लेखिकाएं अपने अधिकारों की बात करने लगीं। समाज में पितृसत्ता के चुनौतियों को स्वीकार करने लगीं। बीसवीं के आठवें-नौवें दशक तक हिन्दी साहित्य जगत में स्त्री लेखिकाओं की बाढ़ सी आ गई। इस समय स्त्रियाँ ज्यादा मुखर हुईं। गौरतलब है कि बीसवीं सदी के अंतिम दशक में लिखी गई रचनाओं में स्त्री अपने को एक नए सिरे से तलाश करती हुई नजर आती है। चाहे कृष्णा सोबती के स्त्री पात्र को लें या जिस तरह मन्नू भंडारी पारिवारिक विघटन पर लिखती हैं, इस तरह की रचनाएँ पहले नहीं मिलती हैं। अब स्त्रियों के पास आत्मदान जैसी अनुभूतियों की कोई जगह नहीं रह गई थी। इन स्त्रियों ने एक नई स्त्री पात्र को जन्म दिया। रिश्ते, परिवार, समाज में अब ये स्त्रियाँ एक नई स्त्री की व्याखा करने लगीं। आज पुरुष की परिधि से स्त्री कुछ हद तक मुक्त हुई है। वह अपने जीवन को अपने तरह से जीने लगी है। वह पुरुषवादी मानसिकता का प्रतिरोध करने लगी है। उदाहरण के तौर पर 'छिन्नमस्ता' के प्रिया के जीवन को देख सकते हैं। वह पति से विद्रोह कर बिजनेस के लिए लन्दन चली जाती है। स्त्री उपन्यासकार स्त्री-जीवन की पीड़ा को अपने अनुभव के आधार पर यथार्थ रूप में अपने उपन्यासों में चित्रित कर रही हैं। स्त्री रचनाकार स्त्री के दुख, पीड़ा को ज्यादा अच्छी तरह से लिखने लगीं क्योंकि यह उनका अपना यथार्थ था। इन दशकों में प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, अलका सरावगी, शरद सिंह, मधु कांकरिया, नासिरा शर्मा, मनीषा कुलश्रेष्ठ, अनामिका आदि लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं में स्त्री-जीवन को उभारा है। उन्होंने अपने उपन्यासों में एक स्त्री की सिसकती पीड़ा तथा उसकी बनती-बिगड़ती दुनिया को बहुत अच्छें तरीके से अभिव्यक्त किया है। समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों को खंगाले तो पहले की तुलना में आज काफी बदलाव आया है। सामंती समाज में स्त्री की जो स्थिति थी, वह आज नहीं है। बहुत ज्यादा तो नहीं लेकिन आज स्त्री अपनी स्वयं पीड़ा लिख रही है। यह भी एक सामाजिक बदलाव है। इस सामाजिक बदलाव से सांस्कृतिक व नैतिक मूल्य भी बदलते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

आज स्त्री पुरुष सत्ता से बिना डरे स्त्री अपनी पीड़ा को रेखांकित करने लगी है। आज स्त्री उपन्यासकारों का लेखन गुणवत्ता की दृष्टि से भी अत्यंत समृद्ध है। स्त्री उपन्यासकार अपनी लीक से हटकर लिखने लगी हैं। सामाजिक रूप से तथा साहित्यिक जगत में यह एक नया बदलाव है। 'मैनेजर पाडेण्य ने 1990 के दशक को 'स्त्री के काल' के नाम से संबोधित किया है। स्त्री सदियों से समाज में दोयम दर्जे की नागरिक रही हैं। पारिवारिक प्रताड़ना को झेलती रही है। यह कहने की बात नहीं है कि नारीवादी आंदोलन के बाद स्त्री सशक्त तथा चेतना संपन्न हुई है। आजादी के पहले समाज में किसानों की समस्या ही महत्वपूर्ण थी और ज्यादातर उपन्यास किसानों की समस्याओं पर लिखे गए। उसी तरह आजादी के बाद उपन्यासों में स्त्री की समस्या केन्द्र में आई और आज खुलकर स्त्री-जीवन पर उपन्यास लिखा जा रहा है।

प्रभा खेतान 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में समाज का काला-चिट्ठा खोलती हैं। वह बेबाकपूर्ण तरीके से सामाजिक मुखौटे को उतारती हैं। जहाँ स्त्री को भोग की वस्तु के सिवा कुछ समझा ही नहीं गया है। वैसे हालात में अगर एक स्त्री अपनी रचना के द्वारा सामाजिक मुखौटे के भीतर की परत खोलती है। तो यह छोटी बात नहीं है। 'आवां' उपन्यास में स्त्री की कोख की समस्या प्रमुख है। 'सेज पर संस्कृत' उपन्यास में जैन-धर्म के खोखलेपन के जरिए, धार्मिक आड़ में शोषित स्त्री की कथा है। 'चाक' में ग्रामीण स्त्री-जीवन की समस्या को उजागर किया गया है। कहना न होगा कि अब सामाजिक परिदृश्य बदल चुका था। तभी तो जया जादवानी लिखती हैं ''मैं तो साँस हूं। तुम्हारे अन्दर और बाहर होती हुई।...तुम बहुत देर मुझे अपने में नहीं रख सकते। बाहर आना मेरी अनिवार्यता है...छोड़ना तुम्हारी नियति... ।''[1] जया जादवानी अपनी औरत होने की बेचारगी को उजागर नहीं करती बल्कि औरतपन का अतिक्रमण कर मानवीय सोच पर प्रहार करने का जोखिम उठाती हैं। सवाल यह उठता है कि ऐसी कितनी स्त्रियाँ हैं? आज भी स्त्री की नियति समाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मापदंडों पर ही तय होता है। अतः कह सकते हैं कि जब तक पुरुषों की मानसिकता नहीं बदलेगी तब तक स्त्री उत्थान की बात बेमानी होगी। स्त्री के बिना पुरुष अधूरा है उसी तरह स्त्री भी पुरुष के बिना अधूरी होती है। अगर प्रकृति की बात की जाए तो स्त्री ही सृष्टि का निर्माण करती है। स्त्री और पुरुष के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती । इसलिए सामाजिक परिदृश्य में एक स्त्री को सम्पूर्णता में स्वीकार किया जाना चाहिए तथा एक ऐसे समाज की निर्मिति होनी चाहिए जहाँ स्त्री और पुरुष बराबर हों तथा लैंगिक भेद-भाव न रहे।

स्त्रीवादी लेखन आज के समय की मांग है। हम आज आधुनिक सोच का दावा करते हैं फिर भी स्त्री की सामाजिक स्थिति में कोई बड़ा क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है। वह आधुनिक समय में भी दोहरी भूमिका में पीस रही है। हमारे समाज में पुरुषवादी व्यवस्था की जड़ें बहुत गहरे

तक धँसी हुई हैं जिसे तोड़ना आसान नहीं है। यह एक लम्बी लड़ाई है। आज हर क्षेत्र में स्त्री अपना वर्चस्व स्थापित कर रही है और पंरपरा के जंजीरों से मुक्त होने की कोशिश कर रही है।

4.1. पारिवारिक दायित्व और पति-पत्नी संबंध

परिवार समाज की बुनियादी इकाई है। भारतीय समाज में परिवार एक पितृसत्तात्मक संस्था है क्योंकि परिवार का मुखिया पुरुष होता है। पुरुष ही परिवार के अंदर स्त्री के जन्म, प्रजनन और उसकी यौनिकता पर अपना नियंत्रण रखता है। परिवार में लड़का बड़ा हो या छोटा, परिवार का मुखिया आगे चल कर वही बनता है जबकि स्त्री को ऐसा अवसर प्राप्त नहीं होता। वह हमेशा इस पद में पुरुष से पीछे रहती है। एक तरह से देखा जाए तो परिवार ही आने वाली पीढ़ी को पितृसत्तात्मक मूल्य देने का काम करता है। दरअसल परिवार के भीतर ही हम सबसे पहले ऊंच-नीच और लिंग का भेद-भाव करना सीखते हैं। परिवार एक ऐसी संस्था है जहाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था आज भी अपनी जड़ें जमा कर बैठा हुआ है। कमला भसीन लिखती हैं ''मर्द, घर के भीतर औरत द्वारा की जाने वाली मेहनत और घर के बाहर कमाई के लिए की जाने वाली मजदूरी दोनों पर नियंत्रण रखते हैं। घर के भीतर औरतें परिवार, बच्चों, पतियों तथा अन्य सदस्यों के लिए जीवन भर मेहनत करती रहती हैं।...पति तथा परिवार के अन्य सदस्य औरत की मेहनत का फायदा उठाते हैं। वह कहती हैं कि घरेलू औरतें उत्पादन करने वाला वर्ग है और पति फायदा उठाने वाला वर्ग। औरत का चौबीसों घंटे चलने वाला उबाऊ काम और कमरतोड़ मेहनत को काम समझा ही नहीं जाता और उसे फिर भी पति पर निर्भर व्यक्ति के रूप में देखा जाता है।''[2] वास्तव में यही स्त्री का जीवन है। वह घर में अगर चौबीसों घंटा काम करे तो भी उसके काम को महत्व नहीं दिया जाता है बल्कि उसके बदले घर के मर्द उस पर कई तरह के अंकुश लगाते हैं।

हम लोग आज 21 वीं सदी में जी रहे हैं। परिवार नामक संस्था जो स्त्री को केवल घर के काम-काज तक सीमित रखने वाली धारणा का समर्थन करता है, वह धारणा अब टूट रही है। स्त्री घर से बाहर काम कर रही है लेकिन सवाल यह है कि क्या वह दोहरी भूमिका में नहीं जी रही है? वह घर और बाहर दोनों जगहों पर अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रही है। हमें यह देखने की जरूरत है कि स्त्री अपनी भूमिका घर से लेकर बाहर तक अच्छी तरीके से निभा रही है लेकिन कितने ऐसे पुरुष हैं जो पितृसत्तात्मक सोच से मुक्त होकर घर की जिम्मेदारी उठा रहे हैं ? कुछ अपवाद मिल जाएंगें लेकिन 95 प्रतिशत पुरुष घर से बाहर का काम ही करना पसंद करते हैं और स्त्रियों पर अपना शासन करते हैं। पुरुषों की यह भी सोच बनी हुई है कि बच्चों की देख-रेख से लेकर चूल्हा-चौकी का काम केवल स्त्री का है। यह धारणा समाज में सदियों से बनी हुई है। स्त्री को परिवार में कैसे रहना है? क्या पहनना है ? यह घर के मुखिया (पुरुष) तय करते हैं। चाहे स्त्री प्रधानी के पद पर

ही क्यों न हो? स्त्रियाँ नाम मात्र प्रधानी के पद पर रहती हैं। पद संभालने के बाद सारा काम पुरुष करता है। स्त्रियाँ ज्यादातर परिवार में परंपरावादी मूल्यों को ढोने के लिए बाध्य होती हैं। आज स्त्री पढ़-लिख कर आर्थिक रूप से स्वावलंबी हुई है और विभिन्न क्षेत्रों में अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज करा रही है। परिवार में स्त्री-पुरुष संबंधों में भी बदलाव आया है। जहाँ स्त्री परिवार में पुरुष के सामने खड़ा नहीं हो पाती थी आज दोनों के बीच मित्र-भाव का संचरण होने लगा है। लेकिन कितना प्रतिशत यह बदलाव हुआ है ? इसे हमें देखने की जरूरत है। स्त्री के जीवन से संबंधित कुछ बुनियादी कठिनाइयां आज भी समाज में मौजूद हैं। बच्चे और परिवार की जिम्मेदारी स्त्री को ही उठानी पड़ती है। इसके साथ स्त्री को रोजगार के अवसर भी ढूंढने पड़ते हैं। आज भी समाज में स्त्री को कम बुद्धिमान और शारीरिक रूप से कमजोर माना जाता है। परिवार में लोगों की अपेक्षा बनी रहती है कि स्त्री चाहे जितनी पढ़ी-लिखी, हुनरमन्द हो या बाहर जाकर नौकरी करने वाली हो उसको अपनी स्त्रीपन, कोमलता और शांत स्वभाव का त्याग नहीं करना चाहिए। परिवार स्त्री के बारे में सोचता है कि वह नौकरी करे लेकिन घर-गृहस्थी के बीच संतुलन बनाए रखे। उसके चाहे उसे अपनी निजी रुचियों, गुणों और बेहतर भविष्य की बलि ही क्यों न देनी पड़े। आज भी घर-परिवार के चक्कर में ना जाने कितनी स्त्रियाँ को अपने बेहत्तर भविष्य का गला घोंटना पड़ता हैं।

प्रभा खेतान का चर्चित उपन्यास 'छिन्नमस्ता' मारवाड़ी परिवार की पृष्ठभूमि में रचा गया स्त्री-जीवन के शोषण, उत्पीड़न और संघर्षों की जीवंत कथा है। इस उपन्यास की नायिका प्रिया स्त्री-जीवन के उन पक्षों को परत-दर-परत उघाड़ती है जिनको पुरुषवादी समाज स्त्री की स्वाभाविक नियति मानता रहा है। पुरुष किसी भी तरह से स्त्री को अपने वश में रखना चाहता है। तभी तो विवाह के बाद जब प्रिया घर-परिवार के साथ ही साथ अपना हस्तशिल्प का बिजनेस शुरू करती है तो नरेन्द्र को यह बात खटकती है। नरेन्द्र गुस्से में प्रिया से कहता है ''मत बनाओं मेरे लिए खाना...श्रृंगार पटार करो, रंडियों की तरह ऑफिस में जाकर बैठो।''[3] वास्तव में प्रिया को नरेन्द्र परंपरागत स्त्री की भूमिका में देखना चाहता है जो उसके लिए खाना बनाए और उसकी सेवा करे तथा उसके अनुशासन में रहे। यहां प्रभा खेतान पुरुषवादी सोच को उजागर करती हुई दिखाई पड़ती हैं। पुरुष सभ्यता के विकास से ही पत्नी पर अंकुश लगाता आया है, जबकि वह खुद आजाद रहना चाहता है। तभी तो नरेन्द्र परायी स्त्री के साथ शारीरिक संबंध बनाता है। यहां तक कि वह घर पर भी दूसरी स्त्री को लाता है और प्रिया से उम्मीद करता है कि उसे बुरा न लगे। पति के इस तरह के स्वभाव से प्रिया ही क्यों दुनिया की किसी भी स्त्री को बुरा लग सकता है। कहा जाता है कि पति-पत्नी का संबंध बहुत ही पवित्र होता है। नरेन्द्र इस बात को भूल जाता है और रिश्ते की गरिमा को ठोकर मारकर अपना जीवन जीता है। पारिवारिक दायित्व सिर्फ स्त्री का ही नहीं पुरुष का भी होता है। परिवार को खुशहाल बनाएं रखने की जिम्मेदारी दोनों की होती है। इसे नरेन्द्र नहीं

समझ पाता है। दरअसल स्त्री को पर्दे या चहारदीवारी में कैद रखना ही पुरुष मर्दानी का प्रतीक है। 'छिन्नमस्ता' में प्रभा खेतान ऐसे कई सवाल उठाती हैं।

प्रिया को पति के रूप में एक ऐसे हमसफर की तलाश थी जिसके साथ वह अपनी पीड़ा को बांटती। वह अपना दर्द भूलना चाहती थी। प्रिया पति के रूप में एक दोस्त चाहती थी। ऐसे भी पति-पत्नी का संबंध दोस्ताना होना चाहिए तभी संबंधों में मिठास रहती है। पति शब्द अपने आप में स्वामी का रूप लिए हुए है। नरेन्द्र भी वही करता है। प्रिया का विश्वास सुहागरात के दिन ही टूट जाता है। वह कहती है ''मैं तो सुहागरात के दिन ही ठंडी हो गई थी। जिस्म को नोचता-खसोटता छब्बीस का युवक नरेन्द्र। जिस्म का भी एक स्वाद होता है...ठीक वैसे ही जैसे झागवाला बीयर। लेकिन मैं तो भय से सूखे पत्ते की तरह कांप रही थी। मैं कहना चाह रही थी-नरेन्द्र मैं कुँआरी नहीं...मैं पहले ही टूट चुकी हूँ। हर पुरुष ने मुझे चोट मारी है, आहत किया है। मेरा घायल मन। नरेन्द्र ! हम जीवनसाथी हैं... मैं तुमसे सबकुछ कह देना चाहती हूँ...एक पूरी बेबाकी ईमानदारी के साथ। नरेन्द्र ! तुम पढ़े-लिखे हो, अमेरिका से एम.बी.ए. करके लौटे हो, मगर नहीं, वह पढ़ा-लिखा आदमी बीस मिनट में अपनी भूख मिटाकर करवट बदलकर सो गया था। मैं थकी हुई बेदम पड़ी रही।''[4] पवित्रता का ठेका हमेशा स्त्रियाँ ही क्यों ढोती हैं पुरुष क्यों नहीं ? इसे सिर्फ स्त्रियों को ही क्यों सिखाया जाता है ? पुरुषों को क्यों नहीं ? क्यों नरेन्द्र प्रिया के मन को समझ नहीं पाता है। पुरुषों की परवरिश ही ऐसी होती है कि उसे परिवार में बचपन से ही स्त्री से ज्यादा महत्व दिया जाता है। उसे परिवार के लोग ही सिखाते हैं कि वह स्त्रियों की तरह न रोए क्योंकि वह पुरुष है। नरेन्द्र समाज के उन पुरुषों में गिना जा सकता है जो अपनी पत्नी को केवल जिस्मानी खिलौना समझता है उससे ज्यादा कुछ नहीं। यह सिर्फ एक नरेन्द्र की कहानी नहीं है बल्कि समाज में न जाने कितने ऐसे नरेन्द्र होगें जो अपनी पत्नी को 'देह' के सिवा कुछ नहीं समझते। नरेन्द्र के भावहीन व्यवहार और उसकी शारीरिक हवस प्रिया के सारे सपनों को तोड़ देती है। नरेन्द्र प्रिया को भौतिक सुख तो देता है लेकिन भावनात्मक सुख नहीं दे पाता। भावनात्मक संबंध से प्रिया नरेन्द्र से सौ कोस दूर ही रहती है। इसी भावनात्मक अभाव के कारण प्रिया अपने अतीत की पीड़ा से निकल नहीं पाती है। नरेन्द्र की पहुंच प्रिया के जिस्म तक ही सीमित है। घर और बाहर दोनों जगह प्रिया पुरुषों के इन रुग्ण प्रदर्शन को देखती और सहती भी है। इस कारण उसे अपने औरतपन से भी घृणा होने लगती है और वह औरत नहीं बने रहने का फैसला करती है। प्रिया अपनी हर कोमल भावना को कुचलने में ही आनन्द की अनुभूति करती है। प्रिया कहती है ''मुझे प्रेम, सेक्स, विवाह ये सारे सदियों पुराने घिसे हुए शब्द लगने लगे थे। नहीं शब्द नहीं मांस के ताजा टुकड़े। लहू टपकते हुए इन शब्दों के पीछे की दीवानगी और आदिकाल से चली आ रही, परंपराओं का चेहरा सिर्फ औरत के आँसुओं से तरबतर है, नहीं...मैं औरत नहीं बनना चाहती थी।''[5] बार-बार नरेन्द्र द्वारा उपेक्षित होने के कारण

प्रिया विद्रोहिणी बन जाती है। आज की स्त्रियाँ अपनी स्त्रियोचित गुणों पर नियंत्रण पाकर जीवन में आगे बढ़ रही है क्योंकि स्त्रियों के जो स्त्रियोचित गुण हैं वही उसके शोषण के कारण बने हुए हैं। रोहिणी अग्रवाल 'छिन्नमस्ता' उपन्यास पर दृष्टिपात करते हुए कहती हैं ''सुशील कुंवारी कन्या का अभिनीत करते-करते वह इतनी लहूलुहान हो चुकी है कि पतिव्रता पत्नी की भूमिका अभिनीत करने का धीरज और विश्वास उसमें नहीं। सोच के स्तर पर वह इतना गहरा विश्लेषण कर चुकी है कि ईमानदारी, वफादारी, प्यार, समर्पण जैसे स्त्रियोचित गुणों एवं मूल्यों के भीतर छिपे पाखंड को पहचानने लगी है। पाखंड भी नहीं, व्यूह रचनाएं हैं ये, ताकि किसी भी देश-काल की स्त्री इनसे बाहर निकलकर अपनी बुद्धि से सोच-समझ ही न पाए कुछ। प्रिया की विश्लेषण क्षमता ने अब हर तरह के शोषण का प्रतिकार करने के लिए उसे सन्नद्ध कर दिया है।''[6] घर में नरेन्द्र की मर्जी नहीं चलती या यूं कह सकते हैं प्रिया चलने नहीं देती। वह अपनी मर्जी से काम करती है और व्यवसाय में अपनी पहचान बनाती है लेकिन इस पहचान में वह अकेली रह जाती है। अपना दांपत्य जीवन बचा नहीं पाती। इस पहचान से नरेन्द्र को खुशी नहीं मिलती है, लेकिन प्रिया अपने जीवन में आगे बढ़ती रहती है। प्रिया जितना संघर्षरत होती है उतना ही उसका व्यक्तित्व निखरता है। एक ऊँचाई पर पहुँच कर प्रिया कहती है ''अनंत के इस विस्तार में क्षितिज महज कल्पना है। लहरों की इस दुनिया की न शुरुआत है, न अंत। मेरे साथ मेरा अकेलापन है। पर यह अकेलापन मुझे जीवन का अर्थ समझा रहा है। कैसे मैंने अपने आपको बचाया है। अपने मूल्यों को जीवन में सँजोया है। हाँ टूटी हूँ...बार-बार टूटी हूँ...पर कहीं तो चोट के निशान नहीं...दुनिया के पैरों तले रौंदी गई पर मैं मिट्टी के लौंदे में परिवर्तित नहीं हो पाई हूँ। अड़तालीस की इस उम्र में पूरी साबूत औरत हूँ, जो जिन्दगी को झेल नहीं रही, बल्कि हँसते हुए जी रही हूँ''[7] प्रिया का घर अंत में टूट जाता है और प्रिया अकेली रह जाती है। अपने जीवन में प्रिया अकेलेपन का सामना करती है, जिसकी जिम्मेदार प्रिया स्वयं भी होती है। प्रिया अंत तक नरेन्द्र से लड़ती है पर न नरेन्द्र झुकता है और न ही प्रिया झुकती है अपने गृहस्थी को बचाने के लिए। हक और लड़ाई के साथ संबंधों को बचाने की चुनौती के बारे में रेखा कस्तवार लिखती है ''परिवार के परिवेश और स्त्री की आर्थिक हैसियत की भिन्नता ने स्त्री को परिवार में भिन्न-भिन्न भूमिकाएं सौपी हैं और उसका दर्जा निर्धारित हुआ है। बदली हुई परिस्थितियों ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। सामान्यतः परिवार और विवाह के प्रश्न पर कामकाजी स्त्रियों को दोहरा संघर्ष करना पड़ा है। एक ओर पारिवारिक दायित्वों को वरीयताक्रम में स्त्री के जीवन में प्राप्त प्रथम स्थान और कार्यस्थल पर जगह बनाने की कशमकश ने स्त्री को दोहरे दायित्वों में बांधा। जहाँ कामकाजी होने पर स्त्री दोहरे काम का एकल वेतन पाती है, पुरुष इकहरे काम कर दो व्यक्ति के श्रम के बदले का वेतन पाता है। स्त्री के लिए पति-पत्नी के एक से प्रोफेशन में होने पर भी परिवार का दायित्व सर्वोपरि व महत्वपूर्ण रहा है वहीं पति का रिश्ता परिवार और घर से सुविधा और आराम का है।''[8] रेखा कस्तवार का यह प्रश्न विचारणीय है। स्त्री

चाहे किसी भी पद पर क्यों न पहुचं जाए वह अपने परिवार को छोड़ नहीं सकती। एक पत्नी का दायित्व यही समझा जाता है कि वह ज्यादा अच्छे तरीके से अपने परिवार और पति का ख्याल रखे और घर की जिम्मेदारी के साथ बाहर का काम भी संभाले। परंपरावादी मूल्यों के अनुसार पत्नी अपने परिवार के दायित्व से कभी भी मुक्त नहीं होती है।

'छिन्नमस्ता' उपन्यास में नरेन्द्र कहता है ''यह मत भूलो प्रिया कि मैं पुरुष हूँ, इस घर का कर्ता। यहाँ सिर्फ मेरी मर्जी चलेगी, हाँ सिर्फ मेरी।''[9] परिवार का मुखिया नरेन्द्र होता है। यह तो सदियों से चला आ रहा है कि जो ताकतवर होता है वही शासन करता है। अग्रवाल परिवार में नरेन्द्र करोड़पति बाप का बेटा है। अपने मन का मालिक। वह प्रिया को अपने वश में रखना चाहता है। परिवार के दायित्व से मुक्त रहना चाहता है। पारिवारिक दायित्व की बात करें तो परिवार की जिम्मेदारी स्त्री और पुरुष दोनों पर होती है। एक परिवार को संवारने में स्त्री अपने जीवन का जितना योगदान देती है उतना ही पुरुष को भी देना चाहिए। तभी एक सुखी सम्पन्न परिवार की कल्पना की जा सकती है। अगर इनमें से कोई भी अपनी जिम्मेदारी से भागता है तो उस परिवार का टूटना निश्चित है इसके सिवा कोई विकल्प नहीं होता। कहा जाता है कि जीवन एक गाड़ी है और स्त्री-पुरुष दोनों उसके पहिए। अगर एक पहिया खराब हो जाए तो जिन्दगी की गाड़ी रुक जाती है। उसी तरह पारिवारिक दायित्व है, जो स्त्री-पुरुष के परस्पर सहयोग के बिना आगे बढ़ नहीं सकता। लेकिन बिडंबना यह है कि परिवार का स्वामी घर में बड़े बुजूर्ग पुरुष ही होते हैं। पुरुषवादी व्यवस्था में घर से लेकर बाहर तक पुरुषों का ही वर्चस्व है। स्त्री तो घर की दासी होती है।

प्रिया बड़े घर की बहू होने के बावजूद नरेन्द्र पर निर्भर रहती है। उसे इस तरह का जीवन घुटन भरा महसूस होता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री दोयम दर्जे का जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। प्रभा खेतान अपने उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में यह दिखाना चाहती हैं कि पुरुष चाहे कितना भी पढ़ा-लिखा हो या बहुत पैसे वाला ही क्यों न हो, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वह अपनी पत्नी को अपने पैरो के नीचे रखना चाहता है। नरेन्द्र भी प्रिया के साथ वही करता है जो हर पुरुष अपने पत्नी के साथ करते होंगे। प्रिया व्यापार इसलिए करती है ताकि उसे नरेन्द्र के आगे अपना हाथ न फैलाना पड़े। प्रिया कहती है ''सच कहूं फिलिप, पैसे की कमी थी। अमीरी के आवरण में छिपे गरीब मन का ओछापन झेलते-झेलते, मैं थक गई थी। हर चीज के लिए नरेन्द्र से पैसा माँगना और फिर हिसाब देना। रोज की झकझक।''[10] प्रिया पति के इस यातना को झेलती है जबकि संवैधानिक रूप से पति की जिम्मेदारी होती है कि वह अपनी पत्नी का भरण-पोषण करे। प्रिया का जवाब देना ''मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, हिसाब नौकरों से माँगा जाता है।''[11] एक चेतनशील स्त्री की अभिव्यक्ति है। प्रिया उपेक्षा का जीवन तो जीती है लेकिन विद्रोह भी करती है। पति की जो भी सम्पति होती है उस पर उसकी पत्नी का आधा अधिकार होता है और यह कानूनी रूप से मान्य

है। कानून भी कहता है कि पति के सम्पत्ति का आधा मालिकाना हक पत्नी को मिलना चाहिए। प्रिया को जिस तरह थोड़े-थोड़े पैसे का हिसाब देना पड़ता है ऐसी वह पहली स्त्री नहीं है। हजारों स्त्रियों को इस भारतीय सामाजिक परिदृश्य में देखा जा सकता है।

समकालीन स्त्री उपन्यासकारों ने पारिवारिक दायित्व और पति-पत्नी संबंध का अत्यंत व्यापक वर्णन किया है। 'आवां' चित्रा मुद्गल द्वारा रचित अत्यंत महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में वर्तमान समाज की विसंगतियां, पाखंड और सामाजिक कुरीतियों को व्यापक रूप से चित्रित किया गया है। उपन्यास का दृश्य मुम्बई महानगर का है और उपन्यास की केन्द्रीय पात्र नमिता है। नमिता के पिता कामगार आघाड़ी के महासचिव रहते हैं। किसी कारणवश उनका पूरा अंग काम करना बंद कर देता है। अतः नमिता अपने घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए वहां काम करने जाती है जहाँ उसके पिता पहले काम करते थे। वह अपने परिवार की जिम्मेदारी अपने कंधों पर उठाती है। परिवार का आर्थिक संकट को दूर करने के लिए अपनी बी.ए. की पढ़ाई छोड़ देती है। आधुनिक भारतीय समाज की स्थिति ऐसी है कि स्त्री को नैतिकता के चौखट में बांधकर परिवार तक सीमित कर दिया जाता है। इस नैतिकता के समक्ष उसकी शैक्षिक, सामर्थ्य और उसके स्वप्न घुटने टेक देते हैं। इस नैतिकता के पीछे पुरुषवादी सोच ही कार्यरत है। नमिता अपने घर के भाई बहनों में बड़ी है। उसका एक छोटा भाई और एक बहन होती है। नमिता की मां अपने पारिवारिक दायित्व को बखूब निभाती है। नमिता के पिता का पूरा शरीर जब काम करना बंद कर देता है तब उसकी मां काम करती हैं और अपने बच्चों की देख-भाल करती हैं। यह अक्सर देखा जाता है कि घर की परिस्थिति खराब होने के बाद परिवार में सबसे पहले लड़कियों की पढ़ाई बंद करवा दी जाती है या प्राइवेट स्कूल से निकाल कर सरकारी स्कूल में डाल दिया जाता है। नमिता कहती है ''मोटी फीस के चलते मां ने बहन को अंग्रेजी स्कूल से निकाल कर हिन्दी स्कूल में डाल दिया। पढ़ाई छुड़ाई नहीं, यही गनीमत है।'' ''भाई ? '' ''वह अंग्रेजी स्कूल में ही पढ़ रहा है।''[12] भारतीय समाज में परिवार की स्थिति खराब होने पर सबसे पहले लड़कियों का जीवन प्रभावित होता है। स्त्री परिवार के चलते अपना विवाह तक नहीं करती है। वह परिवार की जिम्मेदारी अपने कंधों पर ले लेती है। आज भी समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत दोयम दर्जे की है। चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आवां' में स्त्री-जीवन के कई आयाम हैं। स्त्री-जीवन का एक विस्तृत फलक है। स्त्री लेखिकाओं द्वारा लिखे गए ज्यादातर उपन्यासों में यह दिखाया जा रहा है कि स्त्री अपने परिवार में ही सुरक्षित नहीं है। 'आवा' उपन्यास की पात्रा नमिता और स्मिता अपने घर के ही पुरुषों की कुदृष्टि का सामना करती हैं। नमिता अपने मौसा द्वारा यौन-शोषण का शिकार होती है, वहीं स्मिता अपने पिता द्वारा। स्मिता कहती है ''मिट्टी का तेल उड़ेलकर आई ने (मां ने) स्वयं को इस नरक से मुक्त करने की दो बार कोशिश की। हम दोनों बहनों ने उन्हें मुक्त नहीं होने दिया।''[13]

पति अगर ऐसा हो तो मां (पत्नी) क्या कर सकती है? जब कोई पति अपनी बेटियों पर ही बुरी दृष्टि डाले तो पत्नी आत्महत्या के सिवा और क्या सोच सकती है ? पति-पत्नी का संबंध जितना पवित्र होता है उससे कहीं ज्यादा बाप और बेटी का । अगर बेटी को जन्म देने वाला पिता ही अपनी बेटियों का भक्षक बन जाए तो लड़कियां कहाँ सुरक्षित हो सकती हैं ?

'आवां' में एक प्रेम प्रसंग है। जहाँ संजय कनोई जैसा इंसान अपनी पत्नी के सिवा दूसरी स्त्री से प्रेम करता है। प्रेम ही नहीं बल्कि नमिता के कुँवारे शरीर का भोग भी करता है। जब एक स्त्री किसी से प्रेम करती है तो सिर्फ प्रेम करती है । स्त्री के प्रेम में कोई स्वार्थ नहीं होता है । जबकि पुरुष प्रेम करता है तो उसके प्रेम में स्वार्थ होता है । संजय नमिता से प्रेम करता है लेकिन पिता बनने की इच्छा को पूरा करने के लिए। संजय नमिता को ऐसा दिखाता है कि वह उससे कितना अधिक प्रेम करता है । संजय नमिता से निर्मला के बारे में बातें करता है । संजय को अपनी पत्नी निर्मला पसंद नहीं है, वह नमिता से प्रेम करता है । इसलिए वह निर्मला को पसंद नहीं करता है । संजय कहता है '' एक बात कहूं, नमिता ! मैं नहीं चाहता , मेरी और तुम्हारी परस्परता के बीच निर्मला उपस्थित हो। निर्मला, निर्मला, निर्मला...सिर चढ़े प्रेत-सी खूंदती रहती है वह प्रतिपल मेरे दिमाग को , दिल को । घृणा है मुझे उससे । उसकी परछाई से । जानती हो तुम? बता चुका हूं सब फिर क्यों चर्चा कर रही हो उसकी?''[14] इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि संजय को अपने और नमिता के बीच निर्मला की उपस्थिति खलती है । यह सिर्फ एक संजय की बात नहीं है बल्कि दुनिया में कोई भी पुरुष जब किसी और स्त्री के साथ हो तो वह अपनी पत्नी की उपस्थिति नहीं चाहता । वह अपनी पत्नी को देखना भी नहीं चाहता है । यहां तक की प्रेमिका अगर उसकी पत्नी का नाम भी ले तो उसे बुरा लगता है। दरअसल पुरुष की मानसिकता ऐसी ही होती है । ऐसे कई सवालों को 'आवां' में उठाया गया है ।

पति-पत्नी का रिश्ता विश्वास पर टिका होता है । जब विश्वास टूटता है तो पति-पत्नी के रिश्तों में कड़वाहट आ जाती है । इसी तरह पति-पत्नी के रिश्तों में शारीरिक संबंधों की संतुष्टि भी मायने रखती है । संजय नमिता से अपनी पत्नी निर्मला के बारे में कहता है ''दुत्कारने को वह शुरुआत में नहीं दुत्कार सकती ? पिछली बार उड़ान के दौरान का किस्सा सुनो। अनुनय-भरे अपनत्व से मुझसे पूछने लगी, हमारे दैहिक संबंध लगभग समाप्त हो चुके हैं, संजय। तुम अपनी यौन -इच्छा कैसे संतुष्ट करते हो ? क्या जवाब दिया मैंने, सोच सकती हो ? जैसे तुम कर लेती होगीं । धूर्त ने पलटा मारा । मेरे भीतर कामेच्छा जागती ही नहीं। भट्टी में निरंतर झुकते ईंधन की भांति स्वयं को मैंने काम में झोंक रखा है । फिर भी कुरेदा मैंने । कभी-कभार देह तुम्हारे दिए विकल्पों को अस्वीकार करने पर नहीं उतर आती ?' 'आत्मानुशासन के विरुद्ध किसी की पुकार मुझे विचलित नहीं करती, फिर चाहे मेरी देह की ही क्यों न हो ! वैसे तुम्हारी जानकारी में इजाफा करने के मकसद

से तुम्हें बताना चाहती हूं। पुरुषों की बनिस्बत काम-कला में स्त्रियाँ मुझे अधिक निपुण लगती हैं।''[15] लेखिका शारीरिक संबंधों की तृप्ति के विषय को उठाती है।

'पिछले पन्ने की औरतें' शरद सिंह द्वारा रचित हिन्दी साहित्य का पहला ऐसा उपन्यास है जिसमें बेड़िन समाज का स्त्री-जीवन केन्द्र में है। बेड़िन समाज की स्त्रियाँ सदियों से सामाजिक उपेक्षा, आर्थिक विपन्नता और दैहिक शोषण को अपनी नियति मानकर सहती आ रही हैं। इनके धनार्जन का मुख्य साधन नाचना गाना है। समाज में इन औरतों की उपस्थिति का अनुभव तो किया जाता है किन्तु इनके प्रति संवेदनात्मक अनुभूति कभी-कभार ही उपजती है। अधिकांश लोगों के लिए ये औरतें बेड़िन मात्र हैं, जिन्हें नचाया जा सकता है, जिन्हें भोगा जा सकता है और जिन्हें परंपराओं की जंजीरों में जकड़ कर बन्धुआ बनाए रखा जा सकता है। इन्हें विकास की मुख्यधारा से जोड़ने का प्रयत्न यदा-कदा ही उठता है। स्त्री पर आधारित इस उपन्यास में सदियों से दमित, पीड़ित, शोषित और उपेक्षित स्त्रियों की जीवन-दशाओं एवं उनसे जुड़ी समस्याओं को चित्रित किया गया है। इस समाज में स्त्री काम करती है और पुरुष बैठ कर खाता है। पति-पत्नी का संबंध भी कुछ अलग तरह का होता है। यौन-शुचिता की बात यहां के पुरुष के लिए कोई मायने नहीं रखता है क्योंकि बेड़िन समाज के पुरुष को यह पता है कि उसका और उसके परिवार का भरण-पोषण पत्नी ही कर रही है। यहाँ स्त्रियों का तिहरा शोषण हो रहा है जिसे इस समाज का पुरुष परंपरा मानकर पोषण करता आ रहा है। बेड़िन समाज में पुरुषों द्वारा बनाई गई परंपरा का निर्वाह स्त्रियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी करती आ रही हैं। यदि इस समाज की स्त्रियाँ शिक्षित होतीं तो पुरुषों द्वारा रचे गए इस षड्यंत्र को समझ सकती। हमारे समाज कि यह विडम्बना है कि सदियों से पुरुषों ने स्त्रियों को परंपरा के नाम पर ठगने का काम किया है। फिर भी स्त्रियाँ उन्हें अपना भगवान मानकर पूजती आ रही हैं। बेड़िन समाज की औरत पैसे कमाने के लिए अपने पति के साथ रहते हुए भी दूसरे पुरुष के साथ संबंध बनाती है। उनके पतियों को पता होता है लेकिन वह कुछ नहीं कहता। यह एक अलग तरह का समाज है। बेड़िन समाज में अगर किसी बेड़नी की दो बेटियां होती हैं तो एक शादी कर लेती है और दूसरा परिवार के भरण-पोषण के दायित्व का निर्वाह करती है। शरद सिंह बेड़िन समाज के बारे में लिखती हैं ''आखिर एक बेटी परिवार के भरण-पोषण के दायित्व का निर्वाह करने के लिए तैयार रहती है। लहंगा-चोली से ढंकी औरत को भले ही नारीत्व का प्रतिमान समझा जाए, लेकिन जहाँ उसके नारीत्व के बदले धन कमाने का अवसर आता है तो सभी मानदंड दोहरे हो जाते हैं। रेड-लाइट एरिया के नाम से कुख्यात क्षेत्रों में औरतों से धन कमाने वाले तथा औरतों के लिए ग्राहक के रूप में पुरुष तलाश कर, फंसाकर लाने वाले पुरुष को उस औरत का दलाल, दल्ला अथवा भड़वा कहा जाता है। बेड़िया समुदाय में ऐसा नहीं है। बेड़िया पुरुष अपने समुदाय की औरतों द्वारा देह-व्यापार किए जाने को बुरा नहीं समझते हैं, किन्तु वे उनके लिए दलाल का

काम भी नहीं करते हैं। बेड़नी के रूप-सौन्दर्य एवं नृत्य की ख्याति से प्रभावित होकर अथवा उसे देखकर धनिक पुरुष स्वयं ही प्रस्ताव रखते हैं और अपने नौकरों-सेवकों के माध्यम से सौदा तय करते हैं। ये धनिक बेड़नियों से आजीवन अनुबंध भी करते हैं, जिसे 'सिर-ढंकना' कहा जाता है। यह प्रथा आज भी जारी है।''[16] इस समाज में परिवार की जिम्मेदारी लड़कियां उठाती हैं। वह बाप और भाई का भरण-पोषण करती है।

मधु काँकरिया द्वारा रचित उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' समकालीन समय में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस उपन्यास की नायिका संघमित्रा है। उसके घर में उसकी मां और छोटी बहन छोटकी है। पिता की अचानक मृत्यु हो जाने के कारण परिवार की सारी जिम्मेदारी संघमित्रा और उसकी मां उठाती हैं। मां घर की जिम्मेदारी तो उठा लेगी है लेकिन बाहरी दुनिया से लड़ने की क्षमता उसमें नहीं है। वह अपनी दोनों बेटियों के बारे में चिंतित रहती है और सोचती है कि बिना मर्द के 'घर', 'घर' नहीं होता। संघमित्रा की मां अपनी बेटियों के लिए बाहरी दुनिया को सुरक्षित नहीं समझती है। पति की मृत्यु के बाद दो बेटियों को लेकर वह दर-दर की ठोकर खाने लगती है। वह कहती है ''घर में बेटी और खेत में ककड़ी को बढ़ते देर नहीं लगती-बोलते-बोलते मां की आँख भर आई। साड़ी के आँचल से आँख-नाक पोंछ मां ने कहा, 'सोचती हूँ तो हाड़ कांप जाता है। जमाने से इतनी लात खाई कि अब छाती में जोर नहीं रहा। सच्ची बात तो यह है कि बिना धुएं के चूल्हे और बिना खूँटे के बछड़े की कोई गति नहीं होती। जहाँ चूल्हा नहीं जलता वहाँ आदमी जलने लगता है। जानती हो, पापड़ बेलते-बेलते हथेलियों में ठाठे पड़ गए तो भी मैं नहीं घबराई। भाई साहब, भाई साहब, कहते-कहते छोटे-छोटे काम देने के लिए दुनिया के निहोरे काढ़ती रही। पर दुनिया इज्जत से जीने नहीं देती। जानती हो, उस लम्पट पापड़वाले ने किस कदर जलील किया मुझे मन किया कि धरती फट जाए और सीता मैया की तरह उसी में समा जाऊँ। गिनती में चार पापड़ कम रह गए थे तो हरामजादा ने कहा, 'पापड़ तो क्या, कहे तो खीरमोहन भिजवा दूँ पर जरा मेरा भी ख्याल रखा करो।'...यह आदमियों की दुनिया है जो रोटी तो देगी पर बोटी नोंच लेगी।''[17] बात तो सच है कि यह दुनिया पुरुषों की है लेकिन यह सोचकर कोई जीना तो नहीं छोड़ सकता है। संघमित्रा अपनी मां से ज्यादा मजबूत और पढी लिखी होती है। वह दुनिया से लड़ने को तैयार रहती है। घर का परिवेश जैन धर्म का है। मां दोनों बेटियों को जैन-धर्म की दीक्षा लेकर साध्वी जीवन जीने को कहती है। संघमित्रा अपनी मां को समझाती है और कहती है ''जिनके पास आशा है वही धनी हैं। उसी के पास सब कुछ है। तुमने तो धर्म को लोमड़ी की तरह चालाक बना दिया है। जीवन मुश्किल लगे तो धर्म का लबादा डाल लो। सोचो माँ, तुम्हारा डर और असुरक्षा बोध इस कारण है कि घर में कोई पुरुष नहीं। तुम्हें लगता है कि तुम अपने बूते हमारे लिए पति का जुगाड़ नहीं कर पाओगी तो इन्हें धर्मरूपी पति के हवाले कर दो। पर हमें न पति

चाहिए न घर। हमें बस थोड़ा-सा भरोसा दो जिससे हमारे पंखों को मजबूती मिल जाए, फिर हम अपना आसमान खुद ढूँढ़ लेंगे। औरत होने के भय से तुम खुद भी मुक्त हो जाओ और हमें भी मुक्त कर दो।''[18] संघमित्रा अपनी मां से आगे की सोच रखती है। वह पढ़ी-लिखी आत्मनिर्भर स्त्री है। वह जानती है घर के बाहर की दुनिया ठीक नहीं है लेकिन वह लड़ने के लिए हमेशा तैयार रहती है। मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'त्रियाहठ' एक अलग तरह का उपन्यास है। इस उपन्यास में परिवार में स्त्री की स्थिति का चित्रण किया गया है। जब एक पुरुष विधुर हो जाता है तो उसे दूसरी शादी करने में समय नहीं लगता है। वह किसी भी स्त्री से विवाह कर लेता है। जबकि एक स्त्री ऐसा करने में कई बार सोचती है क्योंकि हमारा पितृसत्तात्मक समाज स्त्री को इसकी इजाजत नहीं देता। पुरुष चाहे कितनी भी शादी कर ले पर स्त्री के लिए हमारे समाज में विधवा-विवाह की अनुमति नहीं दी जाती है। इसके इतर हमारा समाज एक विधवा स्त्री को कई सामाजिक उपमाओं जैसे कुलटा, डायन आदि उपमाओं से भी विभूषित कर देता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि 'आंवा' की नमिता हो या 'सेज पर संस्कृत' की संघमित्रा , दोनों जीवन की जद्दोजहद से लड़ती रहती हैं। परिवार की जिम्मेदारी उठाते-उठाते अपने विवाह के लिए सोचती तक नहीं और जब सोचना शुरू करती हैं तो बहुत देर हो जाती है। समकालीन उपन्यासों में कुछ ऐसी ही स्त्री चरित्र गढ़ी जा रही हैं।

4.2 अस्मिता का प्रश्न और स्त्री

भारतीय समाज पितृसत्तात्मक समाज है। इस समाज में स्त्रियाँ आदिम युग से पुरुष के अनुसार अपना जीवन यापन करती रही हैं। सामाजिक सभ्यता के विकास से आज तक किसी ने उसे एक मनुष्य के रूप में नहीं देखा। समकालीन समय में नए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मूल्यों के कारण स्त्री-जीवन में काफी बदलाव आया। इस दौरान स्त्री-जीवन को लेकर कई पुराने मूल्य टूटे तो कई नए मूल्य बने। इस समय स्त्री अपनी अस्मिता की लड़ाई स्वयं लड़ने लगी है। स्त्री अस्मिता का प्रश्न स्त्री के अधिकार और उसकी अस्मिता से जुड़ा हुआ है। जगदीश्वर चतुर्वेदी का कथन है ''स्त्री की अस्मिता को परिवार ने हजम किया था अतः अस्मिता की पहचान स्थापित करने की लड़ाई परिवार की पुरानी अवधारणा पर चोट करती है। 'परिवार' की सामंती धारणा बनाए रख कर स्त्री अस्मिता को अर्जित करना संभव नहीं था,...यही वजह है कि स्त्रियों को परिवार एवं परिवार के बाहर संघर्ष करना पड़ा। स्त्री अस्मिता के लिए आज भी परिवार के अंदर एवं बाहर स्त्री संघर्ष की प्रासंगिता है। जब कोई लेखिका घर की चौहद्दी में रहकर राष्ट्र के प्रति सहानुभूति और राष्ट्रीय सरोकारों को लेकर निजी राय व्यक्त कर रही होती है तो वह अपनी अस्मिता के संघर्ष को ही जारी रखे होती है।''[19]

स्त्री अस्मिता की मांग दरअसल पश्चिम से शुरू हुआ। जब औद्योगिक युग में मानव और मानवीयता को महत्व दिया जाने लगा। एक तरह से स्त्री के समान अधिकारों के लिए पश्चिम में पुरुषों ने जोरदार ढंग से मुहिम चलाई। भारत में जब यह आंदोलन शुरू हुआ तो शुरुआती दौर में पुरुष ही उसके मार्गदर्शक थे। भारत में सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नारि नर सम होंहि' लिखा। उसके बाद हिन्दी में भगवती चरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' उपन्यास लिखा, जिसने स्त्री की शुचिता-ग्रंथि के मिथक को ध्वस्त किया। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री जीवन के मानवीय, प्राकृतिक, स्वाभाविक भावनाओं के त्याग और दमन को उसका गुण माना जाता था। सामाजिक और आर्थिक विकास के साथ ये सारी ग्रंथियां टूटनी शुरू हुई। लेकिन आज भी स्त्री दोयम दर्जे का जीवन जीने के लिए अभिशप्त है और वह अपनी अस्मिता के लिए लड़ रही है क्योंकि अभी भी पितृसत्ता सामाजिक रूप से अपनी जड़ें जमाए बैठा हुआ है। जब तक पितृसत्ता कमजोर नहीं होगा स्त्री-जीवन का उद्धार नहीं हो सकता। स्त्री की अस्मिता संकट में है। स्त्री अस्मिता के बारे में रमणिका गुप्ता लिखती हैं ''दरअसल यह पुरुष के समान स्त्री का समान अधिकार, स्त्री के प्रति विवेकपूर्ण दृष्टिकोण तथा स्त्री द्वारा पुरुष के वर्चस्व का प्रतिरोध है। औरत का केवल स्वतंत्र होकर निर्णय ले सकना या आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो जाना ही उसकी अस्मिता नहीं है। सही मायने में स्त्री अस्मिता का अर्थ होगा स्त्री के प्रति समाज के दृष्टिकोण और मानसिकता में बदलाव, जिसमें स्त्री का खुद का दृष्टिकोण भी शामिल हो। पुरुष के बराबर अधिकार, स्त्री के चयन, वरण और नकारने की स्वतंत्रता स्त्री की अस्मिता की मुख्य शर्ते हैं।''[20] इसमें 'छिन्नमस्ता' उपन्यास की प्रिया खरी उतरती है, जब वह अपनी शर्तों पर जीने के लिए सक्षम होती है। लेकिन वह अनेक सामाजिक चुनौतियों का सामना करती है क्योंकि सामाजिक व्यवस्था आज भी पुरुषों के अधीन है। सिमोन कहती हैं ''स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि पैदा होने के बाद उसे स्त्री बनाई जाती है।'' दरअसल पैदा तो वह एक मनुष्य के रूप में होती है जो लिंग के आधार पर भिन्न मानी जाती है।' यही लिंग भिन्नता सामाजिक रूप से स्त्री-पुरुष बनाती है। अस्मिता का अर्थ होता है पहचान। स्त्री आज अपने अच्छे-बुरे की पहचान करने लगी है। बदलते दौर में स्त्री अपनी अस्मिता को पहचान रही है। आज स्त्री स्वयं को नए तरीके से तलाश रही है। एक तरह से देखा जाए तो समाज में स्त्री-पुरुष के परंपरागत संबंधों में काफी बदलाव आया। इस बदलाव ने समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक मूल्य भी बदले। फलस्वरूप स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुआ और स्त्रियाँ आत्मनिर्भर होने लगीं।

समकालीन स्त्री उपन्यासकारों में कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मन्नू भंडारी, प्रभा खेतान, नासिरा शर्मा, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, गीतांजलिश्री, अलका सरावगी, मधु कांकरिया, शरद सिंह, अनामिका, मैत्रेयी पुष्पा आदि प्रमुख हैं। इन उपन्यासकारों ने नवीन मूल्यों के आधार पर अस्तित्व तथा अस्मिता की तलाश की हैं। इन्होंने उपन्यासों में अपने पात्रों के माध्यम से कई महत्वपूर्ण प्रश्न

उठाए। इन उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री बाद में है पहले वह इंसान है। इनके उपन्यासों की स्त्रियाँ नियति को स्वाभाविक रूप में स्वीकार नहीं करती बल्कि वे अंत तक जीवन से संघर्ष करती रहती हैं। प्रभा खेतान के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में स्त्री पहचान की एक तड़प दिखती है। प्रिया के अंदर अपनी पहचान को लेकर एक बेचैनी दिखती है। डॉ. ज्योति का कथन है ''छिन्नमस्ता' हमारे समाज की उस चीखती सच्चाई की कहानी है जिसे हम सुनकर भी सुनना और समझना नहीं चाहते हैं। लेकिन इंसानी समाज का एक खास हिस्सा अगर अपने जख्मी वजूद के साथ सिसक रहा हो तो, इसका असर पूरे समाज पर पड़ता है। इस उपन्यास में प्रिया नामक एक ऐसी लड़की की कहानी है जो जन्म से उपेक्षित और निरंतर शोषित तथा उत्पीड़ित है। इसके इतर-समाज की जर्जर मान्यताओं और पुरुष की आदिम शारीरिक भूख से भी उत्पीड़ित है।। एक संपन्न मारवाड़ी परिवार में पांचवी लड़की के रूप में जन्म लेने वाली प्रिया का आगमन ही पूर्णतः उपेक्षित और अनावश्यक दिखता है। अन्य भाई-बहन की तुलना में साधारण शक्ल-सूरत वाली प्रिया जन्म देने वाली ममतामयी मां के स्नेह और प्यार से भी वंचित रहती है। चिररोगिणी मां के स्नेह और प्यार से वंचित प्रिया अपने भाई-बहन के उपहास की पात्र भी बनती है''[21] इस प्रकार प्रिया अपने घर में ही अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ती है। उसके घर में उसका कोई अस्तित्व नहीं होता है। उसे घर में भाटा, बोकी आदि नामों से पुकारा जाता है। उसे अपने घर में पिता के अलावा किसी और से प्यार नहीं मिला। यहां तक की वह अपने बड़े भाई के द्वारा यौन शोषण का शिकार होती है और बाद में कॉलेज में शिक्षक द्वारा। वह उपेक्षित जीवन जीने के साथ सिर्फ दाई मां की बेटी बन कर रह जाती है। प्रिया कहती है ''मां ने मुझे कभी प्यार नहीं किया, कभी गोद में लेकर चूमा नहीं। मैं चुपचाप घंटों उनके कमरे के दरवाजे पर खड़ी रहती। शायद अम्मा मुझे भीतर बुला ले। शायद..हाँ, अपनी रजाई में सुला ले। मगर नहीं एक शाश्वत दूरी बनी रही, हमेशा हम दोनों के बीच में।''[22] प्रिया अपनी मां के घर में ही पहचान के संकट से जूझ रही है।

शादी के बाद भी प्रिया का जीवन सुखमय नहीं रहता। प्रिया को पति के रूप में एक हमसफर की तलाश थी, जिसके साथ वह अपने जीवन की दुखमय पीड़ा को बाँट सके। लेकिन उसका पति नरेन्द्र समाज के उन पुरुषों में से है जो स्त्री के जिस्म को खिलौना के सिवा कुछ नहीं समझते हैं। अतः घर और बाहर पुरुष के इन भाव-भंगिमाओं को देखते हुए प्रिया को अपने औरतपन से ही चिढ़ होने लगती है। अरविन्द जैन का कहना है ''यह उपन्यास प्रिया नामक एक ऐसी नारी का आख्यान है, जो निरन्तर शोषित है--समाज की जर्जर मान्यताओं से भी और पुरुष की आदिम भूख से भी, टूट जाने की हद तक लेकिन वह टूटती नहीं बल्कि शोषक शक्तियों के लिए चुनौती बनकर एक नई राह पर चल पड़ती है और यहाँ से आरम्भ होती है उसकी बाहरी और आन्तरिक यात्राएँ, संघर्षों का एक अटूट सिलसिले का एक लक्ष्य है--समाज की जिन बर्बर

मर्यादाओं और शक्तियों के सामने एक दिन वह मेमने की तरह मिमियाती रही थी, वे देखें कि नारी सदा ऐसी ही निरीह नहीं रहेगी। और सचमुच, प्रिया उभरती है अपनी निरीहता से। अपनी खोई हुई अस्मिता को पुनः प्राप्त करके वह एक सबल नारी के रूप में उपस्थित होती है।''[23]

शुरुआती दौर में प्रिया छोटे स्तर पर अपना व्यवसाय शुरु करती है। धीरे- धीरे वह व्यवसाय की दुनिया में अपनी एक पहचान बना लेती है। वह नरेन्द्र से कहती है ''नरेन्द्र मैं पैसों के लिए काम नहीं कर रही।...अपनी आइडेंटिटी, व्यक्तित्व के विकास के लिए''[24] प्रिया की पहचान और सफलता से नरेन्द्र खुश नहीं होता बल्कि उसके अहं को ठेस पहुँचता है। आज प्रत्येक स्त्री अपनी पहचान के लिए पितृसत्तात्मक व्यवस्था से लड़ रही है। जब एक स्त्री घर से बाहर अपना कदम रखती है तो उसे कई सामाजिक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। प्रिया को भी इन स्थितियों का सामना करना पड़ा। उसे सबसे पहले अपने पति नरेन्द्र का ही सामना करना पड़। पितृशाही व्यवस्था कभी भी स्त्री की आजादी को उसके पहचान से नहीं देखती। उसे हमेशा एक उच्छृंखल स्त्री के रुप में देखता है। तभी तो नरेन्द्र प्रिया के पैसे कमाने को हवस कहता है। यह नरेन्द्र की गलती नहीं है बल्कि सामाजिक परिवेश ही ऐसा है, जहाँ बचपन से ही स्त्री-पुरुष का भेद सिखाया जाता है। प्रिया यहाँ सामाजिक व्यवस्था की पोल खोलती है। अतः आज जो भी स्त्रियाँ अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही हैं उसे प्रिया जैसी स्त्री पात्र से किसी न किसी रूप में ताकत मिलती है। प्रिया का जीवन उन लाखों टूटी हुई स्त्रियों के लिए प्रेरणा है जो अपनी अस्मिता की लड़ाई बिना टूटे लड़ रही हैं।

'आवां' उपन्यास की प्रत्येक स्त्री पात्र अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ती है। नमिता अपनी अस्मिता के लिए लड़ती है। नमिता जिसे प्रेम मानती है वह प्रेम नहीं बल्कि धोखा होता है। नमिता बचपन में अपने घर में ही बलात्कार का शिकार होती है और टूट चुकी होती है। पुरुषवादी व्यवस्था जहाँ उसे चुप रहने की सलाह देती है। वहीं उसकी मां किसी से कुछ भी न कहने की बात करती है ताकि बहन से रिश्ता न खत्म हो जाए। कहीं न कही स्त्रियाँ भी पुरुष मानसिकता से ग्रसित होती हैं क्योंकि उनकी सामाजिक संरचना में यही होता है। इसी सामाजिक व्यवस्था के कारण वह दूसरी बार भी पिता तुल्य अन्ना साहेब से यौन शोषण का शिकार होती है। 'आवां' की नायिका नमिता देवीशंकर पाण्डे की बड़ी बेटी है। देवीशंकर पाण्डे 'कामगार अघाड़ी' के सक्रिय सदस्य हैं। लेकिन श्रमिकों के लिए किए गए एक आंदोलन में पक्षाघात का शिकार हो जाते हैं , जिसके कारण उनका जीवन बिस्तर पर ही बीतता है। घर की स्थिति खराब होने के कारण नमिता और उसकी मां 'श्रमजीवा' नामक संस्था में पापड़ बनाकर और साड़ी में फाल लगा कर अपना जीवन यापन करती हैं। नमिता पर अपने पिता के साथ छोटे-भाई बहन की भी जिम्मेदारी होती है। घर की जिम्मेदारी के चक्कर में नमिता को अपनी पढ़ाई छोड़नी पड़ती है। नमिता जहाँ भी

काम करने जाती है वहां उसे मादा ही माना जाता है। नमिता को 'कामगार अघाड़ी' में उसके पिता के स्थान पर काम दिया जाता है। वहीं पर पिता तुल्य अन्ना साहेब उसका यौन शोषण करता है और नमिता को सीख मिलती है कि 'पिता तुल्य' आदमी पिता नहीं होता बल्कि एक पुरुष होता है। नमिता को एक औरत होने की सजा भुगतनी पड़ती है। चित्रा मुद्गल लिखती हैं कि ''स्त्री की क्षमता को उसकी देह से ऊपर उठकर स्वीकार न करने वाले रूढ़, रूग्ण समाज को बोध कराना आखिर किन कंधों का दायित्व होगा?... ।''[25] क्या ऐसे समाज की निर्मिति होगी जहाँ स्त्री को बराबरी का अधिकार मिले? जहाँ अन्ना साहेब जैसे लोग न हों। नमिता की अस्मिता प्रेम के नाम पर भी कुचली जाती है। संजय कनोई के झूठे प्रेम में पड़ कर वह छली जाती है। 'आवां' में नमिता जैसी उन स्त्रियों की त्रासदी है जो घर की दहलीज पार कर अपनी आर्थिक आजादी और सामाजिक अस्तित्व के लिए विभिन्न क्षेत्रों में संघर्षरत हैं। 'आवां' की नमिता, स्मिता, गौतमी, 'छिन्नमस्ता' की प्रिया, 'सेज पर संस्कृत' की संघमित्रा, 'पिछले पन्ने की औरतें' की श्यामा, नचनारी, 'तिनका तिनके पास' की अवंतिका देवी, तारा, और शिरीन सभी स्त्री पात्र किसी न किसी रूप में पितृसत्तात्मक समाज में उत्पीड़न की शिकार हैं और अपनी अस्मिता की लड़ाई लड़ती हैं। इस प्रकार से हम देख सकते हैं कि समकालीन हिन्दी स्त्री उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री-जीवन के विविध रूप मिलते हैं। इन उपन्यासों में अस्मिता के संघर्ष से पैदा हुए कई प्रश्न बेबाकी से उठाए गए हैं।

4.3. विवाह संस्था का बदलता स्वरुप और स्त्री

मानव जीवन के शुरुआत के साथ ही स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों की शुरुआत हुई। प्राचीन युग में स्त्री-पुरुष बिना किसी बंधन के साथ रहते थे। लेकिन समय के साथ इन संबंधों का स्वरूप बदला। जब समाज और परिवार की परिकल्पना अस्तित्व में आई तो स्त्री-पुरुष संबंधों को एक बंधन का रूप देने के लिए विवाह संस्था को मान्यता दी गई। हजारों वर्षों के बाद आज भी विवाह का स्वरुप अलग-अलग जातियों, देश से लेकर विदेशों में भिन्न-भिन्न हैं। भारत जैसे विशाल देश में यह भिन्नता और अधिक है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में तो आज भी स्त्री-पुरुष संबंधों को सामाजिक मान्यता तभी दी जाती है जब विवाह संस्था द्वारा स्त्री-पुरुष संबंध को मंजूरी मिली हो। यह रूढ़िवादी परंपरा आज भी समाज में अपनी जड़ें जमाए बैठा है। वस्तुतः भारतीय समाज में विवाह एक ऐसी संस्था है जहाँ स्त्री की स्थिति और अधिक दयनीय हो गई है। परिवार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के बावजूद वह सुखमय जीवन नहीं जीती है और ना ही उसे निर्णय लेने का अधिकार है। वास्तविकता यह है कि विवाह संस्था में स्त्री आज भी आजाद नहीं है। वह कई बंधनों में जकड़ी हुई है। प्रागैतिहासिक काल में मातृसत्तात्मक समाज होने के कारण स्त्री स्वतंत्र थी, स्वावलंबी थी और उसे निर्णय लेने का अधिकार भी था क्योंकि उस समय वर्चस्ववादी

संस्कृति स्त्रियों के ऊपर हावी नहीं थी इसलिए स्त्रियाँ पूर्ण रूप से स्वतंत्र थीं। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री पुरुष की सम्पत्ति बन गई। उसका रूप सहचरी, सहभागिनी के बदले पुरुष की अनुचरी और अबला जैसी हो गयी। वह पुरुष द्वारा खरीद-फरोख्त की जाने लगी और विवाह प्रथा ने इस प्रथा को और ज्यादा मजबूत किया। रमणिका गुप्ता का कथन है ''विवाह की प्रथा भी सभ्यता और संस्कृति के विकास के इतिहास में औरत को संपत्ति बनाने की तरफ और उस पर अंकुश लगाने के लिए बढ़ाया गया एक नियमित, योजनाबद्ध कदम था। विवाह औरत की गुलामी का प्रथम दस्तावेज था।''[26] रमणिका गुप्ता का सवाल विचारणीय है क्योंकि यह सच है कि विवाह संस्था स्त्री को गुलाम बनाती है। वह घरेलू हिंसा का शिकार होती है तथा उसे पुरुषों के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है।

विवाह संस्था में स्त्री आजाद नहीं होती है। वह कई बंधनों से बंधी होती है। विवाह एक ऐसी संस्था है जो वैधानिक अधिकार प्राप्त कर, स्त्री का हर तरह से शोषण करता है। इस संबंध में स्त्री को सिर्फ संबंधों का बोझ ही ढोना पड़ता है जिसे पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के त्याग और बलिदान का नाम दिया गया है। विवाह एक ऐसा संस्कार है जिससे बंधने के बाद स्त्री को अपनी जड़ों (घर) को छोड़ कर पति के घर जाना पड़ता है और वहां उसके नाम का दूसरा नामकरण होता है। बहुत बार विवाह के बाद स्त्री को उसके गाँव के नाम के साथ पुकारा जाता है जैसे माधोपुरवाली, मोड़वाली आदि। यानी इस संस्था में स्त्री का अपना कोई अस्तित्व ही नहीं होता है। एक तरह से देखा जाए तो इस संस्था में स्त्री को संरक्षण तो मिलता है लेकिन रोटी, कपड़ा और मकान के एवज में स्त्री जीवन भर के लिए पुरुष (पति) की बंधुआ मजदूर बन जाती है। अब समय के साथ चीजें बदल रही हैं। इस गुलामी के मकड़जाल को तोड़ने की बात की जा रही है। रमणिका गुप्ता लिखती हैं ''विवाह नाम की संस्था को टूटना चाहिए। मैं परिवार और विवाह को स्त्री के लिए पिंजरा मानती हूं। वह स्त्री को पिंजरा में कैद करता है।''[27] इसके अतिरिक्त मैत्रेयी पुष्पा कहती हैं ''मेरी तीव्र इच्छा है, हजारों साल से चला आ रहा सिलसिला टूटना चाहिए। अपने हक के लिए लड़ना चाहिए। संरक्षण और सुरक्षा स्त्री के लिए खतरनाक और बर्बर शब्द है, भरोसा देकर उसे नष्ट करते हैं। बात वही है कि जो अपने प्रति न्याय की बात नहीं सोचता, उसे न्याय देने की मूर्खता कौन करेगा?''[28] अतः स्त्रीवादी चिंतक स्त्री को अपने भले के बारे में सोचने को प्रेरित करती हैं। आज स्त्री चेतना संपन्न हुई है, वह पुरुषवादी व्यवस्था के मकड़जाल को समझने लगी है। वर्तमान समय में विवाह का स्वरूप बदल रहा है। आज लिव-इन-रिलेशनसिप का कंसेप्ट आ गया है।

आज स्त्री प्रश्न कर रही है ? वह सवाल उठा रही है, क्या है यह विवाह संस्था? क्यों एक स्त्री के अस्तित्व की पहचान उसके पति से संबंधित है? एक स्त्री-पुरुष के संबंध को क्यों विवाह संस्था द्वारा ही मान्य माना जाता है ? विवाह संस्था वह है जहाँ स्त्री के साथ सहजता से शारीरिक

संबंध बनाया जा सके? विवाह के बाद पुरुष के घर के कामकाज को बिना उफ्फ तक किए दिन-रात बड़ी तन्मयता से निबटा सके ? क्या यही है स्त्री की नियति ? न जाने कितनी स्त्रियाँ वैवाहिक संबंधों में यौन शोषण का शिकार होती हैं। पुरुष को विवाह के नाम पर सामाजिक अधिकार मिल जाता है। आज की स्त्री इस बंधन को तोड़ रही है। प्रभा खेतान भी विवाह को स्त्री के लिए अनिवार्य नहीं मानती हैं उनका कहना है ''विवाह एवं पति बच्चे ही सब कुछ नहीं हैं। अगर पुरुष स्त्री का शोषण करें तो पत्नी को इसका प्रतिकार करना सीखना चाहिए। विवाह, पति , बच्चों से अलग हटकर भी स्त्री का अपना सा अस्तित्व होता है। जिसके आधार पर वह अपनी अलग स्वतंत्र पहचान बना सकती है।''[29] फलतः स्त्री भी अपने अधिकारों को समझ रही है। तभी तो कृष्णा सोबती 'मित्रो मरजानी' जैसा उपन्यास लिखती है। इस उपन्यास में मित्रो का चित्रण परंपरागत स्त्री की छवि से हटकर है। मित्रो के व्यक्तित्व में एक नैसर्गिक खुलापन दिखाई देता है। वह अपनी हर भावनाओं को बेबाक तरीके से अभिव्यक्त करती है। मित्रो मां नहीं बन पाती है तो अपनी सास को करारा जबाव देते हुए कहती है ''मेरा बस चले तो सौ-सौ कौरव जन के रख दूँ। पर अम्मा अपने लाड़ले बेटे का भी आड़-तोड़ जुटा लो। निगोड़े उस पत्थर की बुत में भी कोई हरकत तो हो।''[30]

स्त्री बिना विवाह के मां बनने की जहमत उठाती है तो समाज में कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। एक तरह से देखा जाए तो विवाह संस्था स्त्रियों के लिए दमनकारी संस्था हैं। प्रभा खेतान का मानना है ''व्यापक परिप्रेक्ष्य में विवाह व्यवस्था इसलिए दमनकारी है क्योंकि यह पितृसत्तात्मक समाज की अभिव्यक्ति है। परिणामस्वरूप समाज स्त्री की देह पर नियंत्रण चाहता है, जबकि आज वह अपनी देह पर अपना नियंत्रण चाहती है। भूमण्डलीकृत समाज में स्त्री अपनी देह की मालकिन स्वयं होती जा रही है।''[31] गौरतलब है कि चित्रा मुद्गल का 'आवां', मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब', प्रभा खेतान का 'छिन्नमस्ता' मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' आदि इन प्रमुख उपन्यासों में विवाह संस्था के सवाल को उठाया गया है। 'चाक' उपन्यास में हम देख सकते हैं कि विधवा रेशम का अवैध बच्चा पैदा करना कहीं न कहीं विवाह जैसी संस्था को चुनौती देना है। पुरुषवादी समाज में तो यही माना जाता रहा है कि बच्चा तो अपने पति का ही होना चाहिए। पितृसत्तात्मक व्यवस्था विवाह जैसी संस्थाओं का संचालक है। जैसे 'आंवा' में नमिता विवाह से पूर्व ही गर्भ धारण कर लेती है। इस आस में की संजय अपनी पत्नी को तलाक देकर उससे शादी कर लेगा। नमिता को संजय से प्रेम हो जाता है और नमिता मां बनने को तैयार हो जाती है। नमिता का इस तरह के कदम उठाना कहीं न कहीं विवाह संस्था को चुनौती देना है। सवाल यह है कि अगर स्त्री इस तरह के कदम उठा रही है तो क्या यह उसके लिए सही है? क्या वह पुरुष द्वारा छली नहीं जा रही है? नमिता संजय से प्रेम करती है। शादी से पहले ही उसके बच्चे की मां बनने को तैयार हो

जाती है। लेकिन वह छली जाती है। संजय को पिता बनने की ललक थी जिसे वह नमिता से पूरा करना चाहता था। विवाह के बाद पुरुष पिता बनना चाहता है और अपनी वंश परंपरा को आगे बढ़ाना चाहता है। इसी चाहत को हम संजय कनोई में देख सकते हैं। इस तरह के पुरुष के लिए विवाह कोई मायने नहीं रखता। संजय नमिता को सफाई देता है ''ब्याह का मतलब है मात्र सात फेरे? सात फेरे इतने ही महत्वपूर्ण होते तो मेरे निर्मला के बीच परस्पर समझ का अभाव होता? मेरे लिए परस्पर समझ ही भांवरों के सात फेरे हैं! रहा कानूनी संरक्षण का सवाल, तुमसे बढ़कर उसके खोखलेपन से और कौन अवगत होगा? निर्मला का पति हूं मैं-कानूनन ! संबंध मेरे तुमसे हैं। उससे नहीं। पत्नीत्व का कौन सा अधिकार वह भोग रही?''[32] इस तरह की बातें करके वह नमिता को मानसिक रूप से तैयार करता है ताकि वह अपना स्वार्थ पूरा कर सके। स्त्री कितनी मंदबुद्धि होती है। वह किसी भी पुरुष पर आसानी से विश्वास कर लेती है। संजय कनोई के प्रेम जाल में फंस कर नमिता भी वही करती है।

सदियों से सामाजिक धारणा बनी हुई है कि विवाह एक ऐसा बंधन होता है। जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों इस संबंध को निभाने की कसमें खाते हैं। लेकिन विवाह के बाद स्त्री पर पूरा अधिकार पुरुष का होता है। वह जैसे चाहे, जब चाहे स्त्री का उपभोग कर सकता है। सिमोन दा बोउवार के अनुसार ''पुरुष के जीवन में विवाह का अर्थ सिर्फ वही नहीं होता जो औरत के लिए। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के लिए अनिवार्य होते हुए भी समानता के स्तर पर पारस्परिक नहीं होते क्योंकि औरत जाति ने कभी समानता के स्तर पर पुरुष जाति से कोई अनुबंध विनिमय किया ही नहीं।''[33] पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहे अपनी पत्नी के शरीर पर अपना अधिकार जता सकता है। इसमें पत्नी की हां या ना की कोई गुंजाइश नहीं होती यानी बहुत बार पुरुष स्त्री के मन के खिलाफ उसके साथ जबरदस्ती संबंध बनाता है और तर्क यह देता है कि यह तो पति का अधिकार है। विवाह को एक पवित्र बंधन माना जाता है। लेकिन इस बंधन में सबसे ज्यादा स्त्रियाँ शोषित होती हैं। प्रभा खेतान के उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में फिलिप अपने जीवन की कहानी प्रिया को बताता है और प्रिया से कहता है ''नरेन्द्र तुम्हारे प्रति मालिकाना भाव रखता था। वास्तव में विवाह की सारी व्यवस्था ही इस भाव पर आधारित है और जहाँ स्त्री की चेतना विकसित होने लगती है, वहीं यह व्यवस्था चरमराने लगती है।''[34] फिलिप का यह वक्तव्य विचारणीय है कि विवाह व्यवस्था में पुरुष का अपने स्त्री पर मालिकाना भाव रहता है। वह मालिक की तरह अपने पत्नी के साथ पेश आता है। विवाह का अर्थ ही स्त्री पर पुरुष का अपना अधिकार है। यही स्त्री की नियति बन कर रह गई है। पुरुष दिन हो या रात नहीं देखता और न स्त्री की पीड़ा को समझता है। वह बस अपनी तृप्ति की पूर्ती करता है।

कहा जाता है कि जब लड़की की शादी होती है तो पति का घर ही उसका अपना घर होता है। 'छन्नमस्ता' उपन्यास में हम देखते हैं कि हुकूमत तो नरेन्द्र की चलती है प्रिया का नहीं। आखिर घर तो दोनों का है और घर में रहने का अधिकार दोनों के पास होना चाहिए चूंकि समाज में पुरुष की सत्ता है इसलिए नरेन्द्र का पलड़ा भारी है और वह प्रिया को धमकी देता है। धमकी से प्रिया रुकती नहीं बल्कि नरेन्द्र की धमकी की अवहेलना कर लंदन चली जाती है। प्रभा खेतान प्रिया के माध्यम से यह दिखाना चाहती हैं कि 'स्त्री की चेतना जैसे विकसित होने लगती है, वैसे ही पुरुषवादी समाज में परंपरागत व्यवस्था चरमराने लगती है।' स्त्री की इच्छाओं को अस्वीकार किया जाता है। अगर कोई स्त्री अपने व्यवसाय में व्यस्त हो और अपने घर-परिवार को समय नहीं देती है तथा पति के दैहिक इच्छा को पूरा नहीं करती है। ऐसे में स्त्री के व्यवसाय का कोई महत्व नहीं होता है क्योंकि समाज का एक ढांचा बना हुआ है कि स्त्री है तो पहले अपने पति को देखेगी, पति की इच्छा को पूरा करेगी। चाहे पत्नी की इच्छा हो या न हो, यह कभी कोई पुरुष सुनने को तैयार नहीं हो सकता है कि उसकी पत्नी का मन नहीं है। ऐसी स्त्री भारतीय सामाजिक ढ़ांचे में फिट नहीं होती। परंपरा से विद्रोह करती हुई स्त्री को न घर-परिवार स्वीकार करता है और न ही समाज। भारतीय समाज में स्त्री का पालन-पोषण विवाह के लिए ही किया जाता है। जैसे ही लड़की बड़ी होती है मां-बाप उसकी शादी के लिए चिंतित होने लगते हैं। प्रिया का कैरियर बनाने की किसी को चिंता नहीं है। प्रिया का काला रंग मां के लिए चिंता का विषय है। कैसे होगी प्रिया की शादी, कौन करेगा इससे विवाह। सरोज के लिए कोई दिक्कत नहीं होगी, क्योंकि सरोज का रंग गोरा है। विवाह के लिए गोरी चमड़ी महत्व रखती है। प्रिया अपने घर के लिए एक अनचाही बेटी है। वह बचपन से अपने घर में ही उपेक्षित जीवन जीती है। उसका पालन पोषण उसकी मां नहीं करती है बल्कि उसकी दाई मां करती है। वह अपने दाई मां की बेटी कहलाती है। वह अपने ही घर में अपने बड़े भाई के द्वारा यौन शोषण का शिकार भी होती है जिसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर पड़ता है।

इसी संदर्भ में अनामिका द्वारा रचित उपन्यास 'तिनका तिनके पास' को देख सकते हैं। इस उपन्यास में अनामिका लिखती हैं '' कॉल गर्ल हर औरत होती है ब्याहता गृहस्थिन भी। कॉल गर्ल को तो यह छूट भी होती होगी कि हर कॉल पर वह प्रस्तुत न हो, पर गृहस्थिन की क्या मजाल।''[35] विवाहित स्त्रियों के पास न कहने का अधिकार नहीं होता है। क्योंकि सामाजिक रूप से उस स्त्री पर उसके पति का हक होता है। कहीं न कहीं सामाजिक व्यवस्था पुरुष के पक्ष में ही होता है। कई ऐसी स्त्रियाँ है जो अपने पति के मार के डर से चुप रहती है और वह पति के सामने बिना इच्छा के भी प्रस्तुत हो जाती हैं।

4.4 मातृत्व का सवाल और स्त्री

हिन्दू धर्म के अनुसार भारतीय समाज में स्त्री-जीवन की सार्थकता के लिए मातृत्व अनिवार्य माना गया है। भारतीय सामाजिक परंपरा के अनुसार बिना मां बने एक स्त्री 'संपूर्ण स्त्री' नहीं बनती। हिन्दू धर्म और संस्कृति की मान्यता है कि स्त्री-जीवन की सार्थकता 'जननी' बनने में है। अतः शास्त्रों ने स्त्री के मातृत्व को काफी महिमामंडित किया है। दरअसल यह पुरुषों के स्वार्थ के लिए बनाया गया सिद्धांत है जिससे पुरुष स्त्री को घर में कैद करके रख सकें।

ऐसा माना जाता है कि 'विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पति है'। इसलिए विवाह संस्था मातृत्व के द्वारा स्त्री को चहारदीवारी में कैद करने में अपनी अहम भूमिका निभाई है। इस संदर्भ में तसलीमा नसरीन का कथन है ''स्त्री अपने शरीर में बच्चेदानी धारण करती है, लेकिन बच्चेदानी की स्वतंत्रता धारण नहीं करती है। बच्चेदानी में संतान धारण करने और न करने की स्वतंत्रता स्त्री को नहीं है।...कोख जिसकी है, उस पर उसके इच्छा, अनिच्छा जैसा कोई अधिकार नहीं होता है।''[36] धर्मशास्त्रों का मानना है कि स्त्री का जीवन पुरुषों के हित के लिए है। आज भी एक स्त्री जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के रूप में नहीं देखी जाती है। पुरुष के निगाह में वह 'मादा' होती है। समाज में जो भी नियम, कानून, नैतिकता बनाया गया वह पुरुषों द्वारा ही निर्मित किया गया है। पुरुष अपने फायदे के लिए समय- समय पर उन नियमों को परिवर्तित और परिभाषित करता रहता है। अतः सामाजिक रूप में जो भी जायज, वैध, कानून है पुरुषों के पक्ष में है और जो नाजायज, अवैध, गैरकानूनी वह स्त्री के जीवन के लिए बनाया गया है। समाज आज भी स्त्री को अपनी इच्छा के अनुसार प्रजनन की इजाजत नहीं देता। आज भी अविवाहित मां समाज के लिए कलंक मानी जाती है तथा उसके बच्चे को नाजायज, अवैध कहा जाता है। सिमोन का कथन है ''औरत शक्ति सम्पन्न होती हुई भी उर्वरा थी, उसमें प्रजनन की क्षमता थी। यह क्षमता पुरुष के पास नहीं थी। औरत की यही विशेषता उसकी दासता का मूल कारण भी बनी।''[37] अतः शुरुआती दौर से लेकर आज तक स्त्री का मातृत्व उसकी दासता का एक प्रमुख कारण है। इसी तरह पश्चिमी नारीवाद की रेडिकल धारा का यह कहना है कि 'मातृत्व एक स्त्री के लिए पैरों की बेड़ी है' तथा स्त्री का कैरियर बनाने में यह सबसे बड़ी बाधा है। मातृत्व का सवाल एक बड़ा सवाल है स्त्री के लिए।

एक लड़की का जब विवाह होता है तो सबसे पहले उसके परिवार के लोग कुछ ही दिनों में यह सोचने लगते हैं कि बहू या बेटी कब मां बनेगी? अगर कोई लड़की शादी के बाद मां नहीं बनती है तो ससुराल वाले उस लड़की को उतना महत्व नहीं देते। आप-पास के लोग भी ताना देना शुरु कर देते हैं। घर के लोग तो स्त्री को जीने ही नहीं देते। जैनेन्द्र के अनुसार 'स्त्री की

सार्थकता मातृत्व में है।' लड़की के मन के बारे में लोग नहीं सोचते हैं बल्कि शादी के तुरंत बाद बच्चा चाहिए यह सोचते हैं। अगर स्त्री मां नहीं बन पाती है तो लोग उसे बांझ कह कर पुकारते हैं और ऐसी स्त्री को न ससुराल वाले मानते हैं और न मायके वाले। कहा जाता है स्त्री धरती होती है और वह उपजाऊ है तो ठीक, नहीं तो बंजर धरती का कोई मोल नहीं होता है। उसी तरह भारतीय समाज की जो मानसिकता बनी हुई है कि स्त्री विवाह के बाद वंश-परंपरा को पूरा करती है तो ठीक है नहीं तो लोग उसे बांझ कहने में देर नहीं लगाते। पितृसत्तात्मक समाज में उत्तराधिकार के लिए पुत्र की इच्छा होती है क्योंकि पुत्र पिता के वंश को आगे ले जाता है। पुत्र ही पिता के संपत्ति का उत्तराधिकारी होता है। बेटी को उत्तराधिकारी नहीं माना जाता है। समय के साथ चीजें बदली हैं आज इक्कीसवीं सदी में बेटी को पिता के संपत्ति में अधिकार देने का प्रावधान आ गया है लेकिन यह अभी भी कानूनी रूप में है व्यवहारिक रूप से बहुत कम लागू होता है।

भारतीय समाज में लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि स्त्री बिना मां बने 'पूर्ण स्त्री' नहीं बनती है। पुरुषवादी समाज में बिना मां बने स्त्री की मुक्ति नहीं मानी जाती है। भारतीय समाज में मातृत्व को स्त्री का गौरवपूर्ण अनुभव माना गया है। 'आवां' की नमिता सोचती है ''अजन्मे बच्चे का ममत्व उसे सावन की पहली झींसी-सा आह्लादित किए दे रहा है। स्त्रीत्व की परिणति क्या मां होने मात्र में है?''[38] वह मां बनने के गौरव को महसूस करती है लेकिन अपने कैरियर में बाधा भी मानती है। ''क्या मां बनकर वह आत्मनिर्भर हो सकती है? जो लड़की समाज में अपना भार स्वयं वहन करने में सक्षम न हो पाई हो, उसके लिए अस्तित्व का पर्याय क्या है? संघर्ष क्या है ? क्या कुछ हुए बिना वह अपने बच्चे को वह सब दे पाएगी जो जन्मते ही उसका बुनियादी अधिकार होगा?''[39] नमिता ब्याहता स्त्री नहीं है। वह सोचती है ''मैं वैसी आधुनिक नहीं हूं कि बिना ब्याह के अवैध संतान पैदा कर छद्मक्रांति जिऊं। मेरे लिए संतान सामाजिक जिम्मेवारी है।''[40] नमिता सामाजिक यथार्थ को समझती है कि बच्चे बिना ब्याह के अवैध माने जाएंगे। अविवाहित मां समाज के लिए कलंक है।

पूर्ण स्त्री बनने के चक्कर में कभी-कभी स्त्री अपना अस्तित्व खो देती है क्योंकि मां बनने के बाद स्त्री का महत्व गौण हो जाता है। उपभोक्तावादी संस्कृति में स्त्री का कोख भी बिकाऊ होने लगा है। इस तरह के बिकाऊ कोख का चित्रण चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आवां' में मिलता है। इस उपन्यास का एक पात्र संजय कनोई है जो बड़ा उद्योगपति है। उसके साथ ट्रेजडी यह है कि उसकी पत्नी निर्मला मां नहीं बन पाती है। विवाह के कई साल हो गए हैं लेकिन संजय कनोई पिता नहीं बन पाया है इसलिए उसे एक ऐसी औरत की तलाश है जो उसे प्रेम करें और उसके बच्चे की मां भी बने। संजय कनोई की खोज नमिता पर जाकर खत्म होती है। नमिता एक निम्न मजदूर परिवार की लड़की है जो आर्थिक संकट को दूर करने के लिए नौकरी की तलाश में है। इस तलाश

में वह संजय कनोई के जाल में फंस जाती है। उसे संजय कनोई का प्रेम सच्चा लगता है और वह संजय कनोई से प्रेम करने लगती है। जबकि सच्चाई यह होती है कि संजय कनोई पिता बनने की इच्छा को पूरा करने के लिए नमिता की 'कुँवारी देह' का उपभोग अपना प्रेम जाल बिछाकर करता है। संजय कनोई का प्रेम नमिता के लिए अपने स्वार्थ को साधने का होता है। वह नमिता को कुछ सुविधा देता है जिसे नमिता सच मान लेती है और सपने देखने लगती है। ऐसे आर्थिक संकट के समय में संजय कनोई का साथ उससे अच्छा लगता है। नमिता संजय कनोई की मानसिकता को समझ नहीं पाती है। संजय कनोई उसका आर्थिक संकट दूर तो करता है लेकिन इन सुविधाओं के बदले वह नमिता से अपना बच्चा चाहता है। ऐसा बच्चा जो उसके जैसा देखने में हो ताकि लोग देखकर कहें कि बिल्कुल पिता पर गया है। नमिता संजय के चाल को समझ नहीं पाती है और वह सचमुच का सोचने लगती है कि संजय उससे विवाह करेगा। इसलिए वह बिना विवाह के संजय कनोई के साथ रहने लगती है। नमिता इस तरह के भ्रम से जल्दी निकल जाती है। जब वह अन्ना साहब की हत्या की खबर सुनती है तो उसका गर्भपात हो जाता है। इस गर्भपात से संजय कनोई का पूरा सच नमिता के सामने आ जाता है। वह गुस्से में नमिता से कहता है ''तुम मुझसे मेरा सपना नहीं छीन सकतीं...मैं कभी तुम्हें क्षमा नहीं करूंगा, हत्यारिन!..प्राण ले लूंगा मैं तुम्हारे...मुझे मेरा बच्चा चाहिए...जानती हो? बाप बनने के लिए मैंने तुम्हारे ऊपर कितना खर्च किया? उस मामूली औरत अंजना वासवानी की औकात है कि तुम्हारे ऊपर पैसा पानी की तरह बहा सके? उसका जिम्मा सिर्फ इतना-भर था कि वह मेरे पिता बनने में मेरी मदद करे और सौदे के मुताबिक अपना कमीशन खाए।''[41] संजय कनोई के माध्यम से चित्रा मुद्गल यथार्थ को उजागर करती है। जहाँ नमिता जैसी निम्न वर्ग की लड़कियां फंस जाती हैं। एक पुरुष अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए देह के साथ ही साथ अब औरत के कोख भी खरीदने लगा है। तभी तो संजय कनोई की इतनी हिम्मत होती है। वह नमिता को समझाने लगता है कि नमिता उसके लिए क्यों महत्वपूर्ण है ''मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था, जिनके लिए बच्चा पैदा करना महज सौदा भर हो और जो अनेक से सौदा कर चुकी हो।...मुझे नहीं गँवारा था ऐसी किराए की कोख। मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो...पवित्र हो, जो मुझसे प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए मां बने।...सिर्फ मुझसे सहवास करे...हमारा मिशन सफल रहा।...तेरह वर्ष बाद मैं बाप बना...अपने बच्चे का बाप। उस औरत से जिसे मैं सचमुच प्यार करने लगा। उसी ने... उसी ने मुझे धोखा दिया? मेरे बच्चे की जान ले ली...मैं शादी तुमसे करूँ, न करूँ...मुझे बाप बनाकर तुम जीवन भर ऐशो-आराम से रह सकती थी... ।''[42] स्त्री का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। वह सिर्फ पुरुष के लिए बच्चा जन्म देने की मशीन है। नमिता का कोई वजूद नहीं रह जाता है संजय कनोई के सामने क्योंकि नमिता संजय कनोई के इच्छाओं पर अब पानी फेर चुकी है। नमिता के साथ जिस घटना

का चित्रण चित्रा मुद्गल ने किया वह समाज का भयावह सच है। जिसके कारण दुनिया की आधी आबादी कही जाने वाली स्त्री उत्पीड़न का शिकार होती है।

'छिन्नमस्ता' में जिस तरह के मातृत्व का चित्रण प्रभा खेतान ने किया है वह परंपरा से बंधी स्त्री से अलग है। प्रिया एक मां है लेकिन अपने व्यवसाय के लिए बेटे संजू को छोड़ कर घर से बाहर जाती है। प्रिया ऐसा इसलिए भी कर पाती है क्योकि संजू प्रिया के साथ- साथ नरेन्द्र का बेटा है। जिसे सामाजिक मान्यता मिली हुई है। संजू कहता है ''मां, क्या तुम्हारा लन्दन जाना बेहद जरूरी है?''[43] माँ से लिपटकर संजू रोने लगा, इस तरह के कहने पर भी प्रिया मातृत्व को अपने रास्ते का रोड़ा नहीं बनने देती है। वह संजू से कहती है ''बेटे रोओ मत जिन्दगी इतनी रहम दिल नहीं हुआ करती।''[44] जैसा कि कहा जाता है कि माँ हमेशा अपने बच्चों के आगे झुक जाती है, वह अपने बच्चों की खुशी के लिए अपनी खुशियां दांव पर लगा देती है। प्रिया ऐसा नहीं करती। वह अपने कैरियर के रास्ते में संजू को बाधा नहीं बनने देती है। यही कारण होता है कि वह अपने बिजनेस के लिए लन्दन चली जाती है। उसे संजू का रोना भी रोक नहीं पाता है। प्रिया अपने जीवन से संतुष्ट नहीं है। वह कभी खुश नहीं रही, तो उसे अपने बच्चे संजू की खुशी का ख्याल कैसे आता? प्रभा खेतान किस तरह के नारी चरित्र को गढ़ी हैं? सवाल है कि प्रिया की तरह कितनी स्त्री अपने मातृत्व को कुर्बान करती हैं? भारतीय समाजिक ढाँचा क्या ऐसा है? जैसे प्रिया चाहती है? समकालीन उपन्यासों में एक नए तरह की स्त्री पात्र गढ़ी गईं। जो अपने बारे में सोचती है। प्रिया एक ऐसी ही स्त्री है जो मातृत्व को अपने कैरियर के आड़े नहीं आने देती और न ही मातृत्व के कारण अपना जीवन जीना छोड़ती है। वह अपना जीवन जीने का निर्णय स्वयं लेती है। समाज में अक्सर यह सुनने को मिलता है कि स्त्री ज्यादातर मातृत्व के कारण अपना जॉब, कैरियर बनाना सब छोड़ देती है और अपने बच्चों के लिए जीने लगती है। 'छिन्नमस्ता' में प्रभा खेतान प्रिया को एक अत्यन्त आधुनिक स्त्री के रूप में दिखाती हैं और यहां प्रभा खेतान पहली बार मातृत्व को भी आड़े हाथ लेती हैं।

जबकि ऐसा समाज में होना बहुत ही मुश्किल है। कहा जाता है कि एक स्त्री का माँ बनना उसका सबसे बड़ा सुख होता है। स्त्री जब मां बनती है तभी एक संपूर्ण स्त्री होती है। इसी पितृशाही सोच को प्रिया तोड़ती है। प्रिया संजू को सजा नहीं देती। बल्कि अपनी परिस्थितियों से समझौता करती है। प्रिया एक जगह कहती है कि वह संजू को अपने साथ रख सकती है लेकिन कानूनन बेटे की कस्टडी पिता के हक में होगा तब वह मजबूर हो जाती है तथा ममता को अपने अंदर दबा कर जीवन जीने लगती है। नरेन्द्र एक सामंतवादी पुरुष है उसे अपने पैसे और रूतबे का बड़ा घमंड है। वह नहीं चाहता है कि प्रिया बाहर जाकर व्यापार करे। प्रिया के बाहर जाने से पुरुषवादी नरेन्द्र के अहं पर कोड़े बरसता है। भारतीय समाज पितृशाही है, जहाँ कभी भी एक पुरुष

स्त्री को अपने से ज्यादा ऊंचाई पर उठते देख नहीं सकता है। इसलिए प्रिया पर नरेन्द्र अपना नकेल कसने लगता है। प्रिया अपने पिता के घर में बचपन से ही उपेक्षा का जीवन बिताई थी। इसलिए प्रिया का संजू के प्रति मातृत्व का भाव टूटना ज्यादा कष्ट नहीं पहुँचाता है। एक कहावत है कि इंसान जिस दुख को पहले से भोग चुका हो फिर उसे उसी तरह का दुख ज्यादा कष्ट नहीं पहुँचाता है। प्रिया का मातृत्व भाव इस तरह इसलिए है क्योंकि प्रिया बचपन से अपने घर में ही उपेक्षित रही थी। उसकी मां उसे प्रेम नहीं करती। वह अपने भाई-बहनों की तुलना में कम सुंदर होती है जिसके कारण सामाजिक दंश को सहना पड़ता था। इसका प्रभाव उसके मस्तिक पर पड़ता है। इसलिए वह अपने बेटे संजू के प्रति कठोर निर्णय लेती है। प्रिया संजू को नरेन्द्र के ही पास छोड़ देती है। प्रिया कहती है कि ''क्या अम्मा ने मुझे जन्म देकर अपने मातृत्व की भूमिका ठीक तरह से निभाई थी? उनमें तो मैंने कभी कचोट नहीं देखी...संजू को मैंने बारह वर्ष की उम्र में नरेन्द्र के पास छोड़ दिया था। संजू एक उगता हुआ पौधा था, संभावनारहित ठूँठ नहीं।''[45] यानी मातृत्व विहीन की भावना की जमीन प्रिया के मन में बचपन में भोगे उपेक्षा से पनप चुका था। तभी वह अपने को दोषी नहीं ठहराती है बल्कि अपनी मां का उदाहरण देकर स्वयं को संतुष्ट ही करती है। ताकि उसके मन में संजू को लेकर कोई पश्चाताप न हो। मातृत्व का भाव सभी भावों से अलग होता है। प्रिया इसे महसूस करती है इसलिए अपने अकेलेपन में संजू को याद भी करती है।

मधु कांकरिया द्वारा रचित उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' में एक अलग तरह के मातृत्व का चित्रण मिलता है। हिन्दू संस्कृति में मातृत्व स्त्री के लिए गौरव होता है। उसी गौरव का दंश संघमित्रा की बहन छुटकी भुगतती है। हिन्दू धर्म के अनुसार स्त्री को सिखाया जाता है कि उसका प्रथम कर्त्तव्य विवाह के बाद पुत्र को जन्म देना है अगर बेटी होती है तो भी वह स्त्री दोषी मानी जाती है। दूसरी ओर बिना विवाह का संतान अवैध माना जाता है। संघमित्रा की बहन छुटकी के साथ ऐसा ही होता है। मां के बहकावे में आकर छुटकी बचपन में साध्वी बन जाती है लेकिन बड़ी होकर उसका मन धर्म की सेवा में नहीं लगता है। वह संसार का मोह नहीं छोड़ पाई है। उसे संघ में विजेन्द्र मुनि नामक एक युवक से प्रेम हो जाता है और दोनो साध्वी का रूप त्यागकर एक साथ अपना जीवन जीना चाहते हैं। लेकिन विजेन्द्र मुनि का दोस्त (अभय मुनि) छुटकी (साध्वी नाम दिव्य प्रभा) के साथ बलात्कार करता है और उसके दुष्कर्मों की सजा छुटकी जीवन भर भुगतती है। वह गर्भधारण कर लेती है। ''बढ़ते-बढ़ते उसके गर्भ में बढ़ता भ्रूण और आत्मा में बढ़ता अन्धकार इतना फैला कि पूरे उपाश्रय में फैल गया। एक सुबह संघ की अदालत में उससे सफाई मांगी गई। उससे पूछा गया कि बीज किसका है? इस धृतकृत्य के लिए जिम्मेदार कौन है ? उसकी आँख में पीड़ा का समुद्र लहराया पर वह मौन रही। उसके मौन को उसके पापों की आत्म-स्वीकृति मान लिया गया और संसार की सबसे पापी औरत घोषित कर उसे संघ से निष्कासित कर दिया गया।''[46]

गलती स्त्री की हो या न हो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता बल्कि दोष सामाजिक रूप से स्त्री को ही दिया जाता है। दिव्य प्रभा जिस सामाजिक दंश को भुगतती है वह पुरुषों का दिया है, वासना की पूर्ति अभय मुनि करता है लेकिन जीवन नरक दिव्य प्रभा का होता है क्योंकि आज भी बिना विवाह के बच्चे को समाज स्वीकार नहीं करता है। इस तरह का संतान अवैध माना जाता है और समाज उस स्त्री को चरित्रहीन घोषित करता है। दिव्य प्रभा के साथ भी यही हुआ। अनचाहे मातृत्व के कारण दिव्य प्रभा का जीवन नरक तो बनता ही है, उसे समाज से बाहर भी कर दिया जाता है तथा उसके चाचा भी उसे अपने घर में नहीं रखते हैं बल्कि ऐसी कलंकित स्त्री को बाहर धकेल देते हैं अपना जीवन जीने के लिए। इसी का फायदा उठाकर चाचा का दरबान पैंतीस हजार में उसे कोठे पर बेच देता है। अंत में वह वेश्या जीवन के गटर में जा गिरती है। वेश्या जीवन उसे इस समाज के लोगों से ज्यादा अच्छा लगता है। वह अपनी बहन से कहती है ''यह दुनिया जिसने आज तक जाने कितनी औरतों को सहारा दिया पर किसी को पापिन कहकर निकाला नहीं। मुझे गलत मत समझना जीजी, पर मुझे तुम्हारी पवित्र दुनिया से अब डर लगने लगा है। सोचो जीजी, कितनी कमजोर थी वह दुनिया जिसकी नींव हिल गयी एक अजन्मे गर्भ के चलते।''[47] पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष को दोष नहीं दिया जाता। छुटकी कहती है ''आज भी यदि मौत आँखें नहीं मिलाती तो इस पापी जीवन की गाथा उसके साथ ही दफन हो जाती पर यौवन की चौखट पर खड़ी ऋषिकन्या के प्रति ममता दगा दे गई...अब यह तुम्हारे हवाले जीजी...और संघमित्रा के हाथों में थमा दिया उसने ऋषिकन्या का हाथ।''[48] ऋषिकन्या छुटकी की बेटी है जिसे वह अपनी जीजी की दुनिया में छोड़कर जा रही है। मधु कांकरिया कई सवाल उठाती हैं- एक तो पहले वह हिन्दू धर्म और संस्कृति पर चोट करती हैं कि हिन्दू धर्म खोखला है। जहाँ स्त्रियों का शोषण होता है। वैसे भी भारतीय समाज में स्त्री कभी धर्म के नाम पर तो कभी संस्कृति के नाम पर उत्पीड़ित होती रही है। इस उपन्यास के माध्यम से मधु कांकरिया भारतीय समाज में फैली ऐसी निर्मम-व्यवस्था को जड़ से उखाड़ फेकने का आह्वान करती हैं। मधु कांकरिया हिन्दू संस्कृति की इस दुनिया से ज्यादा सही कोठों की दुनिया को मानती है जहाँ अवैध मातृत्व को कलंक नहीं माना जाता है। वहाँ स्त्री का एक ही धर्म है बस रोटी कमाना। हिन्दू धर्म में मातृत्व को इतना महिमामंडित किया गया है उसी पर लेखिका प्रहार करती है। लेखिका का मानना है कि अगर पितृसत्तात्मक व्यवस्था छुटकी को अपने समाज से न निकालता तो वह इस तरह के नरक का जीवन न जीती।

'पिछले पन्ने की औरतें' उपन्यास में उपन्यासकार एक ऐसे बेड़िन समाज का वर्णन करती हैं जो यह सोचने को विवश करता है कि स्त्री का जीवन कितना दयनीय है। इस समाज में बेटी के जन्म पर लोग खुश होते हैं। थाली पीटा जाता है। मिठाइयां बांटी जाती है क्योंकि इस समाज में लड़की बड़ी होकर पुरुषों का भरण-पोषण करेगी। मतलब कमाने का जरिया इस समाज

में सिर्फ स्त्री है। जबकि हिन्दू संस्कृति में पुत्र को माना जाता है, शरद सिंह लिखती हैं ''आज भी एक बेड़नी उस समय फूली नहीं समाती जब वह एक स्त्री-शिशु को जन्म देती है। वह और उसके परिवारजन स्त्री-शिशु के जन्म पर खुशियां मनाते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि एक बेड़नी को अपनी बेटी के भविष्य में ही अपना सुरक्षित भविष्य दिखाई पड़ता है।''[49] बेड़नी समुदाय की स्त्रियाँ इस बात को बहुत ही अच्छी तरीके से समझती हैं कि उम्र का एक ऐसा पड़ाव आएगा जहाँ वह देह-व्यापार करने में अक्षम हो जाएगी। ऐसे समय में परिवार का भरण-पोषण कौन करेगा? क्योंकि बेड़नी समुदाय के पुरुष कामचोर और आलसी होते हैं इसलिए बेड़नी समुदाय में स्त्री जन्म पर लोग खुशी मनाते हैं। परिवार की जो स्त्री बेड़नी बनती है वह शादी नहीं करती। ये स्त्रियाँ राई नृत्य करती हैं और उसी के आड़ में देह का व्यापार कर अपना जीवन जीती हैं। अपने परिवार के स्त्री सदस्य के साथ ही साथ पुरुष सदस्य का भी भरण-पोषण करती हैं। इस समाज में मातृत्व देखने का नजरिया हिन्दू संस्कृति से अलग है। इस समाज में कोई भी बच्चा अवैध नहीं माना जाता है जिसके पिता का नाम मालूम हो तो भी न मालूम हो तब भी। नाचनारी कहती है ''पिता के बारे में तो उसकी मां भी ठीक-ठीक नहीं बता सकती है। उसका पिता किस जाति, धर्म, समुदाय का था, उसे पता नहीं? किस गाँव में किस पुरुष के द्वारा उसकी मां की कोख में उसका जीवन-बीज पड़ा, यह भी उसे पता नहीं। जो भी पुरुष मां के संसर्ग में आता, मां की कोख में अपना बीज छोड़ जाता। अब किसका बीज नचनारी के रूप में अंकुरित हुआ, यह तो ईश्वर ही जानता होगा।''[50]

4.5. स्त्री की सामाजिक स्थिति

4.5.1. राजनैतिक अधिकार और स्त्री प्रश्न

आज के समाज की संकल्पना बिना राजनीति के संभव नहीं है और राजनीति सिद्धांत की होती है। ऐसे में सवाल उठता है स्त्री की राजनीतिक भागीदारी की ? भारतीय समाज या विश्व का कोई भी समाज जहाँ स्त्रियाँ राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से पिछड़ी रही हैं अथवा पिछड़ा बना कर रखा गया। वैसे पितृसत्तात्मक व्यवस्था के कारण स्त्री के राजनीतिक चेतना की बात बेमानी सी लगती है। फिर भी बदलाव जीवन का नियम है। आज जब स्त्रियाँ जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हस्तक्षेप कर पुरानी मान्यताओं और परंपराओं को ध्वस्त कर अपनी खुद की पहचान निर्मित कर रही है। फलस्वरूप उसकी आज राजनीतिक सक्रियता भी दृष्टिगोचर हो रही है।

राजनीतिक अधिकार एक बड़ा प्रश्न है, स्त्री के लिए? क्या स्त्री राजनीतिक रूप से आगे बढ़ रही है ? अगर मान लिया जाए कि किसी स्त्री को राजनीतिक अधिकार मिल भी जाता है तो क्या स्त्री स्वयं निर्णय ले पाती है? ऐसा तो नहीं है कि कोई भी काम करने के लिए पुरुष की ही

सलाह लेनी पड़ती है? इसी तरह के कई सवाल को इस उप अध्याय में उठाया गया है ? रमणिका गुप्ता का मानना है ''भारत में आज बराबरी का अधिकार मिलने के बावजूद कुछ अपवाद छोड़ कर अधिकांश औरतें वोट का इस्तेमाल तक पति, पुत्र, पिता व भाई की मर्जी से करती हैं। आज तक भारत में औरतों को राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समानता नहीं मिल पाई है।''[51] हम यह देख सकते हैं कि भारतीय संसद में स्त्रियों की संख्या घटती जा रही है। स्त्रियों के पक्ष में 33 प्रतिशत आरक्षण देने के बिल को अभी तक किसी न किसी तरह अड़ंगा लगा कर पुरुष वर्ग पास नहीं होने दे रहे हैं। सामाजिक विकृति का ही परिणाम है कि आज भी स्त्री किसी न किसी रूप में शोषण का शिकार हो रही हैं। रमणिका गुप्ता लिखती हैं ''पिछले कुछ वर्षों में पंचायतों में औरतें मुखिया और सरपंच तो चुनी गईं पर उनमें से अधिकांश अभी भी घूंघट में हैं। बाई प्रॉक्सी उनकी हाजिरी लगती है लेकिन वास्तविक मुखियागिरी उनका पति, पुत्र या कोई अन्य पुरुष ही करता है।''[52] यह सामाजिक सच्चाई है जो कि आज भी स्त्री के लिए उतना ही बड़ा सच है। अगर राजनीति में स्त्री आगे आती है तो क्या वह नेताओं के कुदृष्टि का सामना कर पाएगी ? 'आवां' उपन्यास की नायिका नमिता को भी अन्ना साहेब के कुदृष्टि का शिकार होना पड़ता है क्योंकि समाज में पुरुषों का वर्चस्व है। स्त्रियाँ पुरुषों की राजनीति को समझ ही नहीं पाती हैं और उसी में फंस जाती हैं।

हमारे देश में आज भी स्त्री की प्रगति को देखें तो वह आटे में नमक के समान ही दिखता है। शरद सिंह लिखती हैं ''हमारे देश में स्त्री की प्रगति की स्थिति अभी भी आटे में नमक के समान है। विभिन्न प्रदेशों में महिला-साक्षरता के जो आंकड़े मिलते हैं, यथार्थ उनसे कोसों दूर हैं। अक्षर ज्ञान के नाम पर कांपती उंगलियों और टेढ़ें-मेढ़े अक्षरों से अपना नाम लिखना ही यदि साक्षरता हो, तब भी साक्षरता शत-प्रतिशत नहीं है। राजनीति में महिलाओं की भागीदारी की भी यही दशा है। लगभग पांच प्रतिशत महिलाएं ही ऐसी होगी जो बिना किसी पुरुष सहयोग के अपने दम-खम से राजनीति में जगह बना पाई होगीं।''[53] शरद सिंह बड़ा सवाल खड़ा करती नजर आती हैं। उनका कहना है कि बिना पुरुष के सहयोग से स्त्री राजनीति में नहीं जा सकती। समकालीन समय में 73 वें विधान संशोधन के द्वारा महिलाओं को पंचायती राज व्यवस्थाओं में 33 प्रतिशत आरक्षण प्राप्त हुआ तथा बड़ी संख्या में महिलाओं ने स्थानीय राजनीति में प्रवेश किया। आजादी के बाद देश में सोलहवें लोकसभा का चुनाव संपन्न हो गया ऐसे में इस बात की चर्चा और भी जरूरी हो जाती है कि देश में हर पायदान पर महिलाओं की स्थिति क्या है?

भारत में महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता के बहुत सारे आयाम हैं। एक पक्ष जो महिला को लिंग के आधार पर देखता है जो यह दिखाने का प्रयास करता है कि वह भारत के

सम्पूर्ण महिला समुदाय को साथ लेकर चलना चाहता है । परंतु महिलाओं से जुड़ी वास्तविक समस्याओं को करीब से देखने पर पता चलेगा कि महिलाओं की राजनीतिक सहभागिता भी पुरुषवाद के वर्चस्व को बनाए रखने के लिए किया गया एक प्रयास है । यदि हम कुछ अपवादस्वरूप महिलाओं को छोड़ दें तो पता चलेगा कि महिलाओं की सहभागिता भी मात्र महिला वोट बैंक को छलने का एक प्रयास है। बदलते राजनीतिक परिदृश्य में राजनीति का स्वभाव और स्वरूप दोनों बदला है। ऐसे समय में अब पार्टियाँ उन प्रत्याशियों को भी टिकट देने से नहीं हिचकिचाती हैं जो कि महिला मुद्दों को लेकर असंवेदनशील हैं । अक्सर देखा जाता है कि महिलाओं को ऐसे निर्वाचन क्षेत्र से खड़ा किया जाता है जहाँ से उनके जीतने की संभावना कम होती है। इस तरह से उनके दोनों स्वार्थ सिद्द होते हैं । वो यह भी दर्शाने में कामयाब होते हैं कि महिलाओं की भागीदारी को लेकर वो कितने सचेत हैं परंतु महिलाएं राजनीति में कमतर हैं और यदि महिला राजनीति में अपना अच्छा- खासा मुकाम हासिल कर लेती हैं तो भी उसे कई उपमानों से विभूषित किया जाता है। हाल ही में एक पार्टी के नेता ने बहुचर्चित मुख्यमंत्री को कहा कि 'वो वेश्या नहीं वेश्या से भी बदतर है।' जो इस सामाज की महिलाओं के प्रति जड़ता की कहानी को दर्शाता है।

जब कोई स्त्री राजनीति में अपना कदम रखती है तो कई तरह के सामाजिक, पारिवारिक दंश को झेलती है । उस पर कई तरह से लांछन भी लगाया जाता है । इसका एक दृश्य 'चाक' उपन्यास में देख सकते हैं। 'चाक' में ग्रामीण स्त्री-जीवन की कथा है। 'चाक' 1990 के बाद पहला ऐसा उपन्यास है जिसमें एक ग्रामीण स्त्री सारंग की कहानी है। सारंग अपने पति के प्रधानी चुनाव लड़ने में किसी तरह की मदद तो नहीं करती बल्कि अपने पति के विरुद्ध स्वयं परचा भरकर पुरुषवादी समाज को चौंकाने का काम करती है। जहाँ स्त्री चहारदीवारी में कैद होती है वहीं सारंग प्रधानी चुनाव के लिए खड़ी होती है। समकालीन उपन्यासकारों में मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास सशक्त और काफी चर्चित रहा है। यह पहला उपन्यास है जिसमें ग्रामीण स्त्री चुनाव के लिए खड़ी होती है। इनके यहां स्त्रियाँ राजनीति पैंतरेबाजी को समझती हैं और उसके खिलाफ संघर्ष करती हैं। इसी तरह 'आवां' में भी स्त्रियों की भूमिका राजनीतिक रूप से सक्रिय दिखती है। एक तरह से देखा जाए तो 1990 के बाद स्त्री उपन्यासकारों द्वारा लिखे गए स्त्री उपन्यासों में स्त्रियों को एक नए तेवर के साथ उभारा गया। समकालीन समय में स्त्री उपन्यास का दायरा विस्तृत हुआ है तथा पुरुष उपन्यासकारों की तरह स्त्री उपन्यासकारों के उपन्यास कालजयी हो रहे हैं।

4.5.2.आर्थिक प्रश्न और स्त्री

भारतीय समाज में स्त्रियों की दयनीय स्थिति का एक सबसे बड़ा कारण उसकी दुर्दशाग्रस्त आर्थिक स्थिति है। इस समाज की ज्यादातर स्त्रियाँ अपने भरण-पोषण एवं आर्थिक जरूरतों को पूरा करने के लिए पुरुषों पर निर्भर हैं। आज भी इस स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ है बल्कि वही पुरुषवादी मानसिकता बनी हुई है कि पुरुष का काम तो पैसे कमाना है और स्त्रियों का काम घर संभालना। दरअसल जब तक स्त्रियाँ आर्थिक रूप से संबल नहीं होगी तब तक वह घर, परिवार में अपना सशक्त हस्तक्षेप नहीं कर पाएगी। इसमें संदेह नहीं है कि आर्थिक आत्मनिर्भरता के बाद ही स्त्रियाँ अपने जीवन का महत्वपूर्ण निर्णय ले सकती हैं। कुमुद शर्मा का कथन है ''पुरुष आर्थिक चाबुक से स्त्री पर शासन करता आया है, इसलिए स्त्री की आर्थिक आजादी को उसकी आजादी की लड़ाई का पहला चरण माना गया है।''[54]

समाज में स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं, लेकिन समाज में आर्थिक रूप से ताकतवर सदियों से पुरुष ही रहा है क्योंकि संपत्ति पर पूरा अधिकार उसी का है। स्त्रियाँ तो बस उसकी दासी होती हैं। भारतीय समाज में वही स्त्री फिट बैठती है जो अपने घर का काम करती है और साथ ही साथ पति की सेवा करती है। यही भारतीय समाज के स्त्रियों की नियति है जहाँ स्त्रियों को सिखाया जाता है कि पति की सेवा ही स्त्री-जीवन का धर्म है। यह सदियों से चला आ रहा है। जिस समाज में पति की सेवा ही स्त्री-जीवन जीने का धर्म हो ऐसे समाज में स्त्री घर से बाहर कमाने जाए, कहीं न कहीं पितृसत्तात्मक व्यवस्था को चुनौती देना है। मनु ने लिखा है ''नारी बचपन में पिता के अधीन , यौवनावस्था में पति के अधीन और पति के देहावसान के बाद पुत्रों के अधीन रहे। कभी भी स्वतंत्र न रहे।''[55] मनु ने स्त्री को हमेशा से किसी न किसी के अधीन रहने की हिमायत की है। फिर स्त्री को आर्थिक रूप से आजाद कैसे होने देते? पितृसत्तात्मक व्यवस्था की सोच रही है कि अगर स्त्री आर्थिक रूप से निर्भर हुई तो वह अपनी मनमानी करेगी, इसलिए उसको चहारदीवारी में कैद कर दिया गया। तभी तो तुलसीदास को लिखना पड़ा ''जिमी स्वातंत्र होई बिगरहिं नारी।''[56] फलतः स्त्री को आजाद मत करो, न वह स्वतंत्र होगी न वह कभी बिगड़ सकती, न आर्थिक रूप से निर्भर होगी और न हमारे खिलाफ बोलेगी। (पुरुषों के खिलाफ) निर्मला जैन का कथन है ''इतिहास साक्षी है कि पुरुष ने स्त्री को जिन दो प्रमुख मोर्चों पर लगातार कुचला है, उनमें एक है अर्थ और दूसरा सेक्स।''[57] इसी तरह अरविन्द जैन लिखते हैं कि ''छिन्नमस्ता' में निरन्तर शोषित प्रिया अर्थ और सेक्स यानी दोनों ही मोर्चों पर कुचले जाने के विरुद्ध या / और कुचले जाने से बचने के लिए शोषक शक्तियों के लिए चुनौती बनकर नई राह (?) पर चल पड़ती है। यहां प्रिया भी

आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने के लिए संघर्ष करती हुई स्त्री है, जिसके सामने है संघर्षों का एक अटूट सिलसिला। सेक्स के स्तर पर बचपन में बड़े भाई द्वारा यौन-शोषण, कॉलेज में पढ़ते हुए लेक्चरार द्वारा 'धोखा' और विवाह के बाद पति नरेन्द्र की वहशी भूख के कारण ही उसे अपने 'औरतपन से चिढ़' है और अपनी हर कोमल भावना को कुचलने में ही आनन्द आता है।''[58] प्रिया एक शिक्षित स्त्री होती है कई पुरुषों से शोषित होने के कारण उसे अपने औरतपन से चिढ़ होता है। प्रभा खेतान जिस प्रिया नामक स्त्री चरित्र को गढ़ी वह टूटने के बाद भी अपनी एक दुनिया बनाती है। आर्थिक रूप से संबल होती है।

आज स्थितियां बदली है स्त्री शिक्षित हो रही है और शिक्षित होकर आर्थिक रूप से स्वावलम्बी हो रही है। फिर भी पुरुषों की तुलना में अभी भी पीछे है। तभी तो अरविन्द जैन लिखते हैं ''पुरुषों के बराबर आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पाने में औरतों को अभी हजार वर्ष लगेंगे, क्योंकि 'दुनिया की 98 प्रतिशत' पूंजी पर पुरुषों का कब्जा है।''[59] गौरतलब है कि भारतीय समाज पुरुष व्यवस्थात्मक समाज है, जहाँ सदियों से पुरुषों का वर्चस्व रहा है। ऐसे समाज में जहाँ स्त्री अपनी काबिलियत दिखाना चाहती है, तो वह पुरुषों द्वारा कुचल दी जाती है। उसे उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। अलका सरावगी लिखती हैं ''ऐ औरत, तूने जब भी किसी भी कोने में पुरुष से अलग अपना कुछ बनाया है, तो तुझे इसकी कीमत देनी पड़ी है। लेकिन तुम इस 'अपने' पैसे की, जो कभी तुम्हारा नहीं था और न कभी तुम्हारे हाथ में था, आखिर कितनी कीमत चुकाओ ?''[60] स्त्रियाँ सदियों से पुरुषों पर आर्थिक रूप से परजीवी रही हैं। हमारा समाज ही उसे परजीवी बनाता है जो उसे आर्थिक रुप से संरक्षण देकर उसे अपना गुलाम बनाता है। समाज में स्त्री अगर अपनी गुलामी की जंजीरें तोड़ना चाहती है तो उसे सबसे पहले आर्थिक रुप से संबल होना होगा। जो उसके सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है।

स्त्री उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में जहाँ स्त्री की आर्थिक क्षेत्र में बढ़ती भागीदारी को चित्रित किया है तो वहीं उनकी दोहरी भूमिका, जिम्मेदारियों, परेशानियों और तकलीफों को भी रेखांकित किया है। स्त्री उपन्यासकार यह मानती हैं कि इस पुरुषवादी समाज में स्त्री को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के बाद भी उसे वह सम्मान नहीं मिलता है जो उसे मिलना चाहिए। इसलिए आज भी स्त्री अपने परिवार और समाज में शोषित हैं। प्रभा खेतान का उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में एक आधुनिक स्त्री की समस्या चित्रित है। आज स्त्री किसी भी मोर्चे पर पुरुष से कम नहीं है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया हो या 'सेज पर संस्कृत' की संघमित्रा या 'आवां' की नमिता आदि इसी तरह की स्त्री पात्र हैं। प्रभा खेतान द्वारा रचित उपन्यास 'छिन्नमस्ता' बहुत ही चर्चित

उपन्यास है। प्रिया इस उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र है। प्रिया एक बड़े घर की बहू है जहाँ करोड़ों का व्यवसाय है। रहने-खाने, पैसे की कोई कमी नहीं है। ऐसे परिवार में प्रिया का आर्थिक रूप से निर्भर होना परंपरागत समाज से कई सवाल खड़ा करता है। प्रिया अपने लिए बिजनेस करना चाहती है। अपनी पहचान बनाना चाहती है जिस समाज में वह अपने पति के नाम से जानी जाती है वहां वह अपनी पहचान बनाना चाहती है, अपनी पहचान के लिए व्यवसाय करती है। संजू के कहने पर ''मां...हम लोगों को रुपए की तो जरूरत नहीं।''[61] प्रिया कहती है ''मुझे तो है बेटा।''[62] सत्तर-अस्सी के दशक में स्त्री के लिए सिर्फ आर्थिक रूप से संबल होना ही महत्वपूर्ण नहीं था। वह आर्थिक रूप से निर्भर होकर गृहस्थी में सहायता ही नहीं कर रही, बल्कि अपनी एक पहचान स्थापित कर रही है। प्रिया कहती है ''नरेन्द्र, मैं व्यवसाय रुपए के लिए नहीं कर रही। हाँ, चार साल पहले जब मैंने पहले-पहल काम शुरू किया था, मुझे रुपयों की भी जरूरत थी। पर आज मेरा व्यवसाय मेरी आइडेंटिटी है। यह आए दिन की विदेशों की उड़ान...यह मेरी जिन्दगी के कैनवास को बड़ा करती है। नित्य नए लोगों से मिलना-जुलना, जीवन के कार्य-जगत को समझना। मुझे जिन्दगी उद्देश्यहीन नहीं लगती।''[63]

प्रिया अपना व्यवसाय शुरू करती है और धीरे-धीरे भारत से लेकर विदेशों की यात्रा करने लगती है तो उसे कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। सबसे पहले तो वह अपने पति नरेन्द्र का सामना करती है। जब प्रिया बिजनेस के सिलसिले में लन्दन जाती है तब उसका पति उस पर धौंस जमाता है। नरेन्द्र को नहीं पसंद है कि प्रिया बाहर जाकर बिजनेस करे। वह प्रिया से कहता है ''दरअसल तुम्हें इतनी खुली छूट देने की गलती मेरी ही थी। मुझे पहले ही चिड़िया के पंख काट डालने चाहिए थे। पर मैं तुम्हारी बातों में आ गया। तुम्हारे इस भोले चेहरे के पीछे एक मक्कार औरत का चेहरा है।...तुम केवल मन लगाने के लिए ही तो काम करना चाहती थीं? और चार साल में तुम इतना बदल गई कि काम के अलावा अब तुम्हें और किसी बात का होश ही नहीं ? कभी तुमने रो-रोकर कहा था-नरेन्द्र, मुझमें आत्मविश्वास की कमी है। मैं कोई काम करने लगूँ तो मेरी आधी बीमारी दूर हो जाएगी। सब ठीक हो जाएगा।...पागलों की तरह अब दिन-रात इसी के पीछे। सुबह आठ बजे घर से निकलती हो और रात आठ बजे शक्ल दिख जाए तो भाग्य हमारे! मैं कहीं चलने को कहूँ तो तुम थकी हुई हो, सिर में दर्द हो रहा है और अभी कोई तुम्हारा व्यापारी आ जाए तो तुरन्त उसे लेकर तुम रात बारह बजे तक बाहर। तब खूब चहकने लगती हो, कहाँ से हँसी आ जाती है चेहरे पर?''[64] नरेन्द्र भी इसी सामंती समाज का ही पुरुष है जो इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि उसकी पत्नी रात को बारह बजे तक व्यापारियों के साथ काम करे। यह जाहिर सी बात है कि अगर प्रिया ऐसे ही पागलों की तरह काम करेगी तो उससे ज्यादा आगे निकल सकती

है। उसका नाम समाज में पति के नाम से ज्यादा हो जाएगा। समाज में पुरुषों का वर्चस्व है। जहाँ पुरुष की मनमानी को कुछ नहीं कहा जाता है पर वहीं एक स्त्री जब सामाजिक व्यवस्था तोड़ती है तो समाज उसे घर फोड़ू कहता है। एक स्त्री अपने पति के खिलाफ जाए, यह तो नाकाबिले बर्दाश्त है। आखिर में नरेन्द्र अपना फैसला सुनाते हुए कह ही देता है कि ''मैं सीरियस हूं। फिर कहता हूं, यदि आज तुम गई तो मेरे घर में तुम्हारी जगह नहीं। यह भी साली कोई जिन्दगी है, जब देखो तब बिजनेस।''[65] नरेन्द्र के इस वाक्य से तो ऐसा लग रहा है कि समाज में स्त्री चाहे जितना पढ़-लिख ले लेकिन वह अपना स्वतंत्र जीवन नहीं जी सकती। गौरतलब है कि जब तक समाज की पुरुषवादी मानसिकता नहीं बदलेगी सामाजिक परिवर्तन नहीं हो सकता। चाहे हम कितना भी चिल्ला ले। अंत में प्रिया नरेन्द्र की बात नहीं सुनती है और लंदन चली जाती है। नरेन्द्र का यह वाक्य ''फिर सुन लो, यहाँ मत आना। आओगी तो धक्के देकर बाहर निकलवा दूँगा।''[66] यही वह धमकी है जिससे पुरुष स्त्री को गुलाम बना कर रखता है। नरेन्द्र अपने पुरुषसत्व की सत्ता को प्रिया के सामने दिखाता है। नरेन्द्र एक करोड़पति उद्योगपति है जो कि सिर्फ बड़े-बड़े पार्टियों में ही जाता है। ऐश की जिन्दगी जीता है। इस तरह की जिन्दगी जीने वाला इंसान कैसे अपनी पत्नी की मनमानी हरकतों को बर्दाश्त कर सकता है। तसलीमा नसरीन का कथन है ''स्त्री के लिए पति नामक वस्तु बहुत मूल्यवान है। पुरुष यदि वृक्ष है तो नारी उसके साथ लिपटी परजीवी लता। वृक्ष के सहारे के बिना जिस प्रकार लता नहीं बच सकती। उसी प्रकार पुरुष के आश्रय के बिना नारी का जीवन असंभव है।''[67] भारतीय समाज के स्त्रियों के लिए तसलीमा नसरीन की यह टिप्पणी सटीक है लेकिन आधुनिक काल में सामाजिक परिदृश्य बदला है। प्रिया नरेन्द्र के सहारे ही बिजनेस में आगे बढ़ती है लेकिन बाद में वह अपना रास्ता स्वयं बनाती है। अतः हम देख सकते हैं कि प्रिया 'भोग की वस्तु' और 'सम्पत्ति' बनने से इनकार करती है। प्रिया धीरे-धीरे नैतिक रूप से मजबूत होकर नरेन्द्र को छोड़ने का निर्णय करती है और अपने जीवन के पगडंडियों पर स्वयं चलने लगती है। उसे पता होता है कि जीवन का यह रास्ता कठिन है और उसके पैर भी इस रास्ते पर लड़खड़ा या लहूलुहान हो सकते हैं लेकिन फिर भी वह नरेन्द्र से अलग रहने का फैसला करती है। स्त्री अपना घर तभी छोड़ती है, जब रिश्तों में कोई जान न बचा हो या जब रिश्ते दरक जाते हैं।

चित्रा मुद्गल कृत उपन्यास 'आवां' नायिका प्रधान उपन्यास है। इस उपन्यास की नायिका नमिता है। पिता की बीमारी के कारण घर की स्थिति खराब होने लगती है। घर की जिम्मेदारी और आर्थिक संकट को दूर करने के लिए वह साड़ी में फाल लगाने का काम या ट्यूशन पढ़ाने का काम करने लगती है। नमिता कहती है ''दिन में एकाध फाल लगा लेती हूँ। सौ-सवा सौ के करीब पापड़ बेल लेती हूं-'श्रमजीवा' संस्था में।...दो ट्यूशन भी पढ़ा रही हूं।''[68] इस उपन्यास की सभी स्त्री पात्र

कर्मठ हैं। चाहे वह नमिता की मां हो या स्मिता आदि स्त्रियाँ। आर्थिक संकट को दूर करने के लिए कुछ न कुछ काम करती हैं। यह ध्रुव सत्य है कि पुरुष चाहे कितना भी अपने आप को सुपीरियर समझ ले लेकिन स्त्री ही है जो घर और बाहर दोनों जगह काम करती है। कहा जाता है कि जब एक स्त्री घर की दहलीज को लांघती है तो कई सामाजिक चुनौतियों का सामना करती है। नमिता भी इसी चुनौतियों का सामना करती है। वह जहाँ जहाँ भी काम करने जाती है उसे एक देह के रूप में देखा जाता है। वह स्त्री होने के दंश को भुगतती है। दरअसल 'आवां' में नमिता जैसी उन स्त्रियों की जीवनगाथा है जो अपने घर की दहलीज लांघकर विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक आजादी के लिए संघर्षरत है। ये स्त्रियाँ समाज-सेवा और राजनीति में कार्यरत, कुटीर उद्योग, मॉडलिंग सभी क्षेत्रों में सक्रिय भूमिका निभाती हैं परंतु सच्चाई यह भी है कि इन सभी स्थलों पर उन्हें 'भोग की वस्तु' समझा जाता है। तसलीमा नसरीन का कहना है

''तुम लड़की हो,

तुम बहुत अच्छी तरह से याद रखना

तुम जब घर की दहलीज पार करोगी

लोग तुम्हें तिरछी नजरों से देखेंगे।

लोग तुम्हारा पीछा करेंगे, सीटी बजाएँगे।

तुम जब गली पार कर मुख्य सड़क पर पहुँचोगी,

लोग तुम्हे चरित्रहीन कहकर गाली देंगे।''[69]

यह भारतीय समाज की सच्चाई है। जब एक लड़की सड़क पर चलती है तो पुरुष की नजर उस पर टिकी होती है और उसकी नजरों में एक देह होती है। यह मानसिकता पुरुषों की स्त्रियों के प्रति अभी तक नहीं बदली है। शशिकला त्रिपाठी का कथन है ''महानगरों निम्न मध्यवर्गीय परिवार की युवती नमिता पिता के रोगग्रस्त होने पर आर्थिकता के लिए जब नमिता अस्तित्व-संघर्ष करती है तो उसे बार-बार यौन-उत्पीड़न का शिकार होना पड़ता है। पुरुष-दृष्टि उसकी 'देह' पर ही होती है। उसे यह बोध कराया जाता है कि वह 'मादा' है। वह 'उपभोग्य' है। एक युवती को एकान्त में पाते ही पुरुष भेड़िये की शक्ल में हो जाता है। इतना ही नहीं, वह इतना मोहक जाल बिछाता है कि युवतियाँ स्वयं उसमें जाकर उलझ जाती हैं। पुरुषों के इस सामन्ती, पूँजीवादी दृष्टिकोण को लेखिका ने व्यापक कैनवास पर रेखांकित किया है।''[70] चित्रा मुद्गल ने नमिता जैसी सशक्त स्त्री चरित्र को गढ़ा है लेकिन एक बड़ा सवाल है कि नमिता जैसी स्त्री जो कि काफी तेज-

तर्रार होती है और अपनी मां और मौसी का हमेशा विरोध करती रहती है । ऐसी स्त्री भी आत्मनिर्भरता और पारिवारिक जिम्मेवारियों के निर्वहन में कमजोर क्यों पड़ जाती है?

नमिता की तरह ही संघर्षरत बहुत सारी स्त्रियाँ हैं । मधु कांकरिया का उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' नायिका प्रधान उपन्यास है । इस उपन्यास की नायिका संघमित्रा है । पितृसत्तात्मक समाज में संघमित्रा आर्थिक संकट का सामना करती है । अचानक पिता की मृत्यु के बाद घर की आर्थिक जिम्मेदारियों को उठाती है । वह अपने पिता के साबुन के कारोबार को चलाती है वह अलग बात है कि पिता के गुजर जाने के बाद से साबुन का कारोबार भी ठप्प हो जाता है लेकिन संघमित्रा हारती नहीं है बल्कि संघर्ष करती है । लोग उसे कभी वासना की दृष्टि से तो कभी परिहास की दृष्टि से देखते हैं । नमिता की तरह वह यौन-शोषण का शिकार नहीं होती है लेकिन जहाँ काम करने जाती है वहां उसे भी पुरुष एक उपभोग की वस्तु के रूप में देखता है । दरअसल पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री घर से बाहर एक व्यक्ति या मनुष्य के रूप में नहीं देखी जाती । आर्थिक संकट के दौरान संघमित्रा भी पुरुष के कुदृष्टि का सामना करती है । लेकिन संघमित्रा एक साहसी स्त्री है । 'छिन्नमस्ता' की प्रिया और 'आवां' की नमिता से एक कदम आगे की स्त्री । संघमित्रा अर्थ के लिए सम्मान का सौदा नहीं करती है क्योंकि जब आत्मसम्मान ही नहीं बचेगा तो अर्थ को लेकर क्या करेगी?

इक्कीसवीं सदी में स्त्रियों के जीवन का कैनवास बदला और यह बदलाव स्त्री के आर्थिक आत्मनिर्भरता के कारण हुआ । स्त्री आज समझने लगी है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था से मुक्त होने के लिए उसे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना बहुत जरूरी है । एक तरह से देखा जाए तो पुरुषों की तुलना में स्त्रियाँ ज्यादा काम करती हैं लेकिन फिर भी पुरुष व्यवस्थात्मक समाज में उसके काम को कोई महत्व नहीं दिया जाता । वह सुबह से लेकर शाम तक काम करती रहती है लेकिन उस काम का कोई मोल नहीं । इसका कारण यह है कि स्त्रियों को अपने जीवन की छोटी सी छोटी जरूरतों के लिए पुरुषों पर निर्भर होना पड़ता है। अतः जब तक वह पुरुषों पर आश्रित रहेगी तब तक वह पितृसत्तात्मक समाज द्वारा शोषित होती रहेगी । मृणाल पाण्डे का कथन है ''दुनिया में पुरुष और स्त्री के बीच संतुलन बहुत बिगड़ा हुआ है । स्त्री का पलड़ा तमाम जिम्मेदारियों के बोझ से नीचे झुका दिया गया है । अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठनों का मानना है कि यद्यपि देश में किए जाने वाले काम का लगभग दो तिहाई भाग औरतें करती हैं, और स्त्री-मजदूरों का वेतन पुरुषों से कम है।''[71] इस गुलामी का मूल कारण स्त्रियों का सामाजिक रूप से और आर्थिक रूप से कमजोर होना है । जिस दिन से स्त्री आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने लगेगी तो वह पुरुषों पर आश्रित नहीं रहेगी ।

अतः कह सकते हैं कि आज स्त्रियाँ अपनी गृहस्थी की जिम्मेदारी निभाते हुए, आर्थिक क्षेत्र में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिला कर काम कर रही हैं। आज ऐसा कोई क्षेत्र या विभाग नहीं है जहाँ स्त्रियाँ अपनी उपस्थिति दर्ज नहीं करा रही है।

4. 5.3. धर्म में स्त्री का स्थान

धर्म की आड़ में सदियों से स्त्री का शोषण होता रहा है। समाज धर्म के नाम पर चलता है और विकृत होता है। रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि ''दरअसल, स्त्री असमानता का मूल स्रोत धर्म ही है। ईसाई, इस्लाम, यहूदी, हिन्दू, जैन, सिख या किसी भी धर्म में स्त्री को दोयम दर्जे का जीव माना गया है। सभी धर्मों ने पुरुष को स्त्री से दूर रहने की सलाह, हिदायत और शिक्षा दी है। सभी धर्मों ने प्रथम दृष्टया यह माना कि स्रष्टा या सर्वशक्तिमान पुरुष ही होता है। ईसाई धर्म में आदम की पसली से औरत पैदा हुई। हिन्दू धर्म में स्त्री की उत्पत्ति के बारे में कुछ स्पष्ट नहीं मिलता, लेकिन उसमें सृष्टि का विस्तार स्त्री के शोषण और पुरुष के वर्चस्व पर आधारित है, जैसे ब्रह्मा का विस्तार अपनी पुत्री से जबरन संभोग करना। धरती से सीता का पैदा होना और पुरुष जुल्म के बाद धरती में समा जाना। सिख, जैन या बौद्ध धर्म ने स्त्री की उत्पत्ति पर कुछ कहा ही नहीं। उन्होंने प्रचलित हिन्दू धर्म के बरक्स समानता के धर्म खड़े कर दिए, लेकिन बौद्ध धर्म को छोड़कर बाकी सभी धर्मों ने स्त्री को वर्जित क्षेत्र में रखा। इस्लाम में दो स्त्रियों की गवाही एक पुरुष के बराबर मानी जाती है। संभवतः विश्व के किसी भी धर्म की प्रवर्तक कोई स्त्री नहीं है, वह पुरुष ही है। सभी धर्मों में स्त्री को पुरुष के अधीन रहने का निर्देश दिया गया है।''[72] इसके साथ रमणिका गुप्ता यह भी कहती हैं कि '' हर धर्म ने औरत को छोटा ही माना-किसी ने आदम की पसली से जन्मा बताकर तो किसी ने मनोरंजन करने वाली या मोहिनी बनकर असुरों से अमृत-घट छीनने वाली कहकर। जब औरत रजिया बनी तो सरदारों द्वारा मार दी गई, तसलीमा बनी तो देश छोड़कर भागने को मजबूर कर दी गई, प्रेम किया तो अनारकली की तरह जिन्दा दीवार में चुनवा दी गई, तर्क किया, सवाल किया तो द्रौपदी की तरह भरी सभा में नंगा कर दी गई या श्राप की धमकी देकर गार्गी-सी चुप करा दी गई।''[73] अगर स्त्री की गुलामी का इतिहास देखें तो मालूम होगा कि पुरुष समाज ने धर्म और धर्म-शास्त्रों को ही इसका सबसे बड़ा औजार बनाया।

संघमित्रा अपनी छोटी बहन छुटकी को धार्मिक कर्मकांड से बचाना चाहती है लेकिन असफल रहती है। संघमित्रा अपनी मां से तर्क करती है लेकिन उसकी मां के आँखों पर धर्म की पट्टी बंधी रहती है। ''मैं चीख पड़ी--बस भी करो अम्मा, इतने विराट जैन धर्म को तुम और तुम्हारे गुरु लोगों ने बस कीड़ों-मकोड़ों को समर्पित कर रखा है। उन्हीं के लिए दया-माया है तुम्हारे मन

में...चौबीसों घंटे उन्हीं के लिए सोचना है तुम्हें। अंकुरित चना, दही और पानी में छुपे सूक्ष्म जीवों की चिंता है तुम्हें पर तुम्हारी आत्मा में जो फफूंदी जमी है जो चूहे की तरह हर पल जिन्दगी के डर से कांपती रहती है, उसकी चिंता नहीं है तुम्हें। आज महावीर भी होते तो सोचते कि मेरे बंदे इतने गंदे कैसे हो गए कि एक मासूम-सी लड़की के बचपन को धर्म के नाम पर बलि चढ़ा रहे हैं।''[74] मधु कांकरिया संघमित्रा के हवाले से यह कहना चाहती हैं कि धर्म की आड़ में लड़की बड़ी हो या छोटी कोई मायने नहीं रखती, धार्मिक कर्मकांड में बलि सभी उम्र की स्त्रियाँ चढ़ती हैं।

मधु काँकरिया के उपन्यास 'सेज पर संस्कृत' में दिव्यप्रभा धार्मिक आडम्बर का शिकार होती है। वह अभय मुनि के द्वारा छली जाती है। अभय मुनि दिव्यप्रभा के साथ बलात्कार करता है। अभय मुनि अपनी काम तृप्ति के लिए दिव्यप्रभा से कहता है ''बस, आज रात-भर के लिए मुझे भी उफनती नदी में डुबकी लगा लेने दो, कल विजेन्द्र मुनि के पास मैं स्वयं तुम्हें छोड़ आऊँगा...कोई जान तक नहीं पाएगा। जब धर्म के छतनार वृक्ष विजेन्द्र मुनि भी कामदेव के हाथों घायल होकर अधर्म में डूबकी लगा सकते हैं, कामनाओं के कबूतरों को दाना चुगा सकते हैं तो मैं क्यों नहीं? थोड़ा पान-पत्ता मुझे भी चढ़ा दो देवी! वहाँ तो सारी उम्र ही चढ़ावा चढ़ाते रहना है। देवी, बस आज रात तुम मेरी कामाग्नि को शांत कर दो। उद्दाम वेग से बहती इस बेकाबू लहर को थाम लो। थोड़ा-सा भोग यदि मैं लगा भी लूँगा तो तुम्हारा इसमें क्या बिगड़ेगा...साध्वी जीवन से तो तुम वैसे भी स्खलित हो ही चुकी हो...चाहे वह विजेन्द्र मुनि की गर्माती बेकाबू देह हो, चाहे मेरी''[75] अभय मुनि जो कि जैन धर्म अपना कर एक मुनिवर की तरह जीवन जी रहे थे। ऐसे मुनिवर भी काम वासना से बच नहीं पाए और उसकी शिकार हुई साध्वी के रूप में दिव्यप्रभा। धर्म की आड़ में न जाने कितने अभय मुनियों ने दिव्यप्रभा जैसी स्त्रियों का शिकार किया होगा, न जाने कितनी छुटकी ऐसे ही धर्म की आड़ में छली गयी होगीं। संघमित्रा दिव्यप्रभा की बड़ी बहन है। वह चाह कर भी अपनी बहन को साध्वी बनने से नहीं बचा पाती क्योंकि उसकी मां यह मानती है कि बाहरी शोषण का शिकार होने से अच्छा है धर्म को अपना लो। उसकी मां (संघमित्रा) को यह लगता है कि छुटकी ज्यादा सेफ जोन में साध्वी के रूप में रहेगी। इस सांसारिक मोह माया से दूर। कई ऐसे सवालों को यह उपन्यास रेखांकित करता है। सवाल यह है कि संघमित्रा के पिता के गुजर जाने के बाद उसकी मां घर की बुरी हालत देखकर अपने साथ दोनों बेटियों को भी धार्मिक दीक्षा लेने के लिए कहती है। मां यह नहीं सोच पाती कि वहां भी स्त्री का शोषण हो सकता है जैसे छुटकी के साथ हुआ। दिव्यप्रभा (छुटकी) छोटी उम्र में मां के साथ दीक्षा ले लेती है। बड़े होने के बाद भी उसका मन सांसारिक माया से मुक्त नहीं हो पाता है। वह वापस अपना जीवन जीना चाहती है- जैन धर्म को छोड़ कर। दिव्यप्रभा को विजेन्द्र मुनि से प्रेम होता है और दोनों साध्वी का चोला उतार कर

वापस संसार में अपना जीवन जीने के लिए सोचते हैं। उसी का परिणाम होता है कि दिव्यप्रभा अभय मुनि द्वारा छली जाती है। दिव्यप्रभा खुद को बचा नहीं पाती है ''जाल में फँसी मीन की तरह वह छटपटायी। पिंजरे में फँसे पाखी की तरह उसने पिंजरे की दीवारों से ही अपने सिर को टकरा-टकरा कर लहूलुहान कर डाला। पर दूर क्षितिज पर सूरज पूरी तरह डूब चुका था। वह काली रात और काली हुई। वासना के अजगर ने निगल लिया उसे। चारों दिशाओं, धरती और आसमान तक गूँजी एक चीख और विलीन हो गई अनन्त में।''[76] दिव्यप्रभा इसकी भरपायी नारकीय जीवन जीकर बिताती है। यह पितृशाही समाज है जहाँ लड़कों को दोष नहीं दिया जाता। लड़कों की गलतियों की सजा लड़कियों को भुगतनी पड़ती है और छुटकी अभय मुनि के गलतियों की सजा भुगतती है। वेश्या जीवन जीने के लिए विवश दिव्यप्रभा एक बच्ची को जन्म देती है। यह बच्ची अभय मुनि की होती है। इसका नाम होता है विषकन्या। स्त्री का जीवन कितना दयनीय होता है इसे हम छुटकी के माध्यम से देख सकते हैं। छुटकी वेश्या जीवन जीने वाले जगह को ज्यादा सही और पवित्र बताती है और कहती है यहां कोई धार्मिक कर्मकांड नहीं है। छुटकी अपनी पीड़ा संघमित्रा को सुनाती है ''उस तपोवन से भी अच्छी है यह दुनिया जिसने आज तक जाने कितनी औरतों को सहारा दिया पर किसी को पापिन कहकर निकाला नहीं।...यहां हम सब एक जैसी हैं। जैसी भीतर वैसी बाहर। न कोई पाखंड, न पवित्रता का झंझट, न धर्म की थानेदारी। हम सबके माथे पर चिपकी है हमारी हकीकत। हम सबका धर्म एक है-रोटी का धर्म। हम सबका सत्य एक है-ग्राहक। जो भी आ जाए हमारे आँगन, राजा, रंग, योगी, कोढ़ी...सबको समान भाव से स्वीकार करती हैं हम। वह दुनिया मेरे किस काम की जीजी, जो भेद करे इंसान में।''[77] आज का धर्म मानवता की रक्षा न कर उसकी संवेदना को मारता है। लोगों के जीवन जीने की इच्छा को खत्म कर देता है। 'छुटकी को जैन धर्म का चोला पहना दिया जाता है। इस धर्म की आड़ में वह दोयम दर्जे का जीवन जीती है। 'ऐसे धर्मशालाओं से वेश्या मंडी भली है और विश्वस्त है।' छुटकी के अंतिम जीवन का सच यही था तभी वह अपनी जीजी को कहती है। जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है। संघ में अभय मुनि ने छुटकी के साथ गलत किया था लेकिन संघ से निकाली गई (छुटकी) दिव्यप्रभा। नारकीय जीवन पाया अंतिम समय में छुटकी।

''जरा-जरा कर शेष हुई छुटकी।

अंतहीन क्षणों के मामूली से क्षण में अनन्त में विलीन हुई।

मुट्ठी भर राख हुई।

इतिहास हुई।

मेधावी डॉक्टरों, अत्याधुनिक चिकित्सा, जर-जवाहर और संघमित्रा...सबको धत्ता बताते हुए उड़ चली, अजीमगंज के आँगन की वह चिड़िया, अपने अधूरे स्वप्न, अधूरे कर्त्तव्य, अधूरे वचन और पीड़ा...सबको अपनी जीजी के हाथों में सौंपकर।''[78] इस उपन्यास में धर्म की आड़ में स्त्री शोषण का चित्रण किया गया है। जिसमें सामाजिक यथार्थ का व्यापक चित्रण हुआ है। यह सामाजिक सच है कि आज भी न जाने कितनी छुटकी ऐसे ही तथाकथित धार्मिक बाबाओं के चक्कर में पड़कर नारकीय जीवन जीती है। यह उपन्यास एक तरह से धार्मिक कपटता का और छलि गई विकृतियों को चित्रित करता है। मसलन मधु कांकरिया जैन धर्म के कर्मकांडों का पोल खोलती हैं। इस उपन्यास में धार्मिक आडम्बर द्वारा स्त्री के यौन-शोषण की अभिव्यक्ति की गई है। संघ के गुरु-भाई ही दिव्यप्रभा का यौन-शोषण करते हैं और इस यौन-शोषण के कारण छुटकी का पूरा जीवन तार-तार व दोयम दर्जे का हो जाता है। स्त्री सदियों से ऐसे ही धर्म के नाम पर शोषण का शिकार होती रही है। स्त्रियाँ ज्यादातर धर्मभीरू होती हैं क्योंकि जितने भी धार्मिक अनुष्ठान हैं उसे स्त्री को ही निभाने पड़ते हैं। हर धर्म ने स्त्री का शोषण किया है। रमणिका गुप्ता का मानना है कि ''इस्लाम में एक पति चार पत्नियां भी रख सकता है और तीन बार 'तलाक' कहकर औरत को छोड़ भी सकता है। औरत को तलाक देने का अधिकार प्राप्त नहीं है। यदि इस्लाम में दो स्त्रियों की गवाही एक पुरुष के बराबर होती है तो हिन्दू धर्म में सौ स्त्रियाँ भी यदि व्रत-उपवास करें, तो भी उनका पुण्य एक पुरुष के बराबर नहीं माना जाता।''[79]

धर्म की सत्ता पुरुषों के हाथ में है। पुरुष ही धार्मिक वर्चस्व का कर्ता-धर्ता होता है। इसलिए स्त्री का शोषण भी पुरुष जमकर करता है। रमणिका गुप्ता लिखती हैं ''सिर्फ आदिवासी को छोड़कर पूरी दुनिया के धर्म का प्रमुख पैगंबर पुरुष ही होता है स्त्री नहीं।' धार्मिक रूप से यह सामाजिक परंपरा रही है कि बेटा ही पिता को मुखाग्नि देता है बेटी नहीं, इस धारणा को चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आवां' में तोड़ा गया है। 'आवां' की पात्र नमिता परंपरा से चली आ रही धार्मिक कर्मकांड को चुनौती देती है। जब वह कहती है ''क्रियाकर्म मैं करूंगी, पंडितजी, मुखाग्नि भी मैं ही दूंगी ! मैं पांडेजी की बड़ी बेटी हूं। छुन्नू बच्चा है। बच्चे के हाथ से क्रियाकर्म करवाना उचित नहीं।''[80] इस तरह के निर्णय लेने पर नमिता को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। सबसे पहले तो उसकी मां ही नमिता का विरोध करती है। मां कहती है ''दिमाग तो नहीं चल गया तेरा नंगिन, जो बैठे-ठाले अलाय-बलाय बकने लगी ? न मैं बांझ हूं न, छूंछी ! कुल दीपक बेटा जना है मैंने, बेटा ! जना है तो भला किस दिन के लिए जना है ? बोल ?''[81] पुरुषवादी मानसिकता का शिकार स्त्रियाँ भी होती हैं। धार्मिक आडंबर को सबसे ज्यादा बढ़ावा स्त्री ही देती है। स्त्री धार्मिक

मानसिकता की गुलाम होती है तथा रूढ़िवादी परंपरा से जकड़ी होती है। जब तक स्त्री चेतनशील नहीं होगी तब तक धार्मिक गुलामी से मुक्त नहीं मिलेगी।

4.6 शोषित और उत्पीड़ित स्त्री:मुक्ति के सवाल

समाज कई वर्गों में बंटा हुआ है। समाज में स्त्रियाँ भी कई वर्गों में बँटी हैं और हर वर्ग की स्त्रियों की अपनी अलग समस्या है। निम्न वर्ग की स्त्रियाँ सभ्यता के विकास से ही मेहनतकश रही हैं। वे अपने पति के साथ दिन-रात खेती और मजदूरी का काम करती हैं। उनका जीवन मध्यवर्गी स्त्री से अलग होता है। मध्यवर्गी स्त्रियाँ परंपरा से ज्यादा जकड़ी होती हैं। दरअसल मध्यवर्ग की स्त्री ज्यादातर परंपरा को ढोती है। इनके यहां स्त्रियाँ पर्दा में रहती हैं। इज्जत का ढोंग इनके यहां ज्यादा होता है। मध्यवर्ग की स्त्री अगर किसी दूसरे जाति में शादी करे तो उनकी इज्जत चली जाती है। कई तरह की बंदिशें इनके यहां है। रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि ''औरतें दोहरे-तिहरे शोषण का शिकार होती हैं-औरत होने के नाते, अशिक्षित और गरीब होने के नाते। दलित औरतें तो दलित होने के नाते भी शोषित होती हैं। औरतों को अपनी मुक्ति की लड़ाई खुद ही लड़नी होगी, बाहर से कोई उनका मददगार नहीं हो सकता। आज जब स्त्रियाँ मुखिया और सरपंच बनने लगी हैं तो उन्हें खुद भी यह कोशिश करनी होगी कि वे इन पदों को स्वयं संभाले, प्रॉक्सी में मुखियागिरी न करें।''[82] रमणिका गुप्ता का यह सवाल विचारणीय है। स्त्री को अपनी क्षमता समझनी होगी। जब तक स्त्री चेतनशील नहीं होगी तब तक उसका उद्धार नहीं हो सकता। जब उसे 'पावर' मिल रहा है तो उसे अपनी सहूलियत के अनुसार अपना काम खुद करना चाहिए।

शशिकला त्रिपाठी कहती हैं ''स्त्री-मुक्ति संघर्ष के दो आयाम हैं--परिवार और समाज। दोनों ही संस्थानों में स्त्री द्वितीय, पराधीन और उत्पीड़न रही है। इन प्रचलित मान्यताओं से टकराती आज की स्त्री का मुक्ति-संघर्ष घर-परिवार से शुरु होता है फिर समाज में वह अपनी पहचान बनाती है। समाज की मुख्यधारा में प्रविष्ट होती है। उसने अपनी सृजनात्मकता को पहचाना है। वैचारिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में उसने अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है। यह उपस्थिति क्या स्वतंत्र होना नहीं है ? पर दुखद सत्य यह भी है कि स्त्री को कैसा होना चाहिए, और क्या करना चाहिए, यह निर्णय आज की तारीख में भी पुरुष ही कर रहा है।''[83]

'छिन्नमस्ता' उपन्यास का ही हम उदाहरण लें तो इस उपन्यास में दिखावा ज्यादा है और स्त्री का शोषण भी। प्रिया अपने घर में ही अपने भाई के द्वारा यौन शोषण का शिकार होती है। बदले में उसे किसी को न कहने की नसीहत दी जाती है। यौन शोषण को स्त्री की इज्जत से जोड़कर

देखा जाता है। किसी से कहने पर प्रिया मुंह दिखाने लायक नहीं रहेगी। इसलिए प्रिया को शोषण को सहने के लिए सिखाया जाता है। उसके खिलाफ विद्रोह होने के बावजूद चुप रहने की सलाह दी जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूढ़ीवादी परंपरा को मध्यवर्गी स्त्री अधिक ढोती है। प्रिया जैसी विद्रोहिणी स्त्री भी कहीं न कहीं परंपरा को ढोती है। क्योंकि प्रिया नरेन्द्र से अलग होकर रोती है और उसका अकेलापन बढ़ जाता है। तभी तो उसकी दोस्त जूडी कहती है ''प्रिया, तुम एक फिक्स्ड इमेज की शिकार हो। मियां-बीबी, बच्चे...वही पारंपरिक परिवार''[84] जूडी और फिलिप दोनों पति-पत्नी हैं और प्रिया के अच्छे दोस्त। दोनों विदेशी हैं और पश्चिमी सभ्यता को मानने वाले। जूडी कहती है कि स्त्री हर जगह शोषित होती है। क्या पश्चिमी स्त्रियाँ अकेली नहीं होती हैं या शोषित नहीं होती है? पश्चिम की स्त्रियाँ शोषित होती हैं लेकिन वह मजबूत भी होती हैं तथा वे परंपरा को ढोती नहीं है। इसके पीछे वहां की स्त्रियों का आर्थिक रूप से स्वनिर्भर होना है। जूडी प्रिया को अपनी जिन्दगी को फिर से शुरु करने को कहती है। वह पश्चिमी की स्त्री का उदाहरण देती है ''हम पश्चिमी स्त्रियों ने भी बहुत सहा है। जब हमारे घर उजड़े, बच्चों ने साथ छोड़ा, साठ वर्ष का पुरुष केवल पैसे के बल पर बीस वर्ष की लड़की के लिए घूमने लगा, तब हम भी तिलमिला उठी। भोग का नंगा नाच और उसमें शामिल हमारी ही बहनें और बेटियां थी। आज कम से कम मुझे पता है कि इलोना एक व्यक्ति की तरह सोचती है, अपना निर्णय खुद लेती है।''[85] यानी स्त्री हर जगह शोषित होती है। अतः सबसे महत्वपूर्ण है स्त्री का स्वयं निर्णय लेना।

इसी तरह उच्च वर्ग की स्त्रियों के पास भी सामाजिक बंदिशें हैं लेकिन मध्यवर्गी समाज से कम। आज मध्यवर्गी स्त्री की स्थिति बदली है। प्रिया कहीं न कहीं अपने घर से विद्रोह करके ही एक आधुनिक स्त्री बनती है। सबसे पहले वह अपने घर में ही उपेक्षित रहती है। बड़े घर में विवाह होने के बाद भी वह खुश नहीं रहती क्योंकि उसका पति नरेन्द्र प्रिया की मन की बात जानने की जरूरत महसूस नहीं करता है बल्कि वह भी एक वहशी पुरुष निकलता है। जो बीस मिनट में अपनी भूख मिटा कर करवट बदल कर सो जाता है। समाज कभी भी सामाजिक व्यवस्था तोड़ने वाली एक स्त्री को स्वीकार नहीं करता। बल्कि उसे दंडित कर सौ कोड़े मारता है। ऐसे स्त्री को लोग सामाजिक रूप से बहिष्कृत कर देते हैं। समाज में पुरुषों की सत्ता है। तभी तो प्रिया को सामाजिक दंश हर जगह झेलना पड़ता है। प्रिया कहती है ''घृणा से जलती हुई आँखें।...इस औरत को हम कैसे घर बुलाएँ? कैसे सम्मान दें? कल हमारी भी बहू-बेटियां ऐसे ही कदम उठाएँगी।''[86] यह समाज का घिनौना चेहरा है, जहाँ स्त्रियाँ ही स्त्रियों के दुखों का कारण होती हैं। प्रिया जिस तरह नरेन्द्र से बगावत करती है, वह सभ्य समाज की नजरों में सही नहीं है। चूंकि प्रिया व्यवस्था को चुनौती देती है तथा चट्टानों से टकराती है। व्यवस्था को चुनौती देने वाली स्त्री कभी भी समाज में

स्वीकार नहीं की गई है। सामाजिक रूप से वही स्त्री ज्यादा अच्छी होती है जो पुरुषवादी व्यवस्था को बनाए रखे। आखिर में प्रिया को घर छोड़ना ही पड़ता है।

स्त्री सुरक्षा की जब बात आती है तो कहा जाता है कि परिवार ही एक ऐसी जगह है जहाँ स्त्री स्वयं को ज्यादा सुरक्षित महसूस करती है लेकिन सच्चाई यह है कि परिवार ही वह जगह है जहाँ स्त्री सबसे ज्यादा शोषित होती है। प्रभा खेतान द्वारा रचित उपन्यास 'छिन्नमस्ता' अपने समय का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। यह हिन्दी साहित्य का पहला उपन्यास है जिसमें अपने परिवार में स्त्री के यौन-शोषण का चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में प्रिया अपने घर में बचपन से अपने बड़े भाई द्वारा यौन-शोषण का शिकार होती है। प्रिया अपने परिवार में ही असुरक्षित है। प्रिया का यौन-शोषण सामाजिक विकृति की देन नहीं है बल्कि अपने परिवार की देन है। परिवार में लड़कियों को यह सिखाया जाता है कि इस तरह की घटना का जिक्र किसी के सामने न करें। प्रिया ही नहीं बल्कि 'आवां' उपन्यास की नमिता भी वही करती है। प्रिया से उसकी दाई मां कहती हैं ''अरी दइया री, ई का भइल? इ खून कहाँ से ? अभई तो दसवाँ बरस लगा है...अरे भगवान ! हमार बिटिया का ई का किए ? दाई मां ! यह अम्मावाला खून नहीं है, वह जो हर महीने होता है !..''बड़े भैया ने आज मुझे...'' ''अरे जालिम, अरे कसाई, अपन सगी बहन को भी नहीं छोड़ा ! हम तो ओकर हाल सब जानत हई।...सुन बिटिया ! हमार कहा मान और जिन्दगी में ई सब बात कभी किसी से जिन कहियो। आपन पति परमेसर से भी नाहीं।''[87] पारिवारिक इज्जत के नाम पर न जाने कितनी स्त्रियाँ आदिम युग से इस तरह के यौन-शोषण का शिकार होती रही हैं। अगर प्रिया के अंदर आत्मविश्वास होता तो वह अपने भाई का विरोध करती। अपनी मां से कहती, लेकिन वह किसी से कुछ नहीं कहती है और अपने भाई द्वारा शोषित होती रहती है। वह कई सालों तक इस यातना को सहती है लेकिन किसी से कह नहीं पाती। प्रिया सोचती है कि अगर बाबू जी जिन्दा होते तो उनसे कहती लेकिन वह यह भी सोचती है ''बाबूजी को मालूम होता कि भैया ने मेरे साथ क्या किया...तो वे कौन-सा कदम उठाते? भैया को घर से निकाल देते ? नहीं, अम्मा अपने बेटे को नहीं निकालतीं, बेटे की तरफदारी करतीं और मुझे ही ब्याहकर घर से बाहर कर देतीं। यही तो होता आया है हमेशा से। लड़की को घर से निकाल दो, इससे पहले कि वह बड़ी हो, आँखों से दूर कर दो, इससे पहले कि घर के पुरुषों की उस पर नजर पड़े।''[88] कहा जाता है कि पितृसत्तात्मक गुण पुरुषों के अंदर होता है क्योंकि समाज में उसी का वर्चस्व है। प्रभा खेतान 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया की मां द्वारा यह दिखाती हैं कि औरतें भी पितृसत्तात्मक मानसिकता से ग्रसित होती हैं। प्रिया अपने घर में उपेक्षा का जीवन जीती है। जिसके कारण बचपन से वह हीन ग्रंथियों का शिकार रहती है क्योंकि उसका रंग सांवला है। घर में लोग उसे बैगन भाटा आदि कह कर बुलाते हैं। उसके जन्म

से उसके घर में कोई खुश नहीं होता है क्योंकि उसकी मां और दादी को बेटे की चाहत थी। बेटी पैदा होने से उसकी मां की तबीयत उसी समय से खराब हो जाती है। परिवार में हमेशा से बेटे को महत्व दिया जाता रहा है।

शरद सिहं 'पिछले पन्ने की औरतें' उपन्यास में स्त्री- जीवन के कड़वे सच को रेखांकित करती हैं। यहां स्त्री देह व्यापार करने के लिए बाध्य होती है। शरद सिंह लिखती हैं कि ''समाज में देह-व्यापार यदि आज भी मौजूद है तो मात्र इसलिए कि पुरुषों में स्त्री-देह को खरीदने की प्रवृति आज भी मौजूद है।''[89] स्त्री सदियों से भोग-विलास की वस्तु समझी जाती रही है। स्त्री के प्रति इस मानसिकता से मुक्त किए बिना कोई भी समाज दोषमुक्त नहीं हो सकता है। लेकिन भारतीय समाज की यह देन है कि स्त्री आदिम काल से लेकर आज तक धर्म, जाति, के आधार पर शोषित होती रही है साथ ही साथ लैंगिक भेदभाव को भी झेलती रही है।

बेड़िन समाज के नाम पर ही दूसरे समाज के पुरुष उसे 'भोग की वस्तु' के रूप में देखने लगते हैं। बेड़िन के नाम पर ही पुरुष के मन में बस एक बात आती है कि यह तो धन्धे वाली होगी। 'पिछले पन्ने की औरतें' उपन्यास की पात्रा नचनारी कहती है 'समाज में पुरुष दो प्रकार का होता है एक न्योते जैसे और दूसरा ठाकुर जैसा। इस समाज में ठाकुर तथा पैसे वाले लोग बेड़िन औरतों का 'सिर ढकने' का काम करते हैं। सिर ढकना का अर्थ रखैल बना कर रखना है। उस औरत के भरण-पोषण की जिम्मेदारी उठाना है।' नचनारी कहती है ''ठाकुर औरतों को धन देता है और बदले में उनसे यौन सुख लेता है। इसमें औरत की इच्छा या अनिच्छा का कोई महत्व नहीं रहता, जैसे बरसात के पानी को जमीन पर गिरना ही है और बहना ही है। इसमें न तो उसे जमीन चुनने का अधिकार होता है और न अपनी प्यास बुझाने का पानी ! हां. पानी ही तो है औरत ! जिस बरतन में डालो उसी के आकार में ढल जाती है।''[90] दरअसल स्त्री का न अपना समाज होता है और न स्त्री की कोई जाति होती है। वह सामाजिक रूप से हाशिए पर होती है। सामाजिक मान्यता के लिए बेड़नी समुदाय की औरतें चाहे जितनी भी जद्दोजहद कर ले लेकिन वह सामाजिक मान्यताओं से कोसों दूर ही रहती है। बेड़नी समुदाय की औरत अगर शादी कर अपना जीवन खुशीपूर्वक बिताना चाहे तो भी नहीं बिता पाती। श्यामा अपनी बेटी गुड्डी का विवाह कर देती है ताकि उसे एक बेड़नी की तरह जीवन न जीना पड़े। लेकिन गुड्डी खुश नहीं रहती। गुड्डी के लिए पति का यौन संबंध सहज न होकर यौन-शोषण था। गुड्डी का पति उसे धमकाते हुए कहता है कि ''तू क्या समझती है कि तुझे अपनी बीबी बनाए रखने को तुझसे शादी किया है मैंने ? अरे, चल हट ! तुझे तो मैं इसलिए ब्याहकर लाया हूं कि तुझसे धंधा करा सकूं।''[91] यानी बेड़नी समुदाय की स्त्री चाह कर

भी बेड़नी समुदाय से अलग समाज में अपना घर नहीं बसा सकती है। लोगों की मानसिकता है कि बेड़नी है तो इसके कई पुरुषों से संबंध होंगे। गुड्डी की तरह नचनारी, रसूबाई, चंदा, फुलवा और श्यामा जैसी औरतें कहीं न कहीं किसी न किसी पुरुष के शोषण का शिकार हैं और अपनी मुक्ति के लिए लड़ रही हैं।

शरद सिंह के शब्दों में '' वेश्यावृति में एक ही क्रिया के दो भिन्न परिणाम होते हैं पुरुष यौन सुख प्राप्त करता है तथा स्त्री धन-सुख प्राप्त करती है। इस प्रकार यौन संबंध स्त्री के लिए धन के रूप में अर्थमय भले ही हो किन्तु यौन सुख के रूप में अर्थहीन होता है। यौन संबंधों के मामले में वे एक छद्म जीवन जीती रहती हैं। इस छद्म में वह संबंध भी सम्मिलित है जो वे अपने 'रखैल पुरुष' के साथ स्थापित करती हैं क्योंकि उसे वे अपनी यौन तुष्टि का उपयुक्त साथी तो मानती हैं, किन्तु उसे व्यावहारिक रूप से अपने समकक्ष नहीं मान पाती हैं।''[92] बेड़नी समाज में स्त्री की पीड़ा अन्य समाज की स्त्री से अलग होती है। इस समाज में पुरुष बेड़नी स्त्री को अपनी रखैल बना कर रखते हैं और इन्हीं बेड़नी को उत्सव के समय उनके घरों में नाच-गान भी करना पड़ता है। यह कितना दुखदायी होता है एक स्त्री के लिए अपने सौतन के घर में उसके सामने नाचना। बेड़नी समुदाय की स्त्री इस दंश को भी झेलती हैं। भारतीय समाज में देखा जाए तो सभी वर्ग की स्त्री किसी न किसी स्तर पर दमित और शोषित है क्योंकि भारतीय व्यवस्था पुरुष वर्चस्व की व्यवस्था है। इसलिए भारतीय समाज में आज भी स्त्री को विवाह से लेकर आर्थिक संबल के लिए कई तरह की कठिनाइयों की समाना करना पड़ता है। इस समाज में अगर एक स्त्री मां बनने वाली होती है तो उसे उस सुख से वंचित रहना पड़ता है। इस समाज में पुरुष द्वारा स्त्री से यह पूछा जाता है कि बच्चे का बाप वही है या कोई और है? डेलन सिंह कहता है ''ओह...तो तुम मां बनने वाली हो ! लेकिन इसका पिता तो मैं ही हूं न ?...तुम नहीं होते तो मैं तुमसे नहीं कहती...इस मामले में हम बेड़नी झूठ नहीं बोलती ! फुलवा ने कड़वाहट से भरकर कहा।''[93] स्त्री का जीवन कड़वेपन को सह कर ही पूरा होता है। जब कोई स्त्री अपने अधिकार की बात करती है तो घर के पुरुष से लेकर सामाजिक कार्यकर्ता तक को बुरा लगता है। सभी को यह लगता है कि स्त्री कैसे अपना मुंह खोल सकती है?

अनामिका के उपन्यास 'तिनका तिनके पास' में स्त्री मुक्ति का स्वर मौजूद है। यह उपन्यास कई अहम सवालों को रेखांकित करता है, जैसे स्त्री की मुक्ति 'साल्वेशन के तर्ज पर या 'लिबरेशन' के तर्ज पर होगी। इस उपन्यास की कहानी मुजफ्फरपुर के सदर अस्पताल की है। यह कृति अपने समय के स्त्री-जीवन के अव्यक्त सच को व्यक्त करती है। इस उपन्यास की प्रमुख स्त्री पात्र अवंतिका देवी, तारा और शिरीन हैं। इन स्त्रियों के द्वारा लेखिका कई सवाल उठाती हैं। वह

कहती है कि स्त्री शोषण के लिए मात्र पुरुष या कोई एक व्यक्ति दोषी नहीं है। बल्कि सामाजिक ढाँचे को बदलना चाहिए। अवंतिका देवी और तारा अपने जीवन अनुभव एक दूसरे से साझा करते हुए कहती हैं ''दोष समाज की पूर्वाग्रह गलित बनावट का है-किसी एक व्यक्ति का नहीं। बदलनी तो पूरी फिजाँ होगी, फिजाँ नफरत से नहीं बदलती है ! हर व्यक्ति में स्नेह करने लायक, कुछ न कुछ तो होता ही है, बंजर से बंजर मिट्टी हरियाली की संभावना से बिल्कुल खत्म नहीं होती।''[94] अनामिका की नायिका स्त्रीवादी दृष्टिकोण का निषेध करती है। सामान्य रूप से यह समझ बनी हुई है कि पुरुष को परास्त कर ही स्त्री मुक्ति संभव है। इसका कारण यह है कि स्त्री का दमन शोषण सिर्फ पुरुष द्वारा ही नहीं किया जाता है बल्कि पूरी पुरुषवादी व्यवस्था ही उसका शोषण दमन करता है। इस उपन्यास में एक 'पीच संस्था' का जिक्र है जो देह व्यापार का गढ़ है। इस संस्था के सहयोगी और होते हैं लेकिन इसकी मुख्य संचालिका एक स्त्री है। मतलब स्त्री भी स्त्रीत्व को नष्ट करने में सबल सहयोग कर रही है। संभव है कि वह भी कभी इस दुष्चक्र में फंसी हो और अब उसके भीतर की स्त्री शायद मर गई हो इसलिए वह भी यहां सहयोग कर रही है या केवल धन आकर्षण ही उसे स्त्री के स्त्रीत्व के नष्ट करने की प्रेरणा दे रहा है?

निष्कर्षः कहा जा सकता है कि स्त्री उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री-जीवन के विविध पक्षों को बहुत ही अच्छी तरीके से रेखांकित किया गया है। एक समय था जब स्त्री घर से बाहर नहीं निकलती थी आज वही स्त्री पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिला कर देश से लेकर विदेशों में अपनी पहचान बना रही है। स्त्री उपन्यासकार स्त्री-जीवन के हर एक पहलू को आज चित्रित कर रही हैं। बीसवीं शताब्दी के स्त्री-लेखन में अपना वर्चस्व बना रही हैं। पहले जिन मुद्दों पर पुरुष लिख रहे थे आज उन सभी मुद्दों पर स्त्री उपन्यासकार अपना स्याही उड़ेल रही हैं। कृष्णा सोबती से लेकर मैत्रेयी पुष्पा, नासिरा शर्मा, चित्रा मुदग्ल, मधु कांकड़ियां, अलका सरावगी, प्रभा खेतान आदि स्त्री उपन्यासकार स्त्री-जीवन के अनछुए पहलुओं को पकड़ रही हैं।

संदर्भ ग्रंथ

[1] जया जादवानी, अंदर के पानियों में कोई सपना कौपता है, पृष्ठ संख्या -18

[2] कमला भसीन, पितृसत्ता क्या है?, पृष्ठ संख्या-5

[3] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -154

[4] वही, पृष्ठ संख्या -114-115

[5] वही, पृष्ठ संख्या -124

[6] रोहिणी अग्रवाल, स्त्री लेखनःस्वप्न और संकल्प, पृष्ठ संख्या -280

[7] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -25-26

[8] रेखा कस्तवार, स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, पृष्ठ संख्या - 92-93

[9] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या - 128

[10] वही पृष्ठ संख्या -164

[11] वही, पृष्ठ संख्या -164

[12] चित्रा मुदग्ल, आवां, पृष्ठ संख्या -20

[13] वही पृष्ठ संख्या - 43

[14] वही पृष्ठ संख्या-419

[15] वही पृष्ठ संख्या-425

[16] शरद सिहं, पिछले पन्ने की औरतें, पृष्ठ संख्या -77

[17]मधु काँकरिया, सेज पर संस्कृति, पृष्ठ संख्या-50

[18] वही, पृष्ठ संख्या -51

[19]जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृष्ठ संख्या -19

[20] रमणिका गुप्ता, स्त्री विमर्शः कलम और कुदाल के बहाने, पृष्ठ संख्या -56

[21] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -49

[22] वही पृष्ठ संख्या -38

[23] अरविन्द जैन, औरत अस्तित्व और अस्मिता, पृष्ठ संख्या -54

[24] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या - 185

[25] चित्रा मुदग्ल, आवां, पृष्ठ संख्या -9

[26] रमणिका गुप्ता, स्त्री विमर्श कलम और कुदाल के बहाने, पृष्ठ संख्या -21

[27]अनिता भारती, स्त्रीकाल,अंकःदलित स्त्रीवाद,(सं)- पृष्ठ संख्या -66

[28] मैत्रेयी पुष्पा, सुनो मालिक सुनो, पृष्ठ संख्या -23

[29] प्रभा खेतान, अपने-अपने चेहरे, पृष्ठ संख्या -94

[30] कृष्णा सोबती, मित्रो मरजानी, पृष्ठ संख्या -84

[31] कथादेश, जुलाई 2003, पृष्ठ संख्या - 65

[32] चित्रा मुदग्ल, आवां, पृष्ठ संख्या -523

[33] सिमोन द बोउवार, स्त्री उपेक्षिता, पृष्ठ संख्या -178

[34] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या - 174

[35] अनामिका, तिनका तिनके पास, पृष्ठ संख्या -64

[36] तसलीमा नसरीन, औरत के हक में, पृष्ठ संख्या -191

[37] सिमोन द बोउवार, स्त्री उपेक्षिता, पृष्ठ संख्या -49

[38] चित्रा मुदग्ल, आवां, पृष्ठ संख्या -503

[39] वही, पृष्ठ संख्या 503

[40] वही, पृष्ठ संख्या -532

[41] वही, पृष्ठ संख्या -539

[42] वही, पृष्ठ संख्या -539

[43]प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -13

[44] वही, पृष्ठ संख्या -14

[45] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -191

[46] मधु कांकरिया, सेज पर संस्कृत, पृष्ठ संख्या -199

[47] वही, पृष्ठ संख्या-211

[48] वही, पृष्ठ स्ख्या -210

[49] वही, पृष्ठ संख्या-167

[50] शरद सिंह, पिछले पन्ने की औरतें, पृष्ठ संख्या -37

[51] रमणिका गुप्ता, स्त्री विमर्शः कलम और कुदाल के बहाने, पृष्ठ संख्या -22

[52] वही, पृष्ठ संख्या -13

[53] शरद सिंह, पिछले पन्ने की औरतें, पृष्ठ संख्या -259

[54] कुमुद शर्मा, आधी दुनिया का सच, पृष्ठ संख्या -60

[55] डॉ. बी. आर. आंबेडकर, भारतीय नारी के उद्धारक, पृष्ठ संख्या -48

[56]तुलसीदास, रामचरित मानस, पृष्ठ संख्या - 78

[57] अरविन्द जैन, औरत अस्तित्व और अस्मिता, पृष्ठ संख्या -54

[58] वही, पृष्ठ संख्या -55

[59] अरविन्द जैन, न्याय क्षेत्रः अन्याय क्षेत्र, पृष्ठ संख्या -87

[60]अलका सरावगी, शेष कदाम्बरी, पृष्ठ संख्या -78

[61] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या - 13

[62] वही, पृष्ठ संख्या -14

[63] वही, पृष्ठ संख्या - 10

[64] वही. पृष्ठ संख्या - 11

[65]वही, पृष्ठ संख्या -13

[66] वही, पृष्ठ संख्या -13

[67] तसलामा नसरीन, औरत के हक में, पृष्ठ संख्या -69

[68] चित्रामुदग्ल, आवा, पृष्ठ संख्या -20

[69] तसलीमा नसरीन, औरत के हक में, पृष्ठ संख्या -82

[70] शशिकला त्रिपाठी, उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री, पृष्ठ संख्या -80

[71] मृणाल पाण्डे, स्त्रीःदेह की राजनीति से देश की राजनीति तक, पृष्ठ संख्या-84

[72]रमणिका गुप्ता, स्त्री-मुक्तिः संघर्ष और इतिहास, पृष्ठ संख्या -48

[73]रमणिका गुप्ता, स्त्री विमर्श कलम और कुदाल के बहाने, पृष्ठ संख्या -25

[74]मधु कांकरिया, सेज पर संस्कृति, पृष्ठ संख्या -64-65

[75] वही, पृष्ठ संख्या -197

[76] वही, पृष्ठ संख्या -198

[77] वही, पृष्ठ संख्या -211

[78] वही, पृष्ठ संख्या -217

[79] रमणिका गुप्ता, स्त्री-मुक्तिः संघर्ष और इतिहास, पृष्ठ संख्या-48

[80]चित्रा मुद्गल, आवां, पृष्ठ संख्या-399

[81] वही पृष्ठ संख्या -399

[82] रमणिका गुप्ता, स्त्री विमर्शः कलम और कुदाल के बहाने, पृष्ठ संख्या-12

[83] शशिकला त्रिपाठी, उत्तरशती के उपन्यास में स्त्री, पृष्ठ संख्या-प्रस्तावना

[84] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -159

[85] वही, पृष्ठ संख्या -160

[86] वही, पृष्ठ संख्या -172

[87] वही, पृष्ठ संख्या -16

[88] वही, पृष्ठ संख्या -72

[89] वही, पृष्ठ संख्या -7

[90] वही पृष्ठ संख्या -100

[91] वही, पृष्ठ संख्या -299

[92] वही, पृष्ठ संख्या -225

[93] वही, पृष्ठ संख्या - 80

[94] अनामिका, तिनका तिनके पास, पृष्ठ संख्या- 259

अध्याय - 5

स्त्री और पुरुष उपन्यासकारों का दृष्टि-भेद: स्त्री-जीवन के संदर्भ में

5.1. दैहिक स्वतंत्रता तथा यौन मुक्ति

5.2. प्रेम, विवाह, पारिवारिक जीवन का चित्रण

5.3. आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न

5.4. स्त्री-जीवन का मानसिक पक्ष

5.5. स्त्री संघर्ष और मुक्ति के सवाल

स्त्री और पुरुष उपन्यासकारों का दृष्टि-भेदः स्त्री-जीवन के संदर्भ में

सामाजिक परिवेश और भौतिक परिस्थितियां मनुष्य की चेतना को विकसित करता है। मनुष्य के विचारों का निर्माण और विकास अतीत, वर्तमान और भविष्य के परिप्रेक्ष्य में होता है। एक बहुत ही प्रसिद्ध कथन है कि वाद-विवाद और संवाद (थीसिस-एन्टीथीसिस-सिंथीसिस) से होकर ही मनुष्य की चेतना वह स्वरूप ले पाती है जिसे वह मुकम्मल बनाता है। कोई भी रचनाकार उन परिस्थितियों से मुक्त नहीं हो पाता है जिसे वह अतीत में जिया है। इसी तरह पुरुषत्व और स्त्रीत्व उन्हीं परिस्थितियों की देन है जो हमारे संपूर्ण जीवनदृष्टि को संचालित करते हैं। अनुभव जीवन में लिए गए अहम् फैसलों से आता है जो कि परिस्थितियों के अनुसार सही या गलत होता है। इसी आधार पर मनुष्य की जो चेतना अथवा विवेक विकसित होती है वह जीवन दृष्टि कहलाती है।

चंद्रा सदायत भारतीय संदर्भ में स्त्री-दृष्टि की महत्ता स्थापित करते हुए लिखती हैं ''भारत जैसे एक परंपराबद्ध समाज में सत्ता, शास्त्र, लोकमत और पुरुष की अधीनता में जीती स्त्री को अपने व्यक्तित्व तथा अस्तित्व की स्वतंत्रता के लिए जैसा कठिन संघर्ष करना पड़ता है उसे पुरुष दृष्टि से नहीं पहचाना जा सकता।''[1] स्त्री लेखन हिन्दी में पुरुष लेखन से पीछे क्यों है? इस पर पड़ने वाले प्रभावों की मीमांसा करते हुए चंद्रा सदायत लिखती हैं ''आज भी हिन्दी समाज में स्त्री की स्वाधीनता अत्यंत सीमित है। जिसका प्रभाव हिन्दी के स्त्री-लेखन पर पड़ रहा है। लेखन का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश रचनाकार का दृष्टि ही नहीं अभिव्यक्ति के रूप को भी प्रभावित करता है। हिन्दी के स्त्री-लेखन के विषय के चुनाव के दायरे का सीमित होना इसी बात की ओर संकेत करता है। अभी हिन्दी में सहज और स्वतंत्र लेखन के उपयुक्त भाषा का भी विकास नहीं हुआ है।''[2] डॉ. प्रभा खेतान ने सबसे पहले पुरुष एवं स्त्री की भिन्न दृष्टियों की ओर ध्यान खींचा। प्रभा खेतान ने ''दो उपन्यास और नारी का आत्म संघर्ष'' शीर्षक निबंध में स्त्री एवं पुरुष के बीच में दृष्टिकोणगत अंतर को स्वीकार किया साथ ही कुछ उलझन पैदा करने वाली बातें भी कही हैं। वह लिखती हैं, ''स्त्री लेखन और पुरुष लेखन में फर्क होता है और रहेगा...क्योंकि स्त्री और पुरुष आज भी इस पितृसत्तात्मक समाज में जैविक, आर्थिक, सामाजिक धरातल पर भिन्न हैं।''[3] समकालीन उपन्यासों में भी स्त्री पुरुष के उपन्यासों में स्त्री-जीवन से संबंधित दृष्टि में अंतर दिखता है।

स्त्री और पुरुष दोनों का जीवन अनुभव अलग होता है क्योंकि सामाजिक परिवेश दोनों के अलग होते हैं। स्त्री-जीवन के संबंध में स्त्री और पुरुष उपन्यासकारों का दृष्टि-भेद तो हो ही सकता है। कहीं कहीं स्त्री-पुरुष उपन्यासकार का दृष्टिकोण समान भी होता है। समानता और असमानता दोनों के लेखन में देखी जा सकती है। स्त्रियों का समाज देखने का नजरिया अलग होता है क्योंकि स्त्रियाँ ज्यादातर घर में रहती हैं। यह अलग बात है कि जो स्त्रियाँ पढ़-लिख रही हैं उनके लिए समाज देखने का नजरिया बदला है लेकिन पितृसत्तात्मक समाज स्त्री को उतनी छूट नहीं देता है। पुरुष को बाहरी दुनिया देखने का अवसर ज्यादा मिलता है। सीमोन लिखती हैं 'स्त्री पैदा नहीं होती है उसे बनाया जाता है।' उसी तरह पुरुष के संदर्भ में भी है पुरुष पैदा नहीं होता है बल्कि समाज उसे सिखाता है कि वह पुरुष है और स्त्री से ज्यादा ताकतवर है। जब एक छोटा लड़का रोता है तो मां कहती है क्यों लड़की की तरह रो रहे हो बचपन से लड़का और लड़की में भेद करना सिखाया जाता है। इस तरह दोनों के परिवेश जब अलग हैं तो जीवन जीने का तरीका भी अलग होगा। जब दोनों के जीवन जीने का तरीका अलग होगा तो दृष्टि भी अलग ही होगी और लेखन पर रचनाकार के जीवन दृष्टि का प्रभाव भी पड़ेग। शंभुनाथ का कहना है ''स्त्री जब उपन्यास लिखती है, उपन्यास में स्त्री की आवाज होती है। वह अपनी नजर से राष्ट्र, आधुनिकता और बुद्धिवाद को देखती है। स्त्री के उपन्यास में बाहरी दुनिया के अलावा स्त्री का अपना खास वैयक्तिक परिवेश और अनुभव होता है।[4]'' शंभुनाथ जी का यह कथन विचारणीय है क्योंकि स्त्री जब लिखती है तो वह उसके जीवन का अपना अनुभव होता है। पीड़ा होती है जिसे वह खुद भोगती है। स्त्री के लेखन में स्त्री का सच होता है। इसी संदर्भ में डॉ ज्योति किरण का कथन है ''स्त्री के पक्ष में पुरुषों का लेखन आदर्शवाद है, यथार्थ की खोज है लेकिन अपने पक्ष में, अपने हक में स्त्री का लेखन उसका अपना यथार्थ है, एक सच्चाई है जिससे ताजिंदगी वह रू-ब-रू होती है, एक अहसास है जिसमें वह जीती है, जिसे वह झेलती है। जाहिर है आदर्श की तुलना में यथार्थ की जड़ें हमेशा मजबूत और तल्ख हुआ करती हैं। पितृसत्तात्मक सोच और संस्कृति के बीच महिला लेखन स्थापित परंपरा से परे जाकर अपने व्यक्तित्व की तलाश और पहचान भी है और इस तलाश में जो तपिश, पीड़ा, दर्द, अनुभूति और उपलब्धि है, उसकी व्यापक अभिव्यक्ति समकालीन महिला उपन्यासकारों के उपन्यासों में दर्ज हुई है।''[5] समकालीन समय में स्त्रियों का उपन्यास लेखन जिस मुकाम पर पहुँचा है, वह गुणवता के आधार पर अत्यधिक समृद्ध है। जब हम दृष्टि-भेद की बात करते हैं तो स्त्री लेखन और पुरुष लेखन में अंतर तो होता ही है। स्त्री जब अपनी पीड़ा को लिखती है तो वह उसका अपने जीवन का भोगा हुआ यथार्थ होता है। पुरुष उस पीड़ा को अपने परिवार की स्त्रियों या आस-पास के स्त्रियों की पीड़ा को देखकर या अनुभव करके लिखता है।

सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि इस उपन्यास में पुरुष मानसिकता तो कहीं हावी नहीं है क्योंकि जब हम स्त्री लेखिका प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल, मृर्दुला गर्ग, नासिरा शर्मा आदि के लेखन को पढ़ते हैं तो हम देख सकते हैं कि उनके यहां यौन उत्पीड़न एक गंभीर समस्या के रूप में चित्रित होता है जो कि सामाजिक यथार्थ है। सामाजिक रूप से सबसे ज्यादा स्त्रियाँ यौन शोषण का शिकार होती हैं। इसी सवाल को लेकर डॉ. शशिकला त्रिपाठी 'मुझे चांद चाहिए' पर टिप्पणी करती हैं ''फिर वर्षा वशिष्ठ के गैरपारम्परिक आचार-विचार भरे जीवन में सुरक्षा की चारदीवारी कैसे खड़ी है ? एक लड़की होने के नाते परिजनों से दूर उसे कभी 'मादा' या 'वस्तु' की दृष्टि से नहीं देखा गया। अभिनय का क्षेत्र इतना निरापद और सहयोग परक होता है ? क्या समाज स्त्री के प्रति हमेशा इतना सहृदय है ? पुरुष वर्चस्व समाज के प्रति विद्रोह उसे पिता के घर ही में करना पड़ता है। घर के बाहर नहीं। ऐसा क्यों? दूसरा सवाल यह कि लेखक कहीं रीतिकालीन कवियों की-सी मानसिकता से ग्रसित नहीं है ?''[6] क्योंकि सिलबिल घर से बाहर सुरक्षित रहती है। यौन उत्पीड़न का शिकार नहीं होती है। संघर्ष करती है। घर के बाहर का माहौल उसके जीवन जीने के लिए अनुकूल रहता है। दूसरा यह भी कि सुरेन्द्र वर्मा पूरे उपन्यास में एक स्त्री को स्थापित करते हैं। वह उपन्यास के शुरुआत में ही सिलबिल से अपने नाम को लेकर विद्रोह करवाते हैं। एक तरह से देखा जाए तो सिलबिल परंपरा से विद्रोह करती है। पूरा जीवन संघर्ष करती है और अपने को एक अच्छे मुकाम पर पहुँचाती है। जबकि 'आवां' की नमिता घर से बाहर नौकरी के लिए जाती है तो वहां 'पिता तुल्य' अन्ना साहब से यौन शोषण होते- होते बचती है। वहां नमिता को समझ में आता है कि घर के बाहर 'पिता तुल्य' लोग पिता नहीं होते बल्कि पुरुष होते हैं। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया भी घर से लेकर बाहर कॉलेज में पढ़ाने वाले शिक्षक के द्वारा यौन-शोषण का शिकार होती है। मैत्रेयी पुष्पा का कहना है ''लड़की का शोषण अबोध बचपन से ही सैक्स के जरिए पुरुष करता है।''[7] एक स्त्री बचपन से पुरुष की निगाह में 'भोग की वस्तु' होती है। डॉ. राममनोहर लोहिया का कहना है कि ''लिंग-भेद समाज का सबसे बड़ा अन्याय है। स्त्री भी समाज में दलित है। वह किसी भी जाति, धर्म या वर्ग की क्यों न हो। पति का घर उसके लिए 'यातना गृह' भी होता है।''[8] पितृसतात्मक व्यवस्था की देन है कि स्त्री चाहे घर की चहारदीवारी में रहे या बाहर रहे शोषण का शिकार तो होती ही है। स्त्री का शोषण उसके घर से लेकर बाहर तक के लोग करते हैं। स्वस्थ आलोचना या विमर्श करते समय हमें यह नकारात्मक सोच को खत्म करना होगा कि संबंधित समाज से संबंद्ध (स्त्री, पुरुष, दलित,आदिवासी) व्यक्ति ही सही या उचित अभिव्यक्ति अपने समाज का कर सकता है।

स्त्री जीवन से संबंधित मुद्दों पर, स्त्री और पुरुष उपन्यासकारों के दृष्टि की बात करें तो अंतर तो दोनों में दिखता है। कई ऐसे उपन्यास है जहाँ स्त्री-जीवन की अभिव्यक्ति पुरुष रचनाकारों ने

ज्यादा अच्छे तरीके से किया है । उदाहरण के तौर पर विष्णु प्रभाकर द्वारा रचित उपन्यास 'अर्द्धनारीश्वर' को हम देख सकते हैं। इस उपन्यास में बलात्कार के बाद स्त्री पीड़ा और सामाजिक दंश को दिखाया गया है। 'मुझे चांद चाहिए' में भी एक स्वतंत्र स्त्री की छवि है। सिलबिल अपने घर से संघर्ष करना शुरू करती और पितृसत्तात्मक समाज को बराबर चुनौती देती रहती है।

5.1.दैहिक स्वतंत्रता तथा यौन- मुक्ति

''स्त्री समाज रचती है और समाज स्त्री को रचता है जिन्हें वह गर्भ में पालकर दुनिया में लाती है, जिन्हें वह उंगली पकड़कर चलना सिखाती है, वही उसके चाल-चलन का हिसाब रखने लगते हैं। यह स्त्री की नियती है। स्त्री प्रेम है, स्त्री विश्वास है, स्त्री शक्ति है, स्त्री संयम है। यही प्रेम अगर स्त्री खुद को करने लगती है तो वह गलत है, यही विश्वास अगर उसका अपने ऊपर हो तो वह गलत है, यही धैर्य वह मुश्किलों से लड़ने के लिए इस्तेमाल करे और हर मुश्किलों से लड़कर खड़ी हो जाए तो वह बहुत ही गलत है। समाज ने स्त्री को देह माना और उसकी देह पर शिकंजे कस दिए।''[9] पुरुष समाज और सत्ता का संचालक बन बैठा है जिसमें वह समाज के सभी पायदानों के साथ-साथ स्त्री और पुरुष संबंध, व्यवहार इत्यादि की भी नियंत्रित करता आया है । यह पितृसत्तात्मक समाज की देन रही है। ऐसे समाज में स्त्रियों की क्या स्थिति रही होगी यह एक अलग विमर्श तथा शोध की मांग करता है ?

वर्तमान में स्त्री रचनाकारों द्वारा जो भी साहित्य लिखा जा रहा है वहां देह की आजादी उसके बीजतत्व के रूप में दिखाई पड़ता है। स्त्री-पुरुष की बराबरी को नारीवादी लेखिका देह की आजादी से ही निर्धारित करती है। इस प्रसंग में शंभुनाथ का मानना है कि ''स्त्री को समाज में पुरुष की तरह एक पूर्ण व्यक्ति की हैसियत मिले, इसके लिए स्त्री को देह की स्वतंत्रता चाहिए, यह स्त्रीवादी आंदोलनों की एक प्रमुख माँग है।''[10] दैहिक आजादी का मतलब उन बंदिशों से मुक्ति है जिनसे नारी देह सदियों से बंधी रही है। फिर वह दैहिक शोषण हो या यौन शोषण। समकालीन स्त्री लेखिका दैहिक आजादी तथा यौन मुक्ति से जुड़े सवालों पर अपनी स्याही उड़ेल रही हैं। जहाँ कुछ लेखिकाओं का मानना है कि यौन मुक्ति ही दैहिक मुक्ति है। जबकि कई का मानना है कि यौन मुक्ति होने से स्त्री दैहिक मुक्ति नहीं पा सकती है बल्कि उसे अन्य कई स्तरों पर भी आजाद होना होगा। दूसरी बात यह है कि देह की आजादी हर वर्ग की स्त्री के लिए अलग-अलग होता है। जहाँ समाज के उच्च वर्ग की स्त्री के लिए इसका अर्थ यौनिक आजादी से माना जाता है, वहीं समाज के मध्यवर्गीय स्त्री के लिए यौन-शोषण और शारीरिक आघात से मुक्ति ही दैहिक आजादी है लेकिन जब समाज के निम्न वर्ग की स्त्री की बात करते हैं तो हम देखते हैं कि उनके लिए यौन मुक्ति कोई महत्व नहीं रखती है क्योंकि इस समाज की स्त्री नैतिकता के आवरण तले दबी नहीं

होती बावजूद इसके इस समाज की स्त्री भी शारीरिक और यौन हिंसा का शिकार होती है। विगत कुछ समय से स्त्री मुक्ति के अनेक प्रश्नों के मध्य देह विमर्श एक मुद्दे के रूप में हमारे सामने आया है। आज भी समाज में कई स्त्री दहेज के लिए जलाई जाती है तो कई के साथ यौन-उत्पीड़न हो रहा है। स्त्री के साथ शारीरिक हिंसा की कहानी दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। प्रश्न यह है कि इन सारे समस्या से स्त्री कब आजाद होगी? क्या आर्थिक रूप से निर्भर या शिक्षित होने से स्त्रियों को इस तरह की शोषण से मुक्ति मिल जाएगी ? नहीं, क्योंकि जब तक समाज का हर वर्ग या हर जाति के लोग मानसिक रूप से सुढ़ृढ या शिक्षित नहीं होगें, स्त्री को जब तक एक लिंग या जाति से ऊपर नहीं आँका जाएगा। यह संभव ही नहीं है। आज हमें इस पारंपरिक ढ़ाँचे को बदलकर एक स्त्री को इंसान के रूप में देखने की आवश्यकता है।

दैहिक आजादी की बात करते समय हमें यह देखने की जरूरत पड़ेगी कि स्त्री और पुरुष रचनाकारों ने इस मुद्दे को किस ढंग से उठाया है और दोनों में किस तरह के अंतर जिखते हैं। 'चाक' उपन्यास में मैत्रेयी पुष्पा श्रीधर के हवाले से कहती है ''औरत से पहले आदमी को ज्ञान देना होगा। उसके संस्कारों को प्रकाश की दुनिया में ले जाने का जोखिम उठाना होगा।''[11] स्त्री की हैसियत समाज में प्रारंभ से दोयम दर्जे की रही है। स्त्री की यह स्थिति सामाजिक संरचना के कारण है जो पुरुषों द्वारा निर्मित संस्कारों तले दबी हैं। यह संस्कार तभी खत्म होगा जब स्त्री-पुरुष के बीच समाज में व्याप्त भेद-भाव खत्म होगा तब जाकर स्त्री स्वच्छंद वातावरण में विचरण कर सकती है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'चाक' में एक नए स्त्री को निर्मित किया है जो पारंपरिक स्त्री से भिन्न दिखती है। मैत्रेयी पुष्पा के यहाँ देह विमर्श में उम्र भी मायने नहीं रखता एक दृश्य के माध्यम से इसका अंदाजा लगाया जा सकता है, जब कलावती चाची पहलवान की मर्दानी को फिर से जीवित कर देती हैं ''लाज लिहाज त्याग कर दो। उम्र का भेद नहीं रह गया हमारे बीच। इस घड़ी तुम मर्द और मैं बेयर...सारंग, जो काम उस नासिया को करने थे, सो मैंने किए। मरी मरदानी को हाथ फेर-फेरकर चेतन किया और तुरंत ही अपने लत्त खोल के एक ओर पटक दिए। जता दिया, समझा दिया कि मेरा कुछ नहीं बिगड़ा जाता। और फिर ये तो देह रहते के खेल हैं रे। पाप-पुन्न मत सोचना। लल्लू बड़ी देर से निरदन्द भए, पर जब निरदन्द हो गए तो समझ ले कि मेरी आंखों के अगारी पूरे पुरख होकर ठाड़े हो गए। मैंने उस लल्लू को छाती से चिपकाकर, हार और जीत के आनन्द में डुबों लिया। रस ही रस फिर तो। ऐ मेरे भगमान, ऐसा दिन भी आया था मेरी जिन्दगानी में? सुरगसैनी चढ़ गयी मैं तो। अखीर में खुशी के मारे केलासी सिंह ने मेरे पांव पकड़ लिये।''[12] मैत्रेयी पुष्पा के स्त्री पात्र सामाजिक प्रतिमानों को तोड़ती नजर आती हैं और स्त्री यौनिकता का आनन्द अपने मन के अनुसार लेती हैं। इस तरह से हम देख सकते हैं कि स्त्री साहित्यकारों के लेखन में दैहिक स्वतंत्रता केन्द्र में है। मैत्रेयी पुष्पा के लेखन में स्त्री देह की स्वतंत्रता अपना अस्तित्व रखती हैं।

'आवां', 'कठगुलाब' की स्त्री पात्र भी इसी तरह दैहिक रूप से स्वतंत्र हैं। 'आवां' में नमिता गौतमी के हवाले से कहती है ''बहुत कुछ मालूम पड़ गया होगा तुम्हें शायद ! शेष मैं बताए दे रही हूं। मां के अलावा मेरा एक अदद पति है --नाम है अशोक। ठीक उसी तरह जिस तरह घर में अलमारी है, फ्रीज है, वाशिंग मशीन है, डिशवाशर है। जितना वो मेरे लिए काम आती हैं, बदले में मैं उनकी देखभाल करती हूं, सोना चाहती हूं, सोती भी हूं या नहीं सोती हूं --कोई मतलब नहीं उससे! घर मेरा है, अशोक को रहना है, रहे, न रहना हो, छोड़कर चला जाए।''[13] गौतमी के इस वाक्य में स्त्री की अपनी स्वतंत्रता का अधिकार दिखता है लेकिन इस तरह के विचार रिश्तों को तोड़ते भी हैं जो एक अदद पति-पत्नी के संबंधों में खलल भी है। इससे रिश्ते टिकाऊ नहीं होते। 'आवां' उपन्यास की एक पात्र स्मिता है जो अपने प्रेमी को छोड़कर दूसरे पुरुष से संबंध बनाती है।

''विक्रम...विक्रम कौन?''
मेरा नया दोस्त! बहुत दिनों से तुमसे बात ही कहाँ हुई।
शरद से मित्रता खत्म?
खत्म ही समझ। बेवकूफ है साआSSला जाहिल... ।''[14]

इसी तरह 'आवां' में स्मिता अपने पिता मटका किंग के गलत हरकतों से पुरुषों की कुत्सित मानसिकता और अत्याचारी रूप को समझ गयी है। जिसके कारण वह सभी पुरुषों का इस्तेमाल करती है। किन्तु सवाल यह है कि क्या एक स्त्री को पुरुष से बदला लेने के लिए उसका पुरुषों की तरह ही व्यवहार किया जाना या उनकी ही नीतियों को अपनाकर उन्हें परास्त करना उचित है। संबंध बनाना और छोड़ना, यह स्त्री को कहाँ ले जाएगा और रिश्तों की ऊष्मा को बचा पाने में कितना मददगार सिद्ध होगा, कहना कठिन है। पुरुष की चाल को अपना कर उन्हीं के रास्तों पर चलना कहाँ की समझदारी है? स्त्री लेखन के लिए एक बड़ा सवाल है ? क्या कोई यौन-संबंध सिर्फ देह के भोगने और छोड़ने के लिए होता है? या फिर किसी स्वस्थ वातावरण और समाज की कल्पना भी संभव है ? जिसमें यौन-संबंध विकृति की तरह न पैदा हो? जिसका चलन आज के युवाओं, स्त्री-पुरुषों में बढ़ता जा रहा है। देह पर अधिकार और यौन मुक्ति के सवाल क्या स्त्री को वास्तव में अपने विषय में सोचने और निर्णय ले पाने में सही सिद्ध हो रहे हैं? अगर ऐसा हो तो नमिता जैसी स्त्रियाँ क्यों संजय कनोई के प्रेम और आकर्षण में फंसकर निर्णय नहीं कर पाती कि उन्हें वास्तव में किसके साथ जिन्दगी बितानी है? 'मुझे चांद चाहिए' में सुरेन्द्र वर्मा भी दैहिक स्वत्रंता की बात करते हैं। इस उपन्यास में वर्षा वशिष्ट का विवाह से पूर्व हर्ष के साथ संबंध होता है। यहां तक की वर्षा हर्ष की मृत्यु के बाद मां भी बनने की फैसला लेती है। यहाँ सुरेन्द्र वर्मा दैहिक स्वतंत्रता की बात तो करते हैं लेकिन वर्षा को परंपरा में बांध कर रखते हैं। यह भी दिखाते हैं कि वर्षा बहुत ही बोल्ड है। जो विद्रोह करके अपने मन के अनुसार काम करती है। बिना विवाह के

हर्ष के साथ रहती है। आर्थिक रूप से मजबूत होने के कारण वर्षा को समाज कुछ नहीं कहता यहाँ तक की पिता भी नहीं।

'आवां' में चित्रा मुद्गल ने नमिता पाण्डे को केन्द्र में रखकर समाज के हर वर्ग की स्त्री जो अपने जीवन में विभिन्न परिस्थितियों से जूझ रही है का चित्रण किया है। ये स्त्रियाँ समाज में वर्चस्वशाली पितृसत्तात्मक समाज के शोषण का शिकार है और उसी पितृसत्तात्मक चालों को चलते हुए एक स्त्री द्वारा स्त्री छलि जाती है। जिसका सबसे बड़ा उदाहरण नमिता है। अंजना वासवानी जो संजय कनोई के कहने पर नमिता को अपने आभूषण व्यापार की प्रदर्शनी के लिए मॉडल के रूप में चुनती है। जहाँ उसको आर्थिक संबल देकर उसका सर्वस्व लूटने की कोशिश की जाती है। स्त्री का शारीरिक शोषण सबसे पहले परिवार से शुरू होता है। भारतीय समाज में 90 प्रतिशत स्त्रियाँ अपने परिवारिक जनों द्वारा यौन-शोषण का शिकार होती है। इस समस्या को स्त्री उपन्यासकार ने बहुत ही अच्छी तरीके से रेखांकित किया है। प्रभा खेतान पहली ऐसी स्त्री लेखिका है जिन्होंने अपने उपन्यास में बाल यौन शोषण का जिक्र किया है। 'छिन्नमस्ता' में प्रभा खेतान लिखती हैं '' अरी दइया री, ई का भइल ? इ खून कहाँ से ? अभई तो दसवाँ बरस लगा है...अरे भगवान ! हमार बिटिया का ई का किए ? दाई माँ ! यह अम्मावाला खून नहीं है, वह जो हर महीने होता है ! तब ? दाई माँ की आवाज में दहशत थी। बड़े भैया ने आज मुझे... अरे जालिम , अरे कसाई, अपन सगी बहन को भी नहीं छोड़ा ! हम तो ओकर हाल सब जानत हई। बहूजी का डर से कुछ बोला नहीं जात। दाई माँ ! भैया ने यह क्यों किया ? मैं नहीं चाहती थी दाई मां, विश्वास करो। मना करने पर उन्होंने ऐसे जोर से थप्पड़ मारा कि...दाई माँ ! मैं अम्मा से बोलूँगी, जरूर बोलूँगी। अरी मोर बिटिया, नाहीं ! तोहार क्वारपन खतम हो गईल...कच्ची कली... नाहीं बिटिया, नाहीं ई बात किसी से भी कभी जिन कहियो।''[15] क्या इस तरह की घटनाओं का वर्णन किसी पुरुष उपन्यासकारों के उपन्यासों में मिलता है ? 1990 के बाद के उपन्यासों का अवलोकन करें तो हम पाते हैं कि स्त्री उपन्यासकार इस दशक में ज्यादा सशक्त हुईं और स्त्री-जीवन से संबंधित समस्याओं पर अपनी स्याही उड़ेलने लगीं। स्त्री उपन्यासकारों के यहां यौन समस्या एक गंभीर समस्या के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

विष्णु प्रभाकर के उपन्यास 'अर्द्धनारीश्वर' में बलात्कार की समस्या का चित्रण मिलता है। बलात्कार के बाद की मानसिक स्थिति का बहुत ही मार्मिक चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। अपने परिवार के द्वारा यौन शोषण का चित्रण किसी पुरुष उपन्यासकार के उपन्यासों में नहीं मिलता है। अमरकांत के उपन्यास 'सुन्नर पांडे की पतोह' में कुछ इस तरह के दृश्य हैं जहाँ बचपन में राजलक्ष्मी के साथ शारीरिक शोषण उसके मौसा करने की सोचते हैं। '' पचकौड़ी तिवारी के जाते ही माहेश्वर पांडेय के दिल में एक शैतान अचानक भयावह और विशाल आकार धारण करने लगा।

अथवा पहले से ही वह शैतान उनके अन्दर विद्यमान था? वह धीरे से किसी चोर की तरह दालान के अंदर चले गए, भीतर से दरवाजा बंद कर लिया और चुपके से उस कोठरी के दरवाजे पर जाकर खड़े हो गए, जिसमें राजलक्ष्मी सोई थी। वह गंभीर निद्रा में थी और निःशब्द सो रही थी। दरवाजा पहले से ही खुला था। राजलक्ष्मी एकदम बच्ची थी, निर्दोष व अनजान, पर माहेश्वर पांडेय की हैवानियत खूँटा तोड़कर बेतहाशा दौड़ने लगी। वह धीरे-धीरे बढ़कर चारपाई के पास खड़े हो गए। फिर झुककर उन्होंने एक हाथ राजलक्ष्मी की गर्दन के नीचे डाल दिया और दूसरा हाथ उसके पैरों के नीचे। अंत में जोर लगाकर उठाने लगे। पर वह दुबले थे और राजलक्ष्मी तगड़ी, इसलिए पहले प्रयास में वह न उठी। फिर और झुककर काफी जोर लगाकर उसे उठाने लगे। वह उठ जाती, पर उसके पहले ही उसकी नींद टूट गई। पहले तो वह कुछ समझ न सकी, लेकिन जब माहेश्वर पांडेय का चेहरा उसने पहचाना लिया तो उसके मुंह से एक चीख निकली गई- 'अरे माई ?' माहेश्वर पांडेय ने डर के मारे उसे छोड़ दिया और सीधे खड़े हो गए। वह कुछ बोलें-पुचकारें, उसके पहले ही राजलक्ष्मी अपने दोनों पैर व हाथ तेजी से पटकने लगी। माहेश्वर पांडेय ने इसकी कल्पना न की थी। वह बेहद डर गए और वहाँ से खिसककर दरवाजे के पास जाकर खड़े हो गए। तब राजलक्ष्मी ने पैर पटकना बंद कर दिया। वह देर तक निश्चेट पड़ी रही तो उनकी हैवानियत फिर सक्रिय हुई। वह राजलक्ष्मी की चारपाई की ओर फिर बढ़े –और ज्यों ही बढ़े कि राजलक्ष्मी ने फिर हाथ-पैर पटकने शुरू किए। इस तरह उन्होंने दो बार और साहस किया और आखिरी बार राजलक्ष्मी ने इतने जोर-जोर से हाथ-पैर पटके कि उनकी रही-सही हिम्मत हिरन हो गई। राजलक्ष्मी का चेहरा बेहद गम्भीर हो गया था।''[16] अमरकांत राजलक्ष्मी के रूप में एक सशक्त स्त्री की छवि को गढ़े हैं। जो अपनी रक्षा स्वयं करती है। उसके मौसा यानी माहेश्वर पांडे शुरू से लम्पट थे। उसकी मां सुरसती उसके बारे में कहती है कि जब तक उसकी बहन जिन्दा रही काफी हद तक माहेश्वर पांडे नियंत्रण में रहे लेकिन बहन की मृत्यु के बाद से माहेश्वर पांडे की लम्पटई चरम पर पहुँच गई थी जिसके कारण बेटों ने मार-पीटकर घर से भगा दिया था। पुरुष उपन्यासकार के यहां भी स्त्री-जीवन के कई पहलू को चित्रित किया गया है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया अपने सगे भाई द्वारा तब तक बलात्कार सहती है जब तक वह अपने आत्महत्या की धमकी नहीं देती। 'सुन्नर पांडे की पतोह' इस मायने में भिन्न है कि यहां एक तो बलात्कार की संभावना बनती है लेकिन बलात्कार नहीं होता। दूसरी तरफ परिवार के मध्य इस घटना को छिपाया नहीं जाता है। अमरकांत हमारा ध्यान जिस समस्या की आकृष्ट करना चाहते हैं वह है बलात्कार के भय से तथा उसके बाद बाहर बदनामी होने के डर से बेटी का जल्दी विवाह करने की सोचना। कहा जाता की लड़की बड़ी नहीं हुई कि उसकी शादी के लिए सोचा जाता है।

इस उपन्यास का एक और दृश्य राजलक्ष्मी की शादी के बाद का है । जब उसका ससुर उसको कुदृष्टि से देखता है । तब अतिराजी (सास) अपने पति से कहती है ''अरे जाइए न -- आप भी बहती गंगा में हाथ धो आइए! अतिराजी हँसते हुए कह रही थी ।...आप जाइए न--कहने पर दरवाजा खोल देगी । पता नहीं कौन-कौन तो आते रहते हैं दिन-रात । मैं कहाँ तक देखती रहूँगी ? जाइए , जाइए-- अभी जवान है--आसानी से गोद में आ जाएगी, उठिए । मैं क्या कहूँगी-- मैं तो उसकी जवानी मिट्टी में मिला देना चाहती हूँ । सुन्नर पांडे उसका मन रखने के लिए चारपाई पर से उठ बैठे, फिर हँसते हुए लेट गए । वह अपनी कोठरी में लाठी की तरह तन गई, फिर तेजी से दरवाजा खोला और कोठरी से बाहर निकलकर आँगन में सास-ससुर के सामने खड़ी हो गई । उसकी आँखें आग बरस रही थीं । उसने दृढ़, अस्वाभाविक स्वर में कहाः मैं आप दोनों की बातें सुन चुकी हूँ । मैं नहीं जानती थी कि आप लोग इतना गिर जाएँगे । पर मैं कहे देती हूँ--मुझमें सती का तेज है । जिनके हाथों में मैंने अपना हाथ दिया था, उन्हीं के लिए मैं अभी जिन्दा हूँ । मैं अपने तेज से आप दोनों को भस्म कर सकती हूँ ।''[17] अमरकांत काफी बोल्ड छवि गढ़े हैं । वह इतना बोल्ड होती है कि किसी से भी भिड़ जाती है । पितृसत्तात्मक समाज में एक स्त्री अगर किसी से इस तरह की बातें कर रही है तो वह कहीं न कहीं पितृसत्ता को चुनौती दे रही है। 'आवां' में स्मिता अपने पिता द्वारा ही शारीरिक शोषण का शिकार होती है । वहां संभावना नहीं बल्कि शोषण होता है । गौतमी भी अपने सौतेले भाई द्वारा यौन-शोषित होती रहती है । गौतमी कहती है ''एक रात विनोद ने उससे प्रेम-निवेदन कर डाला । सौतेले भाई के अनपेक्षित व्यवहार से गौतमी स्तब्ध हो उठी । नाइटी के भीतर विनोद के जबरन रेंगते-मसलते हाथों से बचने के लिए बहुत संघर्ष किया, लेकिन बगल के पलंग पर सो रहे मनोज के जग जाने के भय से प्रतिवाद में कड़ा विरोध न कर सकी। भयभीत गौतमी ने रात को उठकर पढ़ना बंद कर दिया । मगर विनोद ने उसका पिंड न छोड़ा। स्वयं चाय बनाकर उसे उठाकर बैठा देता और पढ़ने के लिए विवश करता । क्षुब्ध गौतमी विनोद की काली करतूतों से मां को अवगत कराना चाहती थी, लेकिन आड़े आ खड़ा होता मां के जीवन का कष्टमय इतिहास! मां के उत्पीड़न की साक्षी बेटी ठिठक जाती । हाथ बंध जाते उसके । शिल्पकार पिता के साथ सुखमय जीवन व्यतीत कर रही मां के सौभाग्य पर मिट्टी का तेल उड़ेल तीली कैसे लगा दे? दुविधा में छटपटाती गौतमी ने एक रोज पाया कि दो महीने से न होने वाली जिस महावारी को वह देह की रक्ताल्पता के चलते उत्पन्न हुई अनियमितता माने बैठी थी, वह अनियमितता न होकर गर्भ-धारण की परिणति थी ।''[18] स्त्री उपन्यासकारों के उपन्यासों में शारीरिक शोषण की संभावना को नहीं दर्शाया जाता बल्कि शोषण घटित होता हुआ दिखाया गया है । स्त्री उपन्यासकार समाज के सच को पाठक के सामने रखती हैं ।

'आवां' में नमिता घर से बाहर अपना पैर रखती है तो शोषित होती है। यहां तक की प्रेम में भी छली जाती है। घर में भी अपने मौसा द्वारा शोषित होती है। चित्रा मुदग्ल समाज के भयावह सच को हमारे सामने रखती हैं। उसी तरह छिन्नमस्ता की प्रिया भी घर से लेकर बाहर तक छली जाती है। लेकिन जब हम पुरुषों द्वारा लिखित उपन्यास को पढ़ते हैं तो इस तरह की घटना सामने नहीं आती। 'मुझे चांद चाहिए' में वर्षा वशिष्ट अपने जीवन में आगे बढ़ने के लिए संघर्ष करती है। यहां सुरेन्द्र वर्मा ने एक सशक्त स्त्री की छवि को गढ़ा है लेकिन वह कहीं भी यौन शोषण का शिकार नहीं होती। नाट्यकर्मी से लेकर बाहर प्रेम करने वाले प्रेमी से भी। उसका प्रेमी हर्ष जीवन में असफल होने पर नशा करने लगता है और अपने से बड़ी उम्र की स्त्री के साथ रहता है लेकिन फिर भी वर्षा उसे कुछ नहीं कहती है और टूट कर उससे प्रेम करती है। हर्ष की मृत्यु के बाद उसके बच्चे को जन्म देने का दृढ़ निश्चय भी करती है। समाज से लड़ती है लेकिन कहीं भी शोषित नहीं होती। जबकि स्त्री रचनाकार के यहां स्त्रियाँ ज्यादातर शोषित होती हैं। मुझे लगता है कि जब स्त्री लिखती है तो वह अपने जीवन अनुभव को लिखती है। जो कि सामाजिक सच्चाई है। आज भी 95 प्रतिशत स्त्रियाँ कहीं न कहीं पुरुषों से धोखा खाती हैं या शोषित होती हैं।

सुरेन्द्र वर्मा वर्षा को परंपरा से लड़ते दिखाते हैं। बचपन में अपने नाम के लिए लड़ती वर्षा परंपरावादी परिवार की कई मान्यता को ध्वस्त करती है। सुरेन्द्र वर्मा एक सशक्त स्त्री को स्थापित करते हैं। जहाँ स्त्री को बोलने नहीं दिया जाता है ऐसे परिवार में स्त्री अपनी बात रखती है तो यह काफी बड़ी बात है। इस उपन्यास में स्त्री अस्मिता की लड़ाई है। वह लड़ती है सभी से। वह सिगरेट पीती है, छोटे कपड़े पहनती है, मदिरा पीती है। पिता के पूछे जाने पर कि वर्षा तुम मदिरा पान कर रही हो तो वह बहुत ही सहज भाव से कहती है कि काम से थक जाने के बाद वह पीती है। अपने थकावट को दूर करने के लिए वह ऐसा करती है। कहीं न कहीं वह परंपरावादी मान्यता को तोड़ती नजर आती है। इन सब के बावजूद बाहर का समाज उसके अनुकूल होता है। उसके दोस्त बहुत अच्छे होतें है। आखिर क्यों? यहां लेखक समाज के सच को दिखाने में चूक जाते हैं क्योंकि स्त्री आज भी सुरक्षित नहीं है। खैर यह एक अलग विषय है।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया अपने घर में ही उपेक्षित जीवन जीती है। वह अनचाही बेटी होती है। सांवले रंग के कारण मां कहती है इससे कौन शादी करेगा? ''अम्मा प्रायः सल्लो जीजी से कहती, सरोज के लिए तो कोई 'ना' नहीं करेगा। पर यह प्रिया ! भगवान ही मालिक हैं...कौन ले जाएगा इसे ?''[19] सुरेन्द्र वर्मा कृत उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' में वर्षा वशिष्ट अपने घर में विद्रोह करती है। उसके घर का माहौल परंपरावादी होता है। वह भी देखने में सुंदर नहीं होती है। विवाह के लिए गोरी चमड़ी की मांग समाज करता है। फलतः वर्षा के पिता दुहाजू वर ढूंढते हैं। भाई कहता हैं ''मानता हूं कि अनमोल जी के साथ तुम्हारा संबंध बहुत उपयुक्त नहीं है। लेकिन जिस

चीज के सहारे हमारे समाज में संबंध तय होते हैं, उसकी हमारे घर में बहुत कमी है। मेरा बस चले, तो मैं अपनी खाल बेचकर भी तुम्हारे लिए योग्य वर जुटाऊँ। पर ऐसा हो नहीं सकता और भाग्य की बात है कि तुम्हारा रंग-रूप गायित्री के जैसा नहीं है। अब तुम्ही बताओ, हम क्या करें?''[20] सुरेन्द्र वर्मा भी भारतीय समाज में परंपरा से चली आ रही मान्यता को अभिव्यक्त कर रहे हैं। अगर लड़की सुंदर नहीं है तो मां बाप किस तरह की सोच लड़की के प्रति रखते है उसे यह उपन्यास रेखांकित करता है। उपन्यास के अंत में समाज की परंपरा टूटती नजर आती है। लड़की सुंदर होना ही बड़ी उपलब्धि नहीं होता है बल्कि जीवन में अपनी पहचान और कुछ कर जाना बड़ी बात होती है। वही वर्षा वशिष्ट जब अपनी पहचान बना लेती है तथा एक प्रसिद्ध मॉडल तथा अभिनेत्री बन जाती है तो घर के लोग उसके पास आश्रय लेने के लिए आ जाते हैं। तेज नाक-नक्श जब कला निकेत का मॉडल बनती है तो लोग देखते रहते है। घर में सांवली कहे जाने वाली लड़की एक प्रसिद्ध नाटयकर्मी बनती है। बॉलीबुड से हॉलीबुड तक के फिल्मों में काम करती है। प्रभा खेतान ने भी 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रिया का चित्रण कुछ इस ढंग से किया है। जो प्रिया अपने घर में बोकी, भाटा, बैगन और न जाने कितने तरह के उपनामों से जानी जाती है। उसी की शादी अग्रवाल हॉउस में होती है। बाद में वही लड़की हस्तकला का बिजनेस करती है। जिसका बिजनेस भारत से लेकर विदेश तक फैलता है। मायके में सांवली कही जाने वाली लड़की अपने जीवन में बड़ी उपलब्धि हासिल करती है।

5.2.प्रेम, विवाह, पारिवारिक जीवन का चित्रण

प्रेम का स्वरूप समकालीन परिदृश्य में बदलता दिखाई देता है। एक समय था जब प्रेम की परिभाषा कुछ और थी। आज प्रेम की परिभाषा कुछ और है। समकालीन समय में प्रेम समर्पण नहीं रह गया है बल्कि शरीर से शुरु होता है। यहां तक की प्रेम की परिभाषा स्त्री और पुरुष दोनों के लिए अलग है। स्त्री जहाँ प्रेम में समर्पित होती है वहीं पुरुष का अपना स्वार्थ होता है। पुरुष प्रेम के सिवा कुछ और भी चाहता है। इन सारे सवालों को हिन्दी उपन्यासों में उठाया गया है। इसी तरह विवाह का स्वरूप समकालीन परिदृश्य पर बदलता हुआ दिखता है। आज विवाह नामक संस्था टूट रही है। वैसे भी विवाह संस्था में स्त्रियाँ सबसे ज्यादा शोषित होती हैं। विवाह की अवधारणा बदल कर आज लिव-इन टूगेदर में आ गई है। आज परिवारिक जीवन का चित्रण समकालीन उपन्यासों में अलग तरह का दिखता है। जिसमें स्त्री का बदलता हुआ स्वरूप दिखाई देता है। इस उपअध्याय में इस तरह के सवालों पर बात की जाएगी।

प्रेम का चित्रण स्त्री और पुरुष दोनों उपन्यासकारों के यहां मिलता है। स्त्री रचनाकारों के यहां प्रेम का चित्रण अलग तरह का हुआ है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया प्रेम में धोखा खाती है। वहीं

'आवां' की नमिता भी प्रेम में छली जाती है। सुरेन्द्र वर्मा एक आदर्श प्रेम का चित्रण करते हैं। प्रेम निवेदन पुरुषों द्वारा बहुत ही आसानी से कर दिया जाता है । वहीं स्त्रियों द्वारा अपनी प्रेम की अभिव्यक्ति ही बहुत बार नहीं हो पाती है। इसके पीछे वही पितृसत्तात्मक मानसिकता हावी होती है। कहीं उसे अपनी प्रेमाभिव्यक्ति करते ही समाज के तिस्कृत शब्दों से विभूषित न कर दिया जाए। पुरुष प्रधान समाज में प्रेम को पुरुषों ने व्यापार बना दिया है। जहाँ पर उसकी संवेदना काम नहीं करती है बल्कि वह फायदे का सोचते हुए एक शोषक की नजरिए से प्रेम करता है और स्त्रियाँ शोषित होती रहती हैं। वहीं दूसरी ओर स्त्री के प्रेम में आत्मोसर्ग की भावना होती है। वह देना जानती है लेना नहीं। आधुनिक दौर में जब से स्त्रियों में चेतना का निर्माण हुआ है। वह अपने प्रेम के लिए भी चेतनशील हुई है। न कि किसी भुलावे या बहकावे में बहक जाती हैं। इसके बावजूद भी स्त्रियाँ छल का शिकार हो ही जाती हैं। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया यह सोचती है कि नरेन्द्र अमेरिका से पढ़-लिख कर आया है तो ज्यादा समझदार होगा और उसकी भावना को बहुत अच्छी तरीके से समझेगा। लेकिन अंततः वह भी पुरुष ही निकलता है और प्रिया को एक 'मादा जिस्म' ही समझता है। नरेन्द्र प्रिया की संवेदना को समझ नहीं पाता। प्रिया अपने जीवन में विवाह से पहले ही कई पुरुषों द्वारा छली जा चुकी होती है।

प्रिया अपने प्रेम प्रसंग के बारे में सोचती है ''मेरी आँखें नीचे थी, सांस की गति तेज। उसने कमर में हाथ डालकर अपनी ओर खींचा। मैं लतर-सी झुक आई और फिर जो होना था, वही हुआ। देह ने अपना धर्म निभाया। कानों में उसके शब्द थे शहद-से घुलते हुए--मैं तुमसे प्यार करता हूँ...केवल तुमसे। उस दिन न मुझे कोई ग्लानि महसूस हुई और न ही जुगुप्सा। पुरुष का स्पर्श इतना मादक होता है, इतना सुखद ! वह इतना कमनीय, इतना आकर्षक हो सकता है, मुझे पहली बार पता चला। मैं बाईस की उम्र में एक पूरी औरत बन चुकी थी। वह बत्तीस का अनुभवी पुरुष था। सप्ताह में दो-तीन दिन, इसी प्रकार यह खेल छह महीने चला। परीक्षाएँ सर पर थीं। एक दिन उसने कहा भी, अब तुम पढ़ने में मन लगाओ।''[21] जब स्त्री किसी पुरुष से प्रेम करती है तो अपना सब कुछ समर्पित कर देती है। उसके प्रेम में कोई स्वार्थ नहीं होता है लेकिन एक पुरुष के प्रेम में स्वार्थ होता है। वह प्रेम के साथ ही साथ कुछ और भी चाहता है। प्रिया का प्रेमी यानी भारतीय वेदान्त पढ़ानेवाला प्रोफेसर प्रिया से प्रेम नहीं करता बल्कि प्रेम के नाम पर उसका कुँवारा शरीर भोगता है। यहां तक की प्रिया को धोखा भी देता है। ''मूर्ख लड़की ! मैंने कब कहा था कि मैं तुमसे शादी करूँगा ? हम दोनों ने मौज की। बस, बात खत्म। और सुनो, फिर कभी यहाँ मत आना। मैं शादीशुदा इंसान हूँ।''[22] पुरुष का प्रेम छलावा होता है। लड़कियां अक्सर पुरुष के प्रेम में फंस जाती हैं। प्रिया भी फंस गयी थी। प्रिया कहती है ''हां, मैंने प्यार किया थी, बिना किसी शर्त के, बिना किसी से कुछ पूछे। बहुत बाद में समझ में आया कि यह बिना पूछे शर्तहीन संबंध आपकी

मानवीयता का द्योतक भले ही हो, पर आपके व्यावहारिक दिवालिएपन का परिचायक भी होता है।''[23] स्त्रियाँ ज्यादातर शर्तहीन प्रेम करती हैं लेकिन पुरुष ऐसा नहीं करता है। प्रभा खेतान जिस प्रेम का चित्रण कर रही हैं। वह शायद ऐसा ही है।

सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' में वर्षा वशिष्ट को हर्ष से प्रेम होता है। हर्ष काफी पैसे वाले घर का होता है। हर्ष का प्रेम वर्षा के लिए छलावा नहीं होता बल्कि हर्ष भी वर्षा से बहुत प्रेम करता है। पुरुष के दृष्टिकोण में पुरुष अपराधी नहीं होता। वह स्त्री को स्वार्थी दिखाता है। जबकि स्त्री लेखिका समाज के सच्चाई को ज्यादा यथार्थ पूर्वक दिखाती है क्योंकि समाज में आज भी स्त्री ही छली जाती है।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया कहती है ''यदि मैं व्यापार कर सकती हूँ, रुपया कमा सकती हूँ, तब अपने इस निहायत व्यक्तिगत मसले का हल क्यों नहीं ढूँढ़ सकती ? इतना पढ़ने-लिखने और मनोविज्ञान समझने के बावजूद आक्रामक औदास्य और डिप्रेशन मुझे घुन की तरह खाए जा रहे थे। हर बार दौरा पड़ता । महीने में एक-दो बार तो जरूर ही। ट्रिगर पाइंट तो नरेन्द्र था और उसकी ईर्ष्या ? किसी ने पूरे परिवार को निमन्त्रित किया था, पर नरेन्द्र मुझे लेकर अब कहीं जाता था। पूछने पर कह देता-- वे इन दिनों बड़ी व्यस्त हैं, या धीरे से मुस्कुरा-भर देता। जिसे जो अन्दाज लगाना है, लगा ले। मैं सोचती रह जाती। दूसरी औरतों को घर लानेवाला यह पुरुष मुझे थप्पड़ मार सकता है, लोगों के सामने जलील कर सकता है, लेकिन फिर भी वह मेरा पति है। यह मेरी गलती है कि मेरी संवेदनाएँ गहरी हैं, कि मेरे मूल्यबोध अलग हैं। भीतर की इस प्रेतलीला से मैं खुद दशहत खाने लगी थी।''[24] यहाँ पर हम देखते हैं कि प्रिया को न प्रेम मिला ना ही पारिवारक जीवन का आनंद, वह परंपरागत समाज की स्त्री बनी रही प्रेम और पारिवारक जीवन में।

5.3.आर्थिक आत्मनिर्भरता का प्रश्न

अर्थ समाज और संसार को संचालित करने वाली एक महत्वपूर्ण कड़ी है। हम देखते हैं कि जो परिवार आर्थिक रूप से सम्पन्न होता है। उस परिवार का जीवन स्तर भी उन्नत होता है। ऐसे परिवार में स्त्रियों को अपने सर्वांगिक विकास का अवसर मिलता है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि जो राष्ट्र आर्थिक रूप से संपन्न होता है उसका वर्चस्व पूरी दुनिया पर चलता है। अर्थ की इस तरह की सच्चाई देखने के बाद प्रश्न यह उठता है कि समाज में (भारत तथा विश्व के स्तर पर) स्त्रियों की स्थिति क्या है ? दुनिया भर में आज पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था है ऐसे में स्त्रियों को आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं होने दिया जाता है क्योंकि स्त्री जब आर्थिक रूप से स्वतंत्र होगी तो उसके निर्णय लेने की शक्ति और उसके अधिकार का दायरा बढ़ जाएगा तथा उसे अपनी स्वतंत्रता

की अनुभूति प्राप्त होगी। तभी तो सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास मुझे चांद चाहिए में वर्षा अपने पिता से शराब पीने के कारण को बताती है और उसके पिता उस चीज का विरोध नहीं कर पाते हैं।

भारतीय समाज में आर्थिक आत्मनिर्भरता एक बड़ा प्रश्न है स्त्री के लिए। स्त्री जब आर्थिक रूप से निर्भर होगी तभी वह अपना निर्णय ले पाएगी। सवाल यह भी है कि जब स्त्रियाँ आर्थिक रूप से निर्भर हो जाती है तो क्या वह अपने पैसे को अपनी मर्जी से खर्च कर पाती है ? वर्तमान समय में भी कई स्त्रियाँ ऐसी हैं जो आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने पर भी अपना पैसा अपने लिए इस्तेमाल नहीं कर पाती है। प्रिया कहती है ''मेरा एक बड़ा खर्च था किताबों का और नरेन्द्र की निगाहों में सबसे बड़ी फिजूलखर्ची। ...किताबों के लिए नरेन्द्र का कहना रहता था कि तुम लाइब्रेरी में जाकर क्यों नहीं पढ़ती ? मैगजीन पर सौ-दो सौ का खर्च तो समझ में आता है पर यह दो हजार की किताबें?...पुस्तक मेले से खरीदी हुई किताबों का ढेर रखा हुआ था और मेरी आँखें चमक रही थीं- कब मैं इन किताबों को पढ़ूँ ? लेकिन नरेन्द्र का वह चुभता हुआ वाक्य--तुम किताबें केवल दिखावे के लिए खरीदती हो, मेरी समझ में आधी किताबें तुम कभी पढ़ोगी नहीं?''[25] इस तरह अपने कमाए हुए पैसे को स्त्री अपनी इच्छा अनुसार खर्च भी नहीं कर सकती।

स्त्री अगर कमाने के लिए बाहर पैर निकालती है तो कई लोग उसका विरोध करते हैं। पितृसत्तात्मक समाज में आज भी स्त्रियाँ आजाद नहीं है। 'छिन्नमस्ता' में ही प्रिया जब अपना बिजनेस शुरू करती है तो नरेन्द्र उसका विरोध करता है। यहां तक की प्रिया को अपना पैसा भी दिखाता है। ''उस दिन मेरे सामने रुपयों से भरी ब्रीफकेस उलटते हुए नरेन्द्र चीखा था ,...तुम्हें रुपए चाहिए ना ? बोलो कितने रुपए ? लाख , दस लाख, करोड़ ? रुपए...रुपए...रात-दिन रुपए के पीछे भागती रहती हो। चुप क्यों हो ? बोलो, जवाब दो । लो, यह लो! ...और उसने दस-दस हजार की गड्डियाँ मेरे ऊपर फेंकनी शुरू कर दी थीं।''[26] जब एक स्त्री घर से बाहर काम करने जाती है तो कई सामाजिक चुनौतियों का सामना करती है। प्रिया भी करती है। वह सबसे जादा अपनों का विरोध सहती है। ऐसे भी स्त्री जब आर्थिक रूप से निर्भर होने लगती है तो घर से बाहर लोगों की निगाह उसी पर टिकी होती है। तभी तो नरेन्द्र प्रिया को कहता है ''तुम यह क्यों नहीं कहती कि तुम्हें मौज करने की आदत पड़ गई है? यह तुम कह रहे हो, नरेन्द्र ! हाँ, हाँ, मैं कह रहा हूँ और ठीक कह रहा हूँ। तुम वहाँ क्या करती हो, क्या मैं कोई देखने जाता हूँ ? और देखो प्रिया ! जिस दिन तुमने काम शुरू किया था, उसी दिन मैंने कह भी दिया था -- काम करो पर यह मत भूलो कि तुम विवाहिता हो, एक बच्चे की माँ हो, अग्रवाल हाउस की बहू हो। सुनो नरेन्द्र, बिना वजह इल्जाम लगाने के बदले तुम साथ क्यों नहीं चलते ? तुम्हें पता चल जाएगा कि मैं मौज करती हूँ या काम ? मैं, और वह भी तुम्हारे साथ चलूँ ? तुम्हारे पीछे-पीछे ? तुम्हारे सैंपलों का बक्सा ढोता हुआ ?

वाह! क्या कहने हैं हमारी श्रीमतीजी के ? क्या खाका खींचा है अपने पतिदेव का !''[27] अपने पैरों पर खड़ी स्त्री को आज भी समाज द्वारा स्वीकार करने में समय लगेगा।

प्रिया अपने घर की अनचाही बेटी होती है। वह देखने में अपनी बहन की तरह सुंदर नहीं होती। रंग भी सांवला होता है। घर में पिता को छोड़ कर कोई उसे पसंद नहीं करता। मां हमेशा उसकी शादी के बारे में सोचती है और कहती है कौन करेगा प्रिया से शादी? जब लड़की सुंदर नहीं होती है तो सबसे ज्यादा लोग उसकी शादी के बारे में सोचकर चिंतित होते हैं। मां की चिंता भी जायज है क्योंकि भारतीय समाज में जब लड़की थोड़ी ही बड़ी होती है तो लोग उसकी शादी की बात करने लगते है। प्रिया कहती है ''मुझे वह दिन नहीं भूलता जब पूरा गोयनका परिवार खाने पर बुलाया गया और बाद में 'ना' करके चले गए। कभी मुझे विश्वास नहीं हुआ कि कोई पुरुष मेरे चेहरे के प्रति भी आकर्षित हो सकता है। हाँ, वे न करके जा चुके थे। अम्मा की मेरे प्रति चिढ़ और बढ़ गई थी। भाई-बहनों की नजर में मैं और बदसूरत हो गई थी। अम्मा प्रायः सल्लो जीजी से कहती, सरोज के लिए, तो कोई 'ना' नहीं करेगा। पर यह प्रिया ! भगवान ही मालिक हैं...कौन ले जाएगा इसे ? मेरा मन विद्रोह कर उठता--न ले जाए कम्बख्त, कोई न ले जाए। मुझे किसी की जरूरत नहीं। अब मैं विद्रोही होती जा रही थी। एक दाई मां के अलावा घर में बाकी सबके प्रति उपेक्षा और अवज्ञा का भाव।''[28] सुरेन्द्र वर्मा कृत उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' में वर्षा वशिष्ट अपने घर में विद्रोह करती है। वह देखने में सुंदर नहीं होती। विवाह के लिए गोरी चमड़ी अनिवार्य होता है। आर्थिक रूप से बहुत संपन्न भी नहीं है इसलिए वर्षा के पिता दुहाजू वर ढूंढते है। भाई कहता है ''मानता हूं कि अनमोलजी के साथ तुम्हारा संबंध बहुत उपयुक्त नहीं है। लेकिन जिस चीज के सहारे हमारे समाज में संबंध तय होते हैं, उसकी हमारे घर में बहुत कमी है। मेरा बस चले, तो मैं अपनी खाल बेचकर भी तुम्हारे लिए योग्य वर जुटाऊँ। पर ऐसा हो नहीं सकता और भाग्य की बात है कि तुम्हारा रंग-रूप गायित्री के जैसा नहीं है। अब तुम्ही बताओं, हम क्या करे?''[29] सुरेन्द्र वर्मा भी भारतीय समाज में परंपरा से चली आ रही मान्यता को अभिव्यक्त करते हैं। अगर लड़की सुंदर नहीं है और आर्थिक स्थिति सामान्य है तो मां बाप किस तरह की सोच लड़की के प्रति रखते है उसे यह उपन्यास रेखांकित करता है।

5.4. स्त्री-जीवन का मानसिक पक्ष

किसी भी समाज के विकास के लिए उस समाज के लोगों की मानसिक स्वतंत्रता बहुत ही आवश्यक है। स्वतंत्र मन ही नये सोच एवं चिंतन को जन्म दे सकता है। जबकि परतंत्र मन अपने परतंत्र संवेदना तथा इच्छा की मुक्ति के संघर्ष में लगा देता है। उसी तरह परिवार की केन्द्र बिन्दु स्त्री के मानसिक पक्ष का अध्ययन भी एक अनिवार्य विषय है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की

मानसिकता को एक तरह से पुरुष वर्ग द्वारा निर्मित और नियंत्रित किया जाता रहा है। समाज के सर्वांगिण विकास के लिए स्त्री को मानसिक रूप से स्वतंत्र होना पड़ेगा अथवा करना पड़ेगा।

स्त्री के अंदर मानसिक संघर्ष चलता रहता है जिसमें वह जानती है कि उसके उचित या अनुचित निर्णय का समाज में कोई महत्व नहीं है। ऐसे में स्त्री कभी-कभी अपने मानसिक व्यथा से इतनी उत्पीड़ित हो जाती है कि उसे चारों तरफ निराशा-हताशा और विकल्पहीनता नजर आती है और मस्तिष्क शून्य हो जाता है फिर वह अपने आपको शून्य में मिला देना ही उचित समझती है। इसी तरह के स्थिति सुरेन्द्र वर्मा कृत उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' में नजर आती है। ''एक शाम वर्षा ने देखा कि जिज्जी एकटक मिट्टी के तेल की बोतल को देख रही है...आत्मपीड़न और संत्रास की यही प्रक्रिया थी, जो वर्षा को बहन का अंतरंग बना गयी। गायित्री धीरे-धीरे जैसे चुप्पी व अपराधी बन गयी थी, उससे वर्षा मन ही मन द्रवित होने लगी। जब जिज्जी एक बासी रोटी और थोड़ा-सा चावल खाकर संतुष्टि दिखाते हुए उठ जाती, तो वर्षा के अंदर गुस्सा उफान लेने लगता और उसका केन्द्र बनते पिता। जब सामर्थ्य नहीं थी, तो ताबड़तोड़ बच्चे क्यों पैदा किये? परिवार का नियोजन क्यों नहीं किया? इतने तो तरीके हैं! क्यों सुअर की तरह इतने पिल्ले पैदा करके कीचड़ में लोटने के लिए छोड़ दिये?''[30] चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'आवां' की स्मिता जो अपने आप को साहसी समझती है लेकिन किसी क्षण वह कमजोर भी पड़ती है। यह साहस और कमजोर बनने की प्रक्रिया मन के अंदर चलती रहती है। तभी तो वह कहती है ''मैं बहुत साहसी हूँ मगर कभी, किन्ही क्षणों में मुझे तेरे कंधों की जरूरत होती है... उसके घुटने में मुंह छिपा अचानक वह फूट पड़ी। आत्म स्वीकारोक्ति बहुत जरूरी थी। सहज नहीं हो पा रही थी मैं। सहज बनने की चेष्टा में लगने लगा था, आत्मविश्वास ने पल्ला झाड़ लिया है मुझसे। आत्महत्या ही संभवतः खुद रहे तनाव से मुक्ति का एकमात्र हल हो मेरे लिए। तू जानती है, मैं मरना नहीं, जीना चाहती हूं। जीने के रास्ते खोलने के लिए ही जरूरी लगा, वह जो मैंने किया, करना जरूरी था। तुझे महसूस हो रहा होगा...आतंक के शिकंजे से मुक्त इस घर की दीवारों में अब जीवन आँखे खोल रहा है।''[31] चित्रा मुद्गल स्त्री होने के नाते स्त्री के मनोदशा को अच्छी तरह से उजागर करती हैं।

'छिन्नमस्ता' उपन्यास में प्रभा खेतान स्त्री के मानसिक पक्ष को बहुत ही बारिक तरीके से रेखांकित करती हैं। प्रिया सोचती है ''आत्मग्रस्तता की सीमा से परे ...ये लोग कितने ग्रस्त हैं पैसे से ? मेरी सासूजी की आलमारी में लाखों का सामान है, पर गिनकर, सम्हालकर देना। कम-से कम अम्मा स्वभाव से भावुक तो थीं। ठीक है, संतुलन का अभाव सही लेकिन मन करता तो उठाकर सबकुछ दे डालतीं। अम्मा की पीड़ा तो यह थी कि सारी आहुति के बाद वे देवी नहीं बन पाई, न परिवार की नजर में , न समाज की नजर में। पता नहीं क्यों उस दिन जिन्दगी में पहले-पहल अम्मा को तोड़ा–बहुत मैंने समझने की चेष्टा की। पर मेरी सासूजी, सबकी नजर में देवी थीं। आत्मदाह

और वेदना की प्रतिमूर्ति। किसी को कभी कुछ निकाल कर नहीं देंगी, लेकिन फिर भी प्रशंसा पा जाती हैं। क्या ऐसी ही स्त्रियों को लोमड़ी के स्वभाववाली कहा गया है ? इन्होंने पापा को अपराधी महसूस करवाया और हमेशा करवाती रहीं। सासूजी की मौन सम्मति और दयनीय चेहरे को देखकर पापा हमेशा क्षतिपूर्ति की कोशिश में लगे रहे। छोटी माँ ने अधिकार माँगा नहीं। छोटी मां के हिसाब से मां काली के सामने पापा ने सिन्दूर लगाया था। यह विवाह नहीं तो और क्या था?''[32] प्रिया के मन में अपनी सास को लेकर कई तरह के सवाल उठते हैं? अपनी मां और अपनी सास की तुलना अपने मन में करती है। प्रिया की मां उसे मानती नहीं थी लेकिन फिर भी अपनी मां को अपनी सास की तुलना में थोड़ा संवेदनशील समझती है। यहाँ पर प्रभा खेतान स्त्री पीड़ा की अभिव्यक्ति करती हैं। सास को प्रिया लोमड़ी की तरह चलाक औरत मानती है। एक ऐसी औरत जो बिना कुछ किए बहुत कुछ जीवन में पाती है। उसकी सास पैसे को गिन-गिन कर देती है लेकिन प्रिया यह भूल जाती है कि स्त्री भी पितृसत्ता की मानसिकता से ग्रस्त हो सकती है। प्रिया की सास अपने बेटे (नरेन्द्र) से डरती है और उसके अनुसार काम करती है। प्रिया अपने जीवन में सफल हो जाती है लेकिन फिर भी वह जीवन में खुश नहीं रहती। उसे अपने जीवन में घटित हुआ बुरा अनुभव हमेशा सताता रहता है। ''कभी लगता है, मैं बासी रोटी का एक टुकड़ा हूँ, कि जिन्हें मैं अपना समझता था, वही अपने नहीं रहे । एक वक्त ऐसा भी आया जब समाज की हर नजर केवल सलीब की ओर था। वे चाहते थे कि ऐसी घरफोड़ औरत को सजा मिलनी चाहिए, क्योंकि कहीं न कहीं उन्हें मेरी सफलताओं से भय था। शायद वे मठाधीश सोचते हों कि एक औरत लड़कर कुछ हासिल कर लेती है तो दूसरी औरतें भी तो उन्हीं रास्तों पर चलेंगी।''[33] पितृसत्तात्मक समाज सभ्यता के विकास के साथ ही स्त्री को चारदीवारी में कैद रखने की कोशिश करता आया है क्योंकि पुरुषवादी समाज को यह मालूम है कि अगर एक स्त्री अपनी मर्जी से घर से बाहर निकली तो दूसरी स्त्री भी वही करेगी। स्त्री ऐसा करे इससे पहले उसके पंख को काट दिया जाए। प्रिया अपने जीवन में तरक्की करती है तो लोग तरह तरह की बातें करते हैं। यह सामाजिक सच्चाई है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था हमेशा से स्त्री को दबा कर रखा है। पुरुषवादी समाज को हमेशा से यह डर रहा है कि अगर स्त्री उससे आगे निकल जाएगी तो किसी की बात नहीं सुनेगी और अपनी मर्जी का काम करेगी। समाज में जब कोई स्त्री घर से बाहर निकलती है तो समाज उस स्त्री को कठघड़े में खड़ा कर देता है। इसी तरह 'मुझे चांद चाहिए' में वर्षा वशिष्ट जब घर से बाहर जाती है तो पिता एकदम पसंद नहीं करते। वह अपनी पत्नी से वर्षा वशिष्ट के बारे में बात करते हुए कहते हैं बाहर निकलते ही यह लड़की हमारे हाथ से निकल जाएगी।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया को लगता है ''मैं आखिर किसकी बेटी हूँ, मेरी समझ में नहीं आता। माँ के बदले दाई माँ ने पाला और सास के बदले छोटी मां ने सम्हाला। छोटी माँ ने मुझे

अपने गहने बेचकर रुपए दिए, जिनसे मैंने दमदमवाली फैक्ट्री की जमीन खरीदी थी । और तब जाकर उस जमीन पर फैक्ट्री लगाने के लिए बैंक के रूपए मिले । काम में मेरा मन हमेशा लगता था। काम करना मुझे आता है और अब तो द्वन्द्व भी खत्म हो गया था ।''[34] यहाँ प्रिया को बार-बार मानसिक उत्पीड़न से गुजरना पड़ता है । प्रिया कहती है '' मेरा शरीर किसी का स्पर्श चाहता था । नहीं, नरेन्द्र का नहीं...पर एक पुरुष का ।...बस अकेलेपन से भय लगता था । क्या होगा बिना पुरुष के जीवन का ? छोटी मां, मैं और नीना साथ खाना खाते और मैं सोचती–यदि एक पुरुष भी उपस्थित होता...पापा ही होते या फिर नीना ही किसी से विवाह कर लेती ? शुरू में लगता था मानो हम तीन लावारिस स्त्रियाँ हैं, जिन्हें समाज नहीं स्वीकार सकता ।''[35] स्त्री-पुरुष एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं जिसका अभाव होने पर मन उस अभाव के लिए छटपटाता है ।

'अर्द्धनारीश्वर' में विष्णु प्रभाकर स्त्री के मन की गुथ्थियों को अभिव्यक्त करते हुए दिखते हैं। उपन्यास का एक दृश्य है जब पम्मी बलात्कार के बाद की स्थितियों के बारे में सोचती है । वह सोचती है किस तरह समाज में लोग स्त्री को अपराधी के मानते हैं । जब कि दोष स्त्री का नहीं होता है । स्त्री अपने मन में न जाने कितना बड़ा संसार छुपा कर रखती है । वह अपने मन की पीड़ा को बहुत कम लोगों के सामने व्यक्त करती है । वह कहती है ''कितना बड़ा संसार है मेरे भीतर दर्द से सना ! किसी को दिखा भी नहीं सकती, किसी की सहानुभूति भी नहीं चाह सकती । इसलिए पति-परिवार का मुक्त स्नेह-सत्कार पाकर भी मुझे आज भी लगता है कि जैसे हर कोई मुझे हिकारत की निगाह से देख रहा है । उस आत्मग्लानि से मैं कांप-कांप उठती हूं, इसलिए नहीं कि कोई मुझे दोषी समझता है बल्कि इसलिए कि मैं स्वयं अपने को इस दोष से मुक्त क्यों नहीं कर पाई, समाज को झटक क्यों नहीं देती ?''[36] दरअसल स्त्री सामाजिक बंधनों से मुक्त नहीं हो पाती है और न ही समाज को छोड़कर आगे बढ़ती है । स्त्री के साथ कोई अप्रत्याशित घटना घट जाता है तो स्त्री स्वयं को दोषी मानती है। उससे ताउम्र मुक्त नहीं हो पाती । जब किसी स्त्री के साथ बलात्कार होता है तो उसके शरीर के साथ ही साथ उसकी आत्मा भी घायल हो जाती है । जिसे स्त्री जीवन भर भूल नहीं पाती । कुछ इसी तरह के दृश्य विष्णु प्रभाकर के उपन्यास 'अर्द्धनारीश्वर' में दिखाई देते हैं । विष्णु प्रभाकर का यह उपन्यास कई सवाल उठाता है तथा समाज के नग्न यथार्थ को उजागर करता है ।

'आवां' में भी स्त्री के मानसिक पक्ष को चित्रित किया गया है । स्त्री मन की कई गुथ्थियों को सुलझाया गया है । स्त्री क्या सोचती है या किसी पीड़ा से स्त्री कितनी बुरी तरीके से आहत होती है इसे स्त्री उपन्यासकार के यहां ज्यादा यथार्थपूर्वक दिखाया गया है । स्त्री के साथ घर में जब अपने परिवार के लोग शोषण करते हैं तथा स्त्री जब बाहर जाती है तो उसको किस तरह 'भोग की वस्तु' के रूप में देखा जाता है । इसे 'आवां' में लेखिका ने बहुत अच्छी तरह से चित्रित किया है । स्त्री पीड़ा को सहती है लेकिन जब वह सर से ऊपर होने लगता है तो उसके खिलाफ विद्रोह करने की

भी सोचती है। जैसे कि स्मिता अपने पिता के व्यवहार से बहुत आहत होती है और एक समय ऐसा होता है कि वह विद्रोह करने के लिए ठान लेती है। स्मिता कहती है ''जिस दिन नौकरी मिल जाएगी मुझे, नमी बाप-रूपी इस राक्षस को मैं सीढ़ियों से ढकेल स्वाभाविक मौत मरने पर विवश कर दूँगी। पगला गई तू ? अविश्वास से सिहरकर स्मिता को घूरा था उसने, आई और ताई (बड़ी बहन) के साथ तुम उनसे अलग भी तो हो सकती हो। बाप के जीवित रहते ऐसा संभव नहीं। लंबी बांहे हैं बाप की। हमें वह आकाश पाताल से ढूँढ़ लाएगा। ...ताई राक्षस के साथ अकेली घर में रहने से डरती है। अविश्वास से वह अवसन्न हो आई। पिता के लिए कोई पुत्री देह हो सकती है ?''[37] इस तरह कई तरह के मानसिक पीड़ा को चित्रा मुद्गल 'आवां' में चित्रित करती हैं। 'आवां' में मजदूर वर्ग की स्त्री-जीवन गाथा है। स्त्रियाँ किस तरह के मानसिक उधेड़बुन में जीती हैं उसका बहुत ही मार्मिक चित्रण हुआ है।

अमरकांत के उपन्यास 'सुन्नर पाण्डे की पतोह' में भी स्त्री के मानसिक पक्ष का चित्रण मिलता है। स्त्री क्या सोचती है? वह कैसे अपने जीवन में कई यातनाओं को सहती है? सुन्नर पांडे की पतोह अपने पति के बारे में सोचती है। उसका पति झुल्लन पांडे घर छोड़ कर चला गया है। वह अपने सास-ससुर के घर पर अकेले रहती है। सुन्नर पांडे की पतोह अपने पति की यादों से मुक्त नहीं हो पाती। वह कई तरह की कल्पना अपने पति के बारे में करती है तथा मानसिक पीड़ा का सामना भी करती है लेकिन किसी से कुछ नहीं कहती। स्त्री अक्सर अपने मानसिक पीड़ा को जल्दी किसी के सामने व्यक्त नहीं करती है। वह सोचती है ''हर रोज सवेरा होते ही उसकी आशाएँ सूरज की तरह आकाश पर चढ़ने लगतीं, पर दिन के साथ ही वे भी डूब जातीं। और रात उतरते ही उसके अंदर एक अंधकार फैल जाता। वह निराशा से निर्जीव-सी हो जाती और उसका दिमाग डर की दुश्चिन्ताओं से भर जाता। उसकी आँखों से स्वतः ही आँसू गिरने लगते। कहाँ होंगे वह ? क्या खाते-पीते होंगे ? किस दुःख-तकलीफ में हैं ? हे भगवान, उनको सुख से रखना, जो कुछ होना हो उसी को हो। रात को जब वह बिस्तर पर जाती तो देर तक मछली की तरह छटपटाती रहती । कैसे कटेगा यह जीवन ? उसको अपने पति की एक-एक बात याद आने लगती। झुल्लन पांडे की बड़ी-बड़ी आँखें , नुकीली नाक और मोटे होंठो वाला गोरा, सुंदर चेहरा जब उसके सामने नाचने लगता तो उसका हृदय समुद्र की तरह उमड़कर अनन्त लहरों में आगे बढ़ता और नियति के कठोर सीमा-तट पछाड़ खा-खाकर असंख्य टुकड़ों में बिखर जाता।''[38] अमरकांत स्त्री के मन की पीड़ा को बहुत अच्छे तरीके से समझते हैं। स्त्री के मन में क्या-क्या चल सकता है उसका जीवंत उदाहरण सुन्नर पांडे की पतोह द्वारा दिखाते हैं। किस तरह सुन्नर पांडे की पतोह अपने पति के चले जाने के बाद सोचती है। कई तरह की मानसिक पीड़ा को सहती है। इस उपन्यास में एक और प्रसंग है जो स्त्री के मानसिक अवसाद को स्पष्ट करता है। पितृसत्तात्मक समाज स्त्री को किस तरह से पुरुषों पर

निर्भर रहने के लिए मानसिक रूप से तैयार कर रखा है। जहाँ स्त्री उस परनिर्भरता के बिना अपने अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकती। यह परनिर्भरता एक तरह से स्त्री के मनोमस्तिष्क में जन्म के साथ ही पिरोना प्रारंभ कर दिया जाता है। तभी तो अमरकांत अपने उपन्यास 'सुन्नर पांडे की पतोह' में लिखते हैं ''पहले सिन्दूर का मतलब था पति, बाद में पति का मतलब सिन्दूर हो गया। वास्तव में अब सिन्दूर ही उसका पति बन गया। सिन्दूर ही उसकी आशा, आकांक्षा, आत्मा और परमात्मा था। सिन्दूर ही ऐसा तिनका भी था, जिसके सहारे वह भयावह तरंगों से भरपूर संसार रूपी महानदी में धारा के विपरीत तैरती रही। आषाढ़-सावन की लम्बी और एकाकी रातों में जब बादल गरजते और बिजली कड़कती और उसका हृदय हाहाकार कर उठता तो सिन्दूर ही उसे प्यार से पुचकारता, सहलाता और उसे आशा, आश्वासन, सुरक्षा, हिम्मत और बल प्रदान करता। औरत की इच्छाओं, हौसलों और अधिकारों से वंचित होने पर भी उसे सिन्दूर ही औरत होने का गर्व और गरिमा देता। और सिन्दूर ने ही दी थी उसे मन को जोड़ने, अपने से और दूसरों से लड़ने और अपनी ही शर्तों पर खड़ा रहने की अद्भुत आत्मिक शक्ति... ।''[39] प्रभा खेतान 'छिन्नमस्ता' में स्त्री के मनोदशा का चित्रण इस तरह करती है '' क्या औरत की जिन्दगी बस एक सही पुरुष की तलाश-भर बनकर रह जाए ? सारे अनुभवों के बाद भी मैंने एक ही बात समझी। सत्ता का लोभ पुरुष को है। सच कहूँ जूडी ? ऐसा प्रेम मेरे लिए बहुत कठिन हो जाता है। समर्पण की यह परम्परा ...अपने बाहर किसी महत के प्रति, इसे तो दोनों पर लागू होना चाहिए था। मगर पुरुष का समर्पण है देवत्व के प्रति। वह भगवान के प्रति जहाँ समर्पण करता है, वहीं भगवान होना भी चाहता है और उसकी यह अपेक्षा स्त्री से, कि स्त्री उसे अपने महत माने...अपनी आहुति दे। ''[40]

5.5.स्त्री का संघर्ष और मुक्ति के सवाल

दुनिया में बहुत सारे समाजों तथा देशों ने आजादी के लिए मुक्ति संघर्ष किए हैं। यहाँ मुक्ति से तात्पर्य किसी भी चीज से मुक्त होना नहीं बल्कि यहां मुक्ति का अर्थ उसकी आजादी (मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक इत्यादि) से है। गुलाम देशों में भी अपनी स्वत्रंत के लिए संघर्ष किया है। देश तो स्वतंत्र हो गया और वहां के नागरिक भी लेकिन इन नागरिकों में स्त्रियों की स्थिति नहीं बदली। आजादी का जश्न तो पुरुष ही मनाता रहा या भोगता रह। स्त्रियों की नियति में कोई परिवर्तन नहीं आया क्योंकि उनकी मानसिकता ही इस तरह निर्मित की गई थी कि उन्हें यह अहसास ही नहीं होता था कि वह गुलाम है? इस मानसिक परतंत्रता को पुरुष सत्ता द्वारा स्पष्ट नहीं किया जाता रहा है। आधुनिकता तथा शिक्षा के प्रसार से स्त्रियों को यह बोध हुआ कि किस तरह उन पर नियंत्रण परिवार, सभ्यता , संस्कृति के नाम पर किया जाता रहा और उसे अपनी

परतंत्रता का अभास तक न होता था । तत्पश्चात समाज के कुछ बुद्धिजीवियों (स्त्री और पुरुष रचनाकार) इस बिडम्बना को अपने लेखन द्वारा रेखांकित कर दूर करने का प्रयास किया।

प्रभा खेतान कृत उपन्यास 'छिन्नमस्ता' मारवाड़ी समाज के स्त्री-जीवन की संघर्ष तथा मुक्ति की गाथा है। इस उपन्यास में एक ऐसे स्त्री का चित्रण किया गया है जो घर से लेकर बाहर तक संघर्ष करती है। उसी तरह 'मुझे चांद चाहिए' में सुरेन्द्र वर्मा जिस स्त्री का चित्रण करते हैं, वह भी अंतिम समय तक संघर्ष करती है। इस उपन्यास की प्रमुख पात्र वर्षा वशिष्ट भी अपने घर से लेकर बाहर तक संघर्ष करती है। 'आवां' की नमिता भी अपने जीवन में संघर्ष करती है एवं मुक्ति का आह्वान करती है। सुरेन्द्र वर्मा ने 'मुझे चांद चाहिए' उपन्यास में परंपरागत घर के परिवेश का चित्रण किया है। जिस घर के बेटियां घर से बाहर नहीं जाती है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री को चारदीवारी में कैद कर दिया गया है। वैसे समाज से वर्षा वशिष्ट विद्रोह कर घर से बाहर पढ़ने जाती है। वर्षा को नाटक में अभिनय करते सुनकर पिता बहुत आहत होते हैं और उसकी मां को कहते हैं ''...मुझे इस लड़की के लच्छन ठीक दिखाई नहीं देते। करोंदे की झाड़ी दोहद के बाद का खिला अशोक बनना चाहती है.... ।''[41] पुरुषवादी व्यवस्था में पिता अक्सर अपने बेटियों के बारे में ऐसा सोचते हैं यह कोई नई बात नहीं है। उपन्यासकार समाज के सच को हमारे सामने रखता है। वर्षा इस परंपरागत समाज में संघर्ष करती है और एक अच्छे मुकाम को हासिल करती है। वर्षा दिव्या कात्याल के सहयोग से जीवन में आगे बढ़ जाती है। वैसे भी वह बचपन से ही अपने सभी भाई-बहनों से अलग रही है। उसके अंदर एक अलग तरह की प्रतिभा है जिसे घर के लोग समझ नहीं पाते। स्त्री-जीवन से संबंधित कई सवालों को उपन्याकार सुरेन्द्र वर्मा ने चित्रित किया है। एक स्त्रीवादी दृष्टि से देखा जाए तो सुरेन्द्र वर्मा समकालीन उपन्यासकारों में पहले ऐसे उपन्यासकार हैं जो स्त्री को अपने उपन्यास में स्थापित करते हैं। पुरुषवादी व्यवस्था में यह उपन्यास एक अलग स्थान रखता है। वर्षा वशिष्ट परंपरागत समाज के बंधनों को तोड़ती दिखती हैं। 'आवां' में भी चित्रा मुद्गल ने नमिता के संघर्ष को उजागर किया हैं। नमिता के साथ कई ऐसी स्त्री का वर्णन भी है जो इस पितृसत्तात्मक समाज में दमित है और आए दिन शोषित होती रहती है। 'आवां' में नमिता के पिता को नमिता के घर से बाहर जाने या मॉडलिंग करने में कोई एतराज नहीं होता है। वैसे भी पिता तो लकवाग्रस्त होने के कारण बिस्तर पर रहते हैं। एक तरह से देखा जाए तो चित्रा मुद्गल ने समाज के यथार्थ को बहुत अच्छे तरीके से रेखांकित किया है। वह समाज के भयावह सच को चित्रित करती हैं। नमिता ऐसी लड़की है जो घर से बाहर तक एक स्त्री होने के नाते शोषित होती है। 'आवां' की नमिता हर जगह संघर्ष ही करती है। स्त्री किसी भी वर्ग की हो संघर्ष तो करना ही पड़ता है। नमिता मजदूर परिवार की बेटी है। इसलिए उसका जीवन यातनापूर्ण है।

विष्णु प्रभाकर ने स्त्री का जो चित्रण किया है वह भी अद्भुत है। उनके यहां स्त्री शोषित होती है लेकिन शोषण के खिलाफ आवाज उठाती है। इनके यहां के सारी स्त्रियाँ जीवन में संघर्ष करती हैं। विष्णु प्रभाकर का कहना है कि स्त्री की मुक्ति पुरुषों के विरुद्ध जाने से नहीं होगा और न उसके खिलाफ युद्ध करने से होगा बल्कि स्त्री को पुरुष व्यवस्था से मुक्त होना होगा।

संदर्भ ग्रंथ

[1] जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृष्ठ संख्या -192
[2] वही, पृष्ठ संख्या -192
[3] वही, पृष्ठ संख्या -190
[4] शंभुनाथ, हिन्दी उपन्यासःराष्ट्र और हाशिया, पृष्ठ संख्या -280
[5] डॉ. ज्योति किरण, हिन्दी उपन्यास और स्त्री-जीवन, पृष्ठ संख्या-47
[6] डॉ. शशिकला त्रिपाठी, उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री, पृष्ठ संख्या-58
[7] मैत्रेयी पुष्पा, सुनो मालिक सुनो, पृष्ठ संख्या- भुमिका से
[8] डॉ. शशिकला त्रिपाठी, उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री, पृष्ठ संख्या-4
[9] राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृष्ठ संख्या-100
[10] शंभुनाथ, हिन्दी उपन्यासः राष्ट्र और हाशिया, पृष्ठ संख्या-287
[11] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृष्ठ संख्या- 265
[12] मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृष्ठ संख्या -104
[13] वही, पृष्ठ संख्या-361
[14] वही, पृष्ठ संख्या -214
[15] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -16
[16] अमरकांत, सुन्नर पांडे की पोतह, पृष्ठ संख्या - 42
[17] वही, पृष्ठ संख्या -49
[18] चित्रा मुदग्ल, आवां, पृष्ठ संख्या -322-323
[19] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या - 60
[20] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या -42-43
[21] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -104
[22] वही,पृष्ठ संख्या -105
[23] वही, पृ-106
[24] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -174
[25] प्रभा खेतान, छिन्नस्ता, पृष्ठ संख्या -115-116
[26] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या - 10
[27] वही, पृष्ठ संख्या -10
[28] वही, पृष्ठ संख्या -60-61
[29] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या -42-43
[30] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या -21
[31] चित्रा मुदग्ल, आवां, पृष्ठ संख्या -433-434
[32] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -167
[33] वही, पृष्ठ संख्या -177
[34] वही , पृष्ठ संख्या - 179
[35] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -180
[36] अर्द्धनारीश्वर, विष्णु प्रभाकर, पृष्ठ संख्या -17
[37] चित्रा मुद्गल, आवां, पृष्ठ संख्या - 43-44
[38] अमरकांत, सुन्नर पांडे की पतोह, पृष्ठ संख्या -28
[39] वही, पृष्ठ संख्या -26
[40] छिन्नमस्ता , प्रभा खेतान, पृष्ठ संख्या -162
[41] सुरेन्द्र वर्मा , मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या -34

अध्याय-6

समकालीन हिन्दी उपन्यास का शिल्प और भाषा

6.1.स्त्री-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए स्त्रियों की भाषा

6.2. स्त्री-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए पुरुषों की भाषा

समकालीन हिन्दी उपन्यास का शिल्प और भाषा

भाषा का साहित्य और समाज से गहरा संबंध होता है । जीवन की अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा एक माध्यम है । भाषा में संप्रेषणीयता का गुण होता है । किसी शब्द का अर्थ जब जीवन की अनुभूति से जुड़कर मस्तिष्क में उतर जाता है तो वह केवल मन मस्तिष्क तक ही सीमित नहीं रहता बल्कि हृदय की गहराई तक पहुँच जाता है । समकालीन उपन्यासों के साथ संप्रेषणीयता की समस्या नहीं है क्योंकि समकालीन समय में जो भी साहित्य लिखा जा रहा है उसकी भाषा आम-बोल चाल की भाषा है । जिसे असानी से समझा जा सकता है। किशोरादास वाजपेजी का कहना है ''मनुष्य ने भाषा का निर्माण किया और भाषा ने मनुष्य का निर्माण किया ।''[1] इस तरह दोनों एक दूसरे के सहजीवी हैं ।

संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा भाषा के द्वारा निर्मित होता है जिससे उस संस्कृति की पहचान बनती है । संस्कृति की पहचान के लिए मनुष्य अपने क्रियाकलाप, आचार-व्यवहार, खान-पान, वेशभूषा, कला-साहित्य आदि अपनी भाषा द्वारा प्रकट करता है । संस्कृति का समाज चाहे शिष्ट हो या लोक समाज, अपनी प्रकटीकरण के लिए वह भाषा को ही माध्यम बनाती है । भाषा को सिर्फ प्रकटीकरण का माध्यम मानना उचित नहीं होगा बल्कि भाषा से संस्कृति भी निर्मित होती है । भाषा का बोली से गहरा संबंध है जो बोली की ताकत भी बनती है । भाषा के संबंध में हबीब तनवीर कहते हैं ''भाषा में बोली की सहज प्रवाहमयता और ग्रहणशीलता जरूर होनी चाहिए । भाषा की रवानगी जीवंत हो, विचारप्रद हो तो वह सीधे भीतर तक उतरती चली जाती है । लैंग्वेज की जो सेंस होती है, उसमें सहजता और सादगी होनी चाहिए ।''[2]

सुधीश पचौरी स्त्री भाषा को स्त्री लेखन से जोड़कर देखते हैं । सुधीश पचौरी का कहना है ''विकसित समाजों में स्त्री-केन्द्र जहाँ पहुँचा है, वहां उसने आधुनिकता के तमाम मूल्यों एवं अधिकार केन्द्रों को तोड़-फोड़ डाला है । वहां स्त्री-लेखन अनिवार्यतया एक तत्व है ।...उसकी अनिवार्य राजनीतिक भाषा है । वह सत्ता के प्रचलित विमर्श पर प्रश्न चिन्ह लगाता है ।''[3] स्त्री उपन्यासकारों की भाषा स्त्री-जीवन के यथार्थ को हमारे सामने खोलकर रखती है । जगदीश्वर चतुर्वेदी का कहना है ''स्त्री भाषा आम भाषा से भिन्न रूप में ही सामने आती है । मसलन पुरुष भाषा के केन्द्र में पुरुष है, तो आम भाषा की धुरी भी वही है । पुरुष को मनुष्य के पर्याय के रूप में पेश किया गया है । स्त्रियों के बारे में जब भी बात की जाती है तो उनके स्वतंत्र नाम नहीं व्यक्त होते। वे मां, बहन, पत्नी, गुमनाम या लिंगीय पहचान से रहित नामों के रूप में आती हैं ।'' स्त्रियों द्वारा लिखे गए उपन्यासों को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट होता है कि उनकी भाषा आम जनजीवन का चित्रण

करती है तो वहीं दूसरी ओर उनके अंतर्मन में उठ रहे संघर्ष और प्रतिक्रिया को रेखांकित करती है। जगदीश्वर चतुर्वेदी का कहना है कि ''स्त्री की बोलचाल की भाषा में पुरुषों की तुलना में ज्यादा झिझक धारा प्रवाह का अभाव, कम से कम तार्किक और कम स्वाग्रही होती है। स्त्रियाँ अमूमन पुरुषों की तुलना में ज्यादा खामोश कम से कम दखलंदाजी करने वाली, ज्यादातर इशारों की भाषा में बोलने वाली और पुरुषों से ज्यादा क्रियाओं का प्रयोग करती हैं, बातचीत में प्रतिस्पर्धा की बजाय सहयोग की रणनीति पर जोर देती हैं।''[4]

पुरुष की भाषा और स्त्री की भाषा में अंतर होता है। यह अंतर इसलिए है क्योंकि पुरुष और स्त्री की मानसिकता में संस्कारों का फर्क होता है। पुरुष की मानसिकता पर पितृसत्तात्मक समाज का संस्कार हावी रहता है जिसे बचपने से उसे घुट्टी की तरह पिलाया जाता है। जबकि स्त्री की मानसिकता पर उसके परिवेश का नियंत्रण होता है। स्त्री का संस्कार पिता से अधिक माँ का है। यानी वह माँ के संस्कारों को ग्रहण करती है। यह भी कह सकते है कि वह माँ की अनुकृति बन जाती है इसलिए जब वह परंपरा से हटकर अपना रास्ता बनाने की कोशिश करती है, तब उसके सामने अनेक समस्याएँ आ खड़ी होती हैं। उसे माँ, बहन, पत्नी और न जाने कितने किरदारों की भूमिका निभाती है। उनको भाषा की मर्यादा का ख्याल रखना होता है। विनम्र भाषा, धीमी आवाज़ और ज्यादा प्रश्न न करने वाले विशेषण स्त्री के जीवन से जुड़ गया है लेकिन आधुनिक स्त्री ने इन मानकों पर चलने से मना कर दिया है। वह अब दबी हुई नहीं बल्कि मुखर भाषा में बोलने लगी है। पश्चिम का जितना प्रभाव पुरुष पर पड़ा है उतना ही स्त्री पर भी पड़ा है। आज की आधुनिक स्वावलम्बी स्त्री के पास अपनी भाषा है। शैली है जिससे वह अपना निर्माण जुड़ कर रही है।

6.1. स्त्री-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए स्त्रियों की भाषा

चित्रा मुद्गल द्वारा रचित उपन्यास 'आवां' की भाषा मुंबई महानगर के जनजीवन से जुड़ी भाषा है। इस उपन्यास में लेखिका मानक हिन्दी के अलावा, बंबइया हिन्दी, गुजराती शब्दों का उच्चारण, मराठी वाक्यों के कुछ ओजपूर्ण स्वर, इसके सिवा अंग्रेजी शब्दों का बेधड़क प्रयोग की हैं। लेखिका मुबंई महानगर के जन- जीवन को जिस तरह से उद्धृत करती हैं वह बहुत ही मार्मिक है। इस उपन्यास में एक ट्रेन के डिब्बे की घटना का दृश्य जिस तरह से चित्रित किया है वह मानवीय संवेदना को झकझोर देता है ''एक डिब्बे में बिजली की मामूली-सी चिनगारी तड़तड़ाई नहीं की विस्फोट के भय से लगभग चालीस महिलाएं जान बचाने की खातिर भड़भड़ाकर डिब्बे से कूद पड़ीं और दूसरी ओर से चली आ रही लोकल के नीचे आकर कट मरीं।''[5] उद्धरण में जिस भाषा का प्रय़ोग लेखिका करती है उससे तो यही साबित होता है कि स्त्री किसी घटना के प्रति कितना

संवेदनशील होती है। वह भावनात्मक रूप से काफी कमजोर होती है। अचानक हुए किसी तरह के घटना को स्त्रियाँ ठीक से समझ नहीं पातीं और सही निर्णय न लेने के कारण घटनाएं घट जाती हैं। 'आवां' में लेखिका मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करती है और साथ ही साथ कहावतों तथा लोकोक्तियों का भी प्रयोग मिलता हैं। स्त्री की भाषा पुरुषों की भाषा से वैसे भी अलग होता है। स्त्री की भाषा जिस तरह से स्त्री की संवेदना, सौन्दर्य से जुड़ा होता है वह एक अलग तरह की घनीभूत गहनता पैदा करती है। इसे एक उदाहरण द्वारा देखा जा सकता है जब गौतमी नमिता को आभूषण की मॉडलिंग करने के लिए कुछ उपदेश देती है ''आभूषणों का सम्मोहन देखने वालों के सिरे तभी चढ़कर बोलता है जब उन्हें पहनते हुए वह लावण्यमयी अंतर्लीन हो, स्वयं से तिरोहित, सदियों पूर्ण की महारानियों, देवदासियों, श्रेष्ठपत्नियों, गृहणियों में परकाया-प्रवेश कर जब उस काल में जा खड़ी होती है तो हमारी आंखों के सामने वह कालखंड अपनी कला-संस्कृति के वैभव के साथ पुनर्प्रतिष्ठित हो उठता है।''[6] स्त्री-जीवन के सौन्दर्य के लिए लेखिका इस तरह के भाषा का प्रयोग कर आभूषण का महत्व बढ़ाती है।

'आवां' उपन्यास की कथावस्तु नमिता पर केन्द्रित है तथा इसमें मुंबई महानगर का जीवन अभिव्यक्त है। करुणाशंकर उपाध्याय का कहना है कि 'आवां' में लेखिका कई सूक्तियों का प्रयोग करती है जैसे-1''जीवन में कोई अकेला नहीं होता है, अकेला वही होता है जिसे अपने ऊपर भरोसा नहीं होता।'' 2 ''प्राथमिकताएं तभी तय होती हैं जब धारा के विरुद्ध हाथ-पांव मारने में आप समर्थ होते हैं।'' 3 ''आत्मनिर्भर होने की परिभाषा है-- स्वयं के बुद्धि विवेक का उपयोग।''[7] इस तरह लेखिका अनेक चिंतनपरक वाक्य का प्रयोग करती है। एक तरह से स्त्री की भाषा पुरुषवादी व्यवस्था से अलग होती है। स्त्रियों की भाषा में ज्यादातर शब्द स्त्री-जीवन की दिनचर्या से जुड़े होते हैं। लेकिन पुरुष की भाषा अलग होती है। उनके शब्द अलग होते हैं।

प्रभा खेतान द्वारा रचित उपन्यास 'छिन्नमस्ता' में मारवाड़ी समाज के भाषा का पुट मिलता है। मारवाड़ी समाज के खान-पान और रहन सहन के लिए लेखिका मानक हिन्दी के अलावा मारवाड़ी समाज की भाषा का प्रयोग करती है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया कहती है ''विरासत में केवल धन नहीं मिलता, स्वभाव भी मिलता है। संजू को पिता का विलासी स्वभाव भी मिला था।''[8] इस तरह के संवेदनात्मक भाषा का प्रयोग प्रभा खेतान करती हैं। स्त्री का जीवन क्या है ? वह जिस भाषा का प्रयोग करती है। वह आम-जन जीवन से ज्यादा जुड़ा होता है। ''भगवान थान सुखी राख बहूजी...राजलक्ष्मी हो...वह बोलता जा रहा था और गठरी बाँध रहा था।...ठाकराजी खुशी-खुशी बोले –छोटा बाबू, बहूजी को जिसो दिल तो कोई को नई...आ देखा मन दो हजार तो रुपया दिया...अर आ सब लीरा (कपड़े)... ।''[9] यहां प्रभा खेतान कई देशज शब्द का प्रयोग करती हैं। 'छिन्नमस्ता' की कथा फ्लैस बैक में चलता है। 'छिन्नमस्ता' की भाषा काफी

सहज है। शिल्प भी सरल है। कोई अवातंर कथा जैसा नहीं लगता है। स्त्री-जीवन की अभिव्यक्ति जिस तरह से लेखिका करती है। पाठक को पढ़ते समय बोझिल नहीं लगता। बल्कि पाठक इस उपन्यास को पढ़ते समय और जिगीसा के साथ उसे पढ़ता है। इस उपन्यास के पात्र जिस भाषा में बात करते हैं वह काफी सहज लगता है। दुरूह जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं करते हैं। कई ऐसे संवाद है जिसकी पठनीयता ब्रेक नहीं लेती है।

पुरुष स्त्री के लिए किस तरह के शब्दों का प्रयोग करता है। नरेन्द्र के शब्दों में ''मत बनाओं मेरे लिए खाना...श्रृंगार पटार करो, रंडियों की तरह ऑफिस में जाकर बैठो।''[10] इसी तरह दाई मां भोजपुरी शब्द का प्रयोग करती है ''अरी दइया री, ई का भइल? इ खून कहां से ? अभई तो दसवाँ बरस लगा है...अरे भगवान ! हमार बिटिया का ई का किए ?...अरे जालिम, अरे कसाई, अपन सगी बहन को भी नहीं छोड़ा''[11] यहां पर भोजपुरी जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है।

'पिछले पन्नें की औरतें' में शरद सिंह डेलन सिंह के द्वारा स्त्रियों के बारे में उनकी मानसिकता को दिखा रही है। डेलन सिंह का कितना अमानवीय संवेदना फुलवा के प्रति रखता है ''ओह...तो तुम मां बनने वाली हो ! लेकिन इसका पिता तो मैं ही हूं न ?...तुम नहीं होते तो मैं तुमसे नहीं कहती...इस मामले में हम बेड़नी झूठ नहीं बोलती ! फुलवा ने कड़वाहट से भरकर कहा।''[12]

'आवा' में संजय कनोई नमिता को एक बच्चा पैदा करने के मशीन मानता है। इसी की अभिव्यक्ति वह अपने भाषा में करता है। जब नमिता का गर्भपात हो जाता है ''तुम मुझसे मेरा सपना नहीं छीन सकतीं...मैं कभी तुम्हें क्षमा नहीं करूंगा, हत्यारिन!..प्राण ले लूंगा मैं तुम्हारे...मुझे मेरा बच्चा चाहिए...जानती हो? बाप बनने के लिए मैंने तुम्हारे ऊपर कितना खर्च किया? उस मामूली औरत अंजना वासवानी की औकात है कि तुम्हारे ऊपर पैसा पानी की तरह बहा सके? उसका जिम्मा सिर्फ इतना-भर था कि वह मेरे पिता बनने में मेरी मदद करे और सौदे के मुताबिक अपना कमीशन खाए।''।[13]

पुरुष किस तरह के भाषा का प्रयोग स्त्री के प्रति करता है। इसका एक उदाहरण 'आवा' में देख सकते है ''मैं रंडियों से बाप नहीं बनना चाहता था, जिनके लिए बच्चा पैदा करना महज सौदा भर हो और जो अनेक से सौदा कर चुकी हो।...मुझे नहीं गँवारा था ऐसी किराए की कोख। मुझे सिर्फ उस लड़की से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो...पवित्र हो, जो मुझसे प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए मां बने।...सिर्फ मुझसे सहवास करे...हमारा मिशन सफल रहा।...तेरह वर्ष बाद मैं बाप बना...अपने बच्चे का बाप। उस औरत से जिसे मैं सचमुच प्यार करने लगा। उसी ने... उसी ने मुझे

धोखा दिया? मेरे बच्चे की जान ले ली...मैं शादी तुमसे करूँ, न करूँ...मुझे बाप बनाकर तुम जीवन भर ऐशो-आराम से रह सकती थी... ।''[14] एक पुरुष के लिए स्त्री की यौन शुचिता बहुत मायने रखता है। जब की पुरुषों के जीवन में न जाने कितनी स्त्रियाँ होती है लेकिन यौन-शुचिता का सवाल उसके ऊपर नहीं उठाया जाता है। 'आवां' में जीवंत भाषा का प्रयोग किया गया है। जिसे पाठक को पढ़ने में कोई दिकत नहीं होती है। इसे एक संवंद द्वारा देख सकते हैं कैसे एक स्त्री अपनी बात को दूसरे स्त्री के सामने अभिव्यक्त करती है ''सॉरी... खुलकर बता , क्या बात है?

'मैं...पेट से हूँ...
तू...?
हांअ...
होश में है ?
आवाज से क्या लग रहा है !
कैसे...जबरदस्ती की किसी ने तुझसे ?
नहीं...
फिर?
सहमति थी मेरी...विरोध नहीं कर पाई।
सहमत न भी होती तब भी विरोध तेरे बूते की बात नहीं थी। है
कौन...पवार ...जिसकी रीछ-सी छाती तुझे बहुत पसंद है...
नहीं। संजय कनोई ! तुझसे चर्चा का मौका ही नहीं मिला।
तू जितनी बाहर उससे सौगुना पेट के भीतर। पचासों बार बातें हुई हैं
हमारी । मजाक भी कि तगड़ा मुर्गा फांसा है। वही है न कैटलॉग वाला?
हुंआ...
हूं की बच्ची...हैदराबाद पढ़ाई करने गई है तू या पेट फुलाने ! और अगर

संजय कनोई के संग तुझे रंगरेलियां मनानी ही थीं तो सावधानी बरतती ? देह कोई चपाती सेंकने का तवा-भर नहीं ...पानी में तब तक आदमी को नहीं कूदना चाहिए, जब तक हाथ-पांव मार तैरना न सीख ले ! कितने महीने हो गए ?''[15] यहां चित्रा मुद्गल कई प्रतिको का प्रयोग करती है।

''हरा समंदर गोपीचंद
बोल मेरी मछली कितना पानी
कितना पानी, कितना पानी
कितना पानी रे...

इतना पानी, इतना पानी
इतना पानी रेSS
कितना...
इतना...

उसकी घेरे बंदी से प्रौढ़ मछली ने प्राणोप्रण छूटने की कोशिश की...छूट नहीं पाई।

पकड़ी गई, पकड़ी गई! हर्ष से कुदकियां भरते हुए उसने ताली बजाई।''[16] सहज भाषा शैली का प्रयोग की गई है।

संवाद की सहजता को रेखांकित करता यह संवाद ''विक्रम...विक्रम कौन ?
मेरा नया दोस्त ! बहुत दिनों से तुमसे बात ही कहां हुई।
शरत से मित्रता खत्म ?
खत्म ही समझ। बेवकूफ है साआSSला जाहिल...
कल तक तो नहीं था?
विक्रम आज का सच है।
ओSS, आंख इतनी देर से क्यों खुला ?
किसी के प्रेम में पड़, समझ में आ जाएगा।
हुआ क्या तुम दोनों के बीच ?
लंबी कहानी है...''[17]

''स्मिता बड़ी स्वाधीन व्यक्तित्व की लड़की है। बच्चा कुंआरी जनूं या भांवरें डालकर, कोई अंतर नहीं पड़ता उसे। लेकिन...उसका भी यही मानना है कि इस वक्त मुझे अपनी पढ़ाई पर ध्यान देने की जरूरत है। बच्चा घर की खेती है। जब जी में आए, जन लेना। यह तो प्रमाणित हो ही गया कि तेरे खेत की मिट्टी बड़ी उपजाऊ है। संजय सुनकर उन्मुक्त हँसी हँसे। बड़ी मजेदार लड़की है ! तुमने कभी मिलवाया नहीं? मुंबई में मुझसे कितनी बार मिले आप ? उनकी हँसी में उसकी खनक भी दाखिल हो गई।''[18] कहने का शैली सहज भाषा में।

'सेज पर संस्कृत' उपन्यास की भाषा दुरूह भाषा नहीं है। ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जो असानी से समझा जा सकता है। उपन्यास की पठनीयता प्रेषणीय है। पाठक को ब्रेक लेकर पढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती है। कथा का प्रवाह सहज है लेकिन कथा के बीच में कुछ अनवश्यक कथा चलती है जो उपन्यास के गुणवता को पुष्ट नहीं करता है बल्कि थोपा हुआ लगता है। इस

उपन्यास का एक पात्र छुटकी की मृत्यु का प्रसंग गद्य कविता में अभिव्यक्त किया है। प्रसंग काफी व्यथा-भरी है।

''जरा जरा कर शेष हुई छुटकी।
अन्तहीन क्षणों के मामूली से क्षण में अनन्त में विलीन हुई।
मुट्ठी भर राख हुई।
इतिहास हुई।''[19]

इसी तरह एक प्रतीक को देख सकते हैं। लेखिका कैसे छुटकी के पीड़ा को अभिव्यक्त करती है। ''तीर बिंधे पाखी की तरह फड़फड़ाई छुटकी। आँखों से बहते आँसुओं को पोंछते हुए कहा-जीजी, इन बदनाम गलियों का रास्ता किसी घर में नहीं , सीधा मरघट तक ही जाता है। कितना नाम तुम्हारा...इतने सालों तक तुम्हारी इज्जत पर मैंने अपने चलते आँच नहीं आने दी तो अब मरते वक्त...और सच पूछो जीजी, तो यह दुनिया भी उतनी बुरी नहीं। यहाँ कम-से-कम कोई किसी को बदचलन तो नहीं कहता। उस तपोवन से भी अच्छी है यह दुनिया जिसने आज तक जाने कितनी औरतों को सहारा दिया पर किसी को पापिन कहकर निकाला नहीं। मुझे गलत मत समझना जीजी, पर मुझे तुम्हारी पवित्र दुनिया से अब डर लगने लगा।''[20] लेखिका एकदम जीवंत भाषा का प्रयोग की है। शिल्प इतना सहज है कि पाठक को समझने में कोई दिक्कत नहीं हो सकता है। इसी तरह अनामिका के उपन्यास 'तिनका तिनके पास' की भाषा सहज है। अनामिका ज्यादातर लोकप्रचलित शब्द का प्रयोग करती है। इनके यहां कहने की शैली गद्य को पद्य गद्य में कहती है। कई जहग पद्य का प्रयोग की है। उपन्यास के कथा संसार को इस प्रकार व्यक्त करती दिखती है ''फ्लैट्स का जीवन सचमुच फ्लैट था-खासकर वृद्धजनों के लिए क्योंकि एक जीवंत पड़ोस की इयत्ता से बेखबर थे ये फ्लैट्स ! वह एक सार्वजनिक खटिया जो गलियों में किसी घर के आगे यों ही पड़ी रहती थी-वृद्धों और बच्चों का फेफड़ा ही मानिए उसको –एक बड़ा ब्रीदिंग स्पेस! यदि अब इसकी कोई गुंजायश होती तो मैं यहीं आकर मिल लेती अपनी सासु माँ से ! इसी स्पेस के अभाव में हम मंदिर में मिलते ! आपस का दुख-सुख बतियाते ! कुछ राय-मशविरे उनसे लेती! पाक विधियाँ पूछती और आयुर्वेदिक नुस्से ! अक्सर उनकी पसंद की चीजें बना लाती ! एकाधबार स्पन्दन भी साथ आया और दादी को लिए गया हल्दीराम की कचौड़ियाँ खिलाने !''[21]

कृष्णा सोबती के उपन्यास 'समय सरगम' में सहज भाषा का प्रयोग किया गया है। ''यह नहीं पूछेंगी कि अब तक कहाँ थीं बेटियाँ। जानती हूँ। बेटियाँ आसानी से मिल जाती हैं अगर गर्भ में ही नष्ट न कर दी जाएँ।''[22] यहाँ पर लेखिका इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की सीमित परिधि का रेखांकन किया है। इसी तरह 'कलि-कथाः वाया बाइपास' उपन्यास का कैनवास बड़ा है तथा

यह उपन्यास कथावस्तु के लिहाज, कलात्मकता के लिहाज से बहुत ही बेहतरीन है। भाषा सहज है। उबाऊ तथा बोझिल नहीं है। पाठक आगे के घटना को जानने के लिए पढ़ता जाता है। घटना पाठक को जोड़ कर रखता है। कुछ अवांतर कथा चलती है। उस कथा को उपन्यास से निकाल देने पर उपन्यास पर कोई ज्यादा फर्क नहीं पड़ सकता है। पात्रों के संवादधर्मिता सहज है। पात्र आपस में बात करते है। कथा स्पष्ट करने के लिए कभी-कभी लेखिका को आना पड़ता है। इसमें कोलकत्ता के परिवेश तथा मारवाड़ी समाज का वर्णन किया गया है।

6.2. स्त्री-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए पुरुषों की भाषा

सुरेन्द्र वर्मा 'मुझे चांद चाहिए' में जिस तरह की भाषा का प्रयोग करते हैं उसे कहीं समझना आसान है तो कहीं जटिल शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसके अलावा कुछ अवांतर कथा भी बीच-बीच में चलती रहती है। जिसका उपन्यास में बहुत महत्व नहीं है। उपन्यास बहुत मोटा होने के कारण पाठक को पढ़ने में भी बहुत बोझिल हो जाता है। उपन्यास और नाटक दोनों अलग विधा है लेकिन उपन्यासकार इस उपन्याम में नाटकिय दृश्यों का प्रयोग ज्यादा किया है। 'मुझे चांद चाहिए' में क्लिष्ट भाषा का प्रयोग किया गया है।

हलांकि कथा की बुनावट ठीक है जिस मुद्दे को उठाया गया है। वह कुछ नयापन ले कर आया है। कुछ अटपटे शब्दों का प्रयोग है। कुछ संवाद में गाली जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। स्त्री के शरीर पर केन्द्रित गालियां हैं। अक्सर गालियां स्त्री के शरीर को केन्द्र में रख कर दिया जाता है। ''हर्ष फुंकार उठा, मक्कार ! हरामजादी ! मादरचोद ! उसकी लागत एक लाख के करीब होनी चाहिए । चलो, दरें ऊँची लगाते हुए डेढ़ मान लो। माधव से वह तीन लाख लायी है। इसमें से डेढ़ तो उसने पहले ही अंदर कर लिए हैं। अब सीधे पाँच के लिए मुँह फाड़ रही है ? उसके होश ठिकाने हैं या नहीं ? 'मुक्ति' के अधिकारों के साथ वह अपने आप को भी बेच दी, तो उस कुतिया का कौन-सा आशिक उसे पांच लाख दे देगा ?...घाटकोपर की रंडी साली...उसकी वल्दियत तक तो डाउटफुल है...उसकी मां भी एक्ट्रैस थी। सिर्फ बड़ा बेटा शौहर से पैदा हुआ था। बाद की चार औलादों के बाप अलग-अलग हैं। मां जब ठर्रे में धुत्त होती थी, रंजना को बाप का नाम शिंदे बताती थी और जब होश में होती थी, तो मिस्त्री...शायद अम्माँ को खुद नहीं मालूम था... ।''[23] पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष का वर्चस्व भाषा पर भी दिखता है। पुरुष जिस तरह की भाषा का प्रयोग आम-बोल चाल के शब्दों में करता है स्त्रियाँ वैसी भाषा का प्रयोग नहीं कर पाती। पुरुष इस तरह के भाषा का प्रयोग धड़ल्ले से करता है।

सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास की भाषा संस्कृतनिष्ट है। कई ऐसे शब्दों का प्रयोग है जो देशज न होकर तत्सम प्रधान है। 'मुझे चांद चाहिए' उपन्यास में कृत्रिम और अनुवाद वाली भाषा का ज्यादा प्रयोग हुआ है तथा कुछ व्यंगात्मक लहजे अपनाए गए हैं। उपन्यासकार संस्कृत के नाटक से काफी प्रभावित दिखते हैं जिसके कारण पूरे उपन्यास में कालीदास की उपमाओं का प्रयोग किया है। इसकी भाषा सहज नहीं है ऐसे कई शब्दों का प्रयोग किया गया है जो आम पाठक के लिए समझना आसान नहीं है।

स्त्री से संबंधित कई ऐसी घटना का वर्णन है जो विकृत मानसिकता को दर्शाता है। इसका उदाहरण देखिए ''किसी ने उसके काफ्तान की जिप खोली, फिर उसे कंधों से सरकाने लगा। छाया तंग मत करो। वर्षा कुनकुनाई। कोई सुगन्धित क्रीम उसकी पीठ पर मल रहा था। ब्रा के स्टैप के नीचे पतली-पतली अँगुलियाँ। नाजुक कोमल स्पर्श। शिराएँ धीरे-धीरे सुगबुगाने लगीं। वर्षा की देह अपने आप ढीली हो गई। स्पर्श और नीचे फिसला, कमर से होता हुआ जाँघों और पिंडलियों तक। वर्षा के होठों पर बारीक-सी मुस्कान आ गई फिर किसी ने हौले से उसे सीधा किया। क्रीम की खुशबूदार तरलता बाँहों पर फैली। मुलायम हथेलियों ने उसे एकसार किया। फिर गले से होता हुआ स्पर्श उरोजों को छूता हुआ सपाट पेट को सहलाने लगा। फिर जंघाओं की मांसलता पर अठखेलियाँ करने लगा। वर्षा गुनगुनी समसनी से भर उठी...।''[24] इस तरह के कामुक वर्णन पुरुषों के यहां ज्यादा मिलते हैं। जो पाठक को अंदर तक झकझोर सकें। पुरुषों के यहां स्त्री 'देह' की भाषा का प्रयोग अत्यधिक होता है।

हर्ष कहता है ''तुम उस कुतिया को जानती नहीं हो। हर्ष के नथुने फड़कने लगे, मुझे अपने दरवाजे पर देखकर वह पाँच के छह लाख कर देगी। वर्षा असहाय-सी देखती रही। हर्ष व्यग्रता से नंबर मिला रहा था। वर्षों के संघर्ष का परिणाम, जिसके ऊपर कई जिंदगियाँ निर्भर करती थीं, कुछ क्षणों में घोषित होने वाला था। हे प्रभु, रंजना घर पर न हो, वर्षा ने प्रार्थना की। यह मैं क्या सुन रहा हूँ ? हर्ष माउथपीस में बोल रहा था। वर्षा खिड़की के बाहर देखने लगी, जहाँ वर्सोवा गाँव की रोशनियाँ झिलमिला रही थीं। हवा में मछलियों की हल्की–सी गंध थी। यू बिच, यू स्लट...यू स्टिकिंग कंट... हर्ष ने बौखलाकर रिसीवर क्रेडिल पर पटक दिया।''[25]

'मुन्नी मोबाइल' में प्रदीप सौरभ मुन्नी के लिए इस भाषा का प्रयोग करते हैं ''अपने गाँव के गुर्जर और जाटों को भी वह नहीं छोड़ती थी। दोनों गाँव के दबंग जाति के लोग थे। मुन्नी के पास सच की ताकत थी। उनके पास अपराध और झूठ का साम्राज्य था। इसलिए हर मौके पर मुन्नी की जीत होती थी। बात-बात पर वह सबको ललकारती और कहती , ' मेरा नाम मुन्नी मोबाइल है और बिहार की रहने वाली हूँ।''[26]

इस उपन्यास में स्त्री –पुरुष के संवाद को देख सकते है ''मुन्नी अपने में मस्त रहने लगी थी। स्टैंडर्ड भी बढ़ गया था। पढ़ाई-लिखाई के महत्व को वह नहीं समझती थी। इसलिए वह अपने बच्चों की पढ़ाई पर ज्यादा ध्यान नहीं देती थी। बच्चे स्कूल गये कि नहीं इस सबसे वह बेखबर रहती थी। आनंद भारती को यह नहीं अच्छा लगता था कि उसके बच्चे पढ़े लिखे न। इसलिए जब भी वह मुन्नी से उसके बच्चों की पढ़ाई-लिखाई के बारे में पूछते तो वह टाल जाती। कहती, ''पैसे कमाने के लिए लोग पढ़ाई-लिखाई करते हैं और मैं बिना पढ़े-लिखे पैसा कमा रही हूँ। गाँव में रात को बूढ़ी औरतों को पढ़ाने के लिए लोग आते हैं। अब वे पढ़ कर क्या कर लेंगी। उन्हें तो चूल्हा –चौका ही करना है और अपने मर्दों से मार खानी है।' मुन्नी ऐसे तर्क देती कि आनंद भारती कुछ कह न सकें।''[27]

'गाँव भीतर गाँव' सत्यनारायण पटेल द्वारा रचित उपन्यास है। इस उपन्यास में अपने नाम के साथ गँवई भाषा का पुट भी मिलता है। जैसे –बाँका, चुँका शब्द का प्रयोग किया गया है। इस उपन्यास का एक दृश्य है। जिससे हम यह देख सकते हैं कि उपन्यासकार कसा हुआ जीवंत शिल्प का प्रयोग किया है। ''तभी एक दिन रफीक भाई ने भी पहली बार एनजीओ के बारे में सुना। सुना तो उसके मन में जैसे उम्मीद की लौ दिपदिपायी। कुछ एनजीओ कर्मियों के सम्पर्क में आया। एनजीओ को ठीक से जानने-समझने लगा। तरह-तरह के शिविर, सेमिनार और वर्कशॉप में जाने लगा। कुछ ही साल में उसने अपना एक एनजीओ भी बना लिया।''[28] इसी तरह जिस प्रतीक का प्रयोग किया है वह काफी जीवंत है। भाषा में भी जीवंतता है। ''झब्बू ने भाँप लिया कि चँद, फूँदा, धापू और श्यामू क्या सोच रही थीं, कि आँखों ही आँखों में वे क्या बात कर रही थीं ? लेकिन झब्बू चुप रही और सोचने लगी-रामरति को कहाँ बैठाऊँ ? पहले से बिछी छादरी पर खाली जगह नी है और दूसरी छादरी भी नी है।''[29] उसी तरह एक और प्रसंग है जो काफी जीवंत दिखता है ''झब्बू नजरों से कुछ इधर-उधर ढूँढने लगी। तभी सिलाई मशीन के पास वाली ओटली पर पल्ली का टुकड़ा नजर आया। उसने पल्ली के टुकड़े को छादरी की बगल में बिछाया। फिर रामरति और झब्बू उसी पर बैठीं। सभी साथिनें भी थोड़ी-थोड़ी सरक आयीं। जब सब इत्मीनान से बैठ गयीं, तब झब्बू बोली-मैंने जाँ सिलाई सीखी, वाँ से ये बात भी सीख। हम सब मनकर एक ही गारे के बने। फिर कैसी ऊँच-नीच ! सब एक जात-इंसान।''[30]

निष्कर्षः कह सकते हैं कि स्त्री और पुरुष उपन्यासकारों की भाषा में अंतर होता है। स्त्री का बोलने का ढंग, पुरुष के बोलने का ढंग में समाज और परिवेश का प्रभाव होता है। 'तिनका तिनके पास' में अनामिका आज की शासन व्यवस्था पर प्रहार करते हुए जिस भाषा का प्रयोग करती हैं वह भषा अपनी मारगक क्षमता के कारण पाठक को अपनी शासन व्यवस्था पर सोचने को मजबूर करती है। ''अरे वाह, आप तो लाल बुझक्कड़ ठहरीं ! हम यहाँ के कन्या-विद्यालय

की पी.जी.टी. हैं । लेकिन अभी हमें तनख्वाह नहीं मिलती...मिलने लगेगी! सचिवालय के हड़ताली चौक पर हमने धरना किया था...ये हम नहीं कहते कि एक बार में माँगें पूरी-की-पूरी मान ली जाएँ ! प्रजातंत्र तो मामला ही रगड़घस्स का है, कोशिश जारी हैं ! मसुआई माचिस ही सही, मगर माचिस तो है... जलने की उम्मीद जिंदाबाद ! प्रजातंत्र फिर भी गनीमत है... ।''[31]

उसी तरह 'रेहन पर रग्घू' में काशीनाथ सिंह आज की लचर हो चुकी शिक्षा व्यवस्था पर प्रहार करते हुए कहते हैं ''तुम्हारा मन नहीं लग रहा है पढ़ाने में । अक्सर क्लास छोड़ रहे हो और बाहर ही रहते हो ! ऐसा तो नहीं है ! जरूरत पड़ने पर एक्स्ट्रा क्लासेज लेता हूँ और कोर्स पूरा करता हूँ ! रिजल्ट कभी खराब नहीं आता मेरे लड़कों का ! ठीक है! मगर मैं दो बार गया इस बीच और दोनों बार पाया गैरहाजिर ! खैर, यह आप और प्रिंसिपल साहब के बीच की बातें हैं, हमसे क्या मतलब? ''[32] यहां पर हम देखते हैं कि जिस तरह 'तिनका तिनके पास' में अनामिका लोक में प्रचलित शब्दों जैसे –लालबुझक्कड़, रगड़घस्स, मसुआई जैसे शब्दों का प्रयोग करती हैं, वहीं पर काशीनाथ सिंह अपने उपन्यास में अंग्रेजी के शब्दों –क्लास, एक्सट्रा, कोर्स, रिजल्ट आदि अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से करते हैं । हम देखते हैं कि चाहे वह पुरुष उपन्यासकार हो या स्त्री उपन्यासकार समाज में प्रचलित शब्दों का प्रयोग अपनी भावनाओं का स्पष्ट करने के लिए बखूबी करते हैं चाहे वह देशज शब्द हो या अंग्रेजी के शब्द । इन्होंने खास किस्सागोई शैली को अपनाया है तथा कई सूक्तियों का प्रयोग किया है ''भ्रम और भरोसा...ये ही जिन्दगी के स्रोत । इन्हीं स्रोतो से फूटती है जिन्दगी और वह निकलती है कलकल-छलछल!...हादसा न हो तो जिन्दगी क्या ? ...रूप रंग, हाव-भाव, नाज-नखरे लड़की में देखे जाते हैं, पत्नी में नहीं ।''[33] यहां पर आज के युवा पीढ़ी के मन के भाव को प्रकट किया गया है ।

'मुन्नी मोबाइल' में उपन्यासकार एक नये शिल्प का निर्माण करते दिखते हैं । जिस तरह से मुन्नी मोबाइल और रेखाचितकबरी जैसे नामों एक नयापन दिखता है । मुन्नी दूसरों के घर में खाना बनाने का काम करती है । वह देहात की रहती है और महानगर में आ कर महानगरों की आबो-हवा में ढल जाती है । यह नया है । उसी तरह 'मुझे चांद चाहिए' में वर्षा वशिष्ठ जिस तरह फिल्म, प्रसिद्ध नाट्य कर्मी बनती है । थकावट को दूर करने के लिए शराब पीति है और पिता के पूछे जाने पर कहती है थकावट को दूर करने के लिए पी रही है। इस तरह के चरित्र गढ़े गए । यह समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अपना एक अलह महत्व रखता है । जहाँ स्त्रियाँ सिर्फ चूल्हे-चौकी में फंसी रहती थी वही आज स्त्रियाँ कहां से कहां पहुँच रही है । यह एक नया कथ्य का निर्माण है । इसी तरह 'आवां' की नमिता एक प्रसिद्ध मॉडल बनती है । 'छिन्नमस्ता' की प्रिया देश से लेकर विदेशों में अपना व्यपार फैलाती है ।

संदर्भ ग्रंथ

[1] जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृष्ठ संख्या -272
[2] सापेक्ष, संपादक, महावीर अग्रवाल, अंक, जनवरी-2004, पृष्ठ संख्या -49
[3] स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृष्ठ संख्या -275
[4] जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृष्ठ संख्या -270
[5] आवां, चित्रामुदग्ल, पृष्ठ संख्या - 15
[6] वही, पृष्ठ संख्या - 287
[7] आवां विमर्श, करुणाशंकर उपाध्याय, पृष्ठ संख्या -206
[8] छिन्नमस्ता, प्रभा खेतान, पृष्ठ संख्या -187
[9] वही, पृष्ठ संख्या -166
[10] प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृष्ठ संख्या -154
[11] वही, पृष्ठ संख्या -16
[12] शरद सिंह, पिछले पन्ने रकी औरतें, पृष्ठ संख्या - 80
[13] चित्रा मुदग्ल,आवां, पृष्ठ संख्या -539
[14] वही, पृष्ठ संख्या -539
[15] चित्रा मुद्गल, आवां, पृष्ठ संख्या -507-508
[16] वही, पृष्ठ संख्या -381
[17] वही, पृष्ठ संख्या -204
[18] वही, पृष्ठ संख्या 525
[19] मधु काँकरिया, सेज पर संस्कृत, पृष्ठ संख्या -217
[20] वही, पृष्ठ संख्या -211
[21] अनामिका, तिनका तिनके पास, पृष्ठ संख्या -149
[22] कृष्णा सोबती, समय सरगम, पृष्ठ संख्या -114
[23] सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चांद चाहिए, पृष्ठ संख्या -482
[24] मुझे चांद चाहिए, सुरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ संख्या -268
[25] वही, पृ.-483
[26] प्रदीप सौरभ, मुन्नी मोबाइल, पृष्ठ संख्या -77
[27] वही, पृष्ठ संख्या -76
[28] सत्यनारायण, गाँव भीतर गाँव, पृष्ठ संखअया -45
[29] वही, पृष्ठ संख्या -44
[30] वही, पृष्ठ संख्या -44
[31] अनामिका, तिनका तिनके पास, पृष्ठ संख्या -9
[32] काशीनाथ सिंह, रेहन पर रग्घू , पृष्ठ संख्या -47

उपसंहार

उपसंहार

प्रस्तुत शोध-प्रबंध का विषय 'समकालीन हिन्दी उपन्यासों में अभिव्यक्त स्त्री-जीवन' (1990-2015) है। शोध-प्रबंध में यह देखने की कोशिश की गई है कि समकालीन हिन्दी उपन्यासों में स्त्री और पुरुष उपन्यासकारों ने स्त्री-जीवन के बदलते परिदृश्य को किस रूप में अभिव्यक्त किया ? इसके साथ यह भी समझने की कोशिश की गई है कि स्त्री के सामाजिक तथा व्यावहारिक जीवन का स्वरूप किस तरह बदला है। जो बदला है वह कहाँ तक सार्थक है। इस बदलते स्वरूप की अभिव्यक्ति साहित्य में किस प्रकार हुई है ? क्या स्त्रियों और पुरुषों को समान समझा जा रहा है, समाज में उन्हें समान स्थान मिल रहा है, आदि प्रश्नों को ढूँढ़ने का प्रयास इस शोध-प्रबंध में किया गया है।

साहित्य समाज का दर्पण है। सामाजिक घटनाएँ साहित्यिक अभिव्यक्ति में प्रतिलक्षित होती हैं। या यूँ कहें कि साहित्य सामाजिक घटनाओं की अभिव्यक्ति करता है। साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है कि वह अपने समकालीन समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक गतिविधियों को प्रतिबिंबित करता है। वह अपने वर्तमान समय की समस्याओं, बदलाव एवं सामाजिक उथल-पुथल को रेखांकित करता है। समकालीन साहित्य में स्त्री-जीवन के बदलते सरोकारों को अच्छी तरह से अभिव्यक्ति मिली है। आज का समय विमर्श का समय है। वर्तमान समय में जो भी साहित्य लिखा जा रहा है उसमें स्त्री विमर्श के स्वर मौजूद हैं। यह साहित्य चाहे स्त्री रचनकारों द्वारा लिखा जा रहा हो या पुरुष रचनकारों द्वारा।

हिन्दी साहित्य जगत में उपन्यास का प्रारंभ 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। बल्कि यह कहना सही होगा कि हिन्दी में गद्य साहित्य की शुरुआत के साथ ही उपन्यास का आविर्भाव हुआ। उपन्यास का फलक काफी विस्तृत होता है। जिसमें मानव जीवन की कथा, मानव की भाषा में कही जाती है। साहित्य की समस्त सर्जनात्मक विधाओं में उपन्यास सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधा है। एक तरह से देखा जाए तो उपन्यास में मानव जीवन की कथा अन्य विधाओं से कहीं अधिक जीवंतता के साथ चित्रित होती है। इसमें मानव जीवन के हर एक पहलू को पूरी तन्मयता के साथ अभिव्यक्त किया जाता है। संभवतः उपन्यास में मानव जीवन की सर्वांगीण छवि को अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है। आधुनिक युग में उपन्यास का उदय यूरोप में हुआ। वहां पर इसके उदय के अनुकूल जमीन पहले से ही तैयार हो गई थी। बाद में यह विधा धीरे-धीरे पूरे विश्व में फैलकर विश्वव्यापी बन गयी। यह सच है कि उपन्यास एक ऐसा माध्यम है जो अन्य साहित्यिक विधाओं की तुलना में अधिक समाजबद्ध, इतिहास-निर्भर और समय-सापेक्ष है।

शुरुआती दौर में जितने भी उपन्यास लिखे गए उन सभी उपन्यासों में स्त्री शोषण और स्त्री उत्पीड़न का चित्रण कम मिलता है। हिन्दी उपन्यास में स्त्री-जीवन का चित्रण प्रारंभिक युग से लेकर स्वातंत्र्योत्तर युग तक बदलता हुआ दिखता है। स्त्री के जीवन की जो स्थिति प्रारंभिक युग में थी। वह बहुत हद तक प्रेमचंद युग तक आते-आते सामाजिक परिवेश और लोगों की बदलती धारणा के कारण बदलती दिखती है लेकिन फिर भी स्त्री का शोषण कम नहीं होता। प्रारंभिक युग में एक आदर्श स्त्री की छवि गढ़ी गई तथा प्रारंभिक स्त्री शिक्षा पर ज्यादा जोर दिया गया। प्रारंभिक स्त्री शिक्षा पर जोर देने का उद्देश्य स्त्री को गृहस्थी में निपुण बनाना था। इस युग के उपन्यासों में सामाजिक कुरीतियों के प्रति नयी चेतना तो दिखाई देती है लेकिन उसके विरुद्ध कोई सामाजिक संघर्ष नहीं दिखाई देता। इसके बरक्स सिर्फ समस्या का चित्रण मात्र किया गया है। वहीं पर प्रेमचंद युग में प्रेमचंद के आगमन के साथ उपन्यास का और विकास हुआ। इस युग में स्त्री-जीवन से संबंधित मूल समस्या पर उपन्यासकारों ने ध्यान दिया।

समाज में स्त्री और पुरुष चरित्र के मापदंड अलग-अलग रहे हैं। पुरुषवादी व्यवस्था ने स्त्रियों के लिए सदियों पूर्व जो दकियानूसी और घटिया स्तर की मान्यताएं गढ़ी थी, वे वर्तमान समाज में ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। मनुवादी व्यवस्था ने स्त्री को नरक के ऐसे गड्ढे में धकेल दिया है जिससे उबरना उसके लिए आज भी दुष्कर बना हुआ है, जिससे उबरने के लिए स्त्री संघर्ष करती आई है। स्त्री का यह संघर्ष बुद्ध के समय भी था और आज भी है। मनुवादी व्यवस्था ने वर्ण व्यवस्था के चलते शूद्रों वर्ण के साथ साथ स्त्री को भी समस्त मानव अधिकारों से वंचित कर दिया। आज इक्कीसवीं सदी में भी स्त्रियाँ मनुवादी व्यवस्था की शिकार बनी हुई है, जिसे तोड़ना आसान नहीं दिखता। स्त्री और पुरुष दोनों मनुवादी संस्कारों से ग्रस्त हैं और जब तक स्त्री-पुरुष दोनों की मानसिकता नहीं बदलेगी तब तक स्त्रियों की स्थिति नहीं सुधरेगी। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यते, रमयन्ते तत्र देवता' वाले पुरुष प्रधान समाज ने स्त्री को गुलाम बनाया। जितने भी जटिल से जटिल नियम किसी के लिए बनाए जा सकते थे उससे भी जटिल नियम स्त्रियों के लिए बनाए गए। आज भी स्त्री को 'भोग की वस्तु' और संतान उत्पन्न करने की मशीन माना जाता है। जबकि स्त्री और पुरुष दोनों का समान अधिकार एक स्वस्थ समाज के लिए आवश्य है।

यह सच है कि स्त्री समाज के आधे हिस्से का प्रतिनिधित्व करती है। यह आधी-आबादी सदियों से पितृसत्तात्मक समाज में शोषित होती रही है। इस आधी आबादी के पास यह अधिकार नहीं है कि वह अपना निर्णय स्वयं ले सके। वह सदियों से पुरुषों द्वारा संचालित होती रही है। इस पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री के कर्त्तव्य को एक आदर्श माता, आदर्श पत्नी और आदर्श बेटी के रूप में

ही पारिभाषित किया रहा है। समाज में पुरुषों का वर्चस्व आज से नहीं बल्कि सदियों से रहा है। इसलिए आज भी स्त्री स्वतंत्र नहीं है। आज स्त्री को कुछ हद तक आजादी मिलने के बावजूद है उसका दायरा अभी भी सीमित है। वह अपने जीवन का निर्णय स्वयं नहीं ले पाती। वह आर्थिक रूप से संबल तो हुई है फिर भी अपने जीवन का निर्णय लेने में सक्षम नहीं हुई है। स्त्री आज भी पिता, पति, पुत्र पर निर्भर है। उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं होता है। अपने अस्तित्व के लिए स्त्री आज भी संघर्ष कर रही है।

स्वतंत्रता के बाद जो भी हिन्दी उपन्यास लिखे गए उनमें भारतीय स्त्री की आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक स्थितियों की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। समाज में पुरुषों का वर्चस्व है तथा सामाजिक व्यवस्था का सारा बागडोर उसी के हाथों में होता है। इसी कारण पुरुष सदियों से स्त्री को अपनी सम्पति समझता रहा है। स्वातंत्र्योत्तर युग में स्त्री चेतनशील और शिक्षित हुई। शिक्षित होने के कारण वह अपने अधिकारों को समझने लगी। वह पुरुषों के खिलाफ खड़ी होने लगी। सदियों से शोषण की शिकार स्त्री इस युग में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करने लगी। स्वतंत्रता के बाद स्त्री आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी जगहों पर अपनी भागीदारी निभाने लगी।

साथ ही स्वतंत्रता के बाद समाज में आमूल चूल परिवर्तन आया, जिसका प्रभाव स्त्री के जीवन पर भी पड़ा। स्वतंत्रता के बाद सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियां बदली है, जिससे स्त्रियों की स्थिति में बदलाव आया। बदलते परिदृश्य को महिला लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं में चित्रित किया है। घर और बाहर यहां तक की साहित्य जगत में भी स्त्री को चुप कराने की परंपरा रही है। जबकि स्वातंत्र्योत्तर युग के उपन्यासकार उषा प्रियंवदा की स्त्री नायिका अपनी बात कहती है और स्वयं निर्ण लेती है। आजादी के बाद सुषमा जैसी स्त्री पात्र गढ़ी जाने लगी। सुषमा अपने से पांच साल छोटे लड़के से प्रेम करती है और आपसी मर्जी से दोनों का शारीरिक संबंध भी होता है। परंतु सुषमा शादी से मना करती है क्योंकि सुषमा शिक्षित और आत्मनिर्भर तो हो जाती है लेकिन परंपरावादी समाज के दबाव से मुक्त नहीं हो पाती है। वह परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व में झूल रही है। सुषमा का नील से बार-बार यह कहना कि नील अब तुम मुझसे मत मिला करो। यह सचमुच उस सामाजिक व्यवस्था का दबाव दिखाता है जहाँ समाज में उसे यह सिखाया जाता है कि कुछ ऐसा मत करना जिससे हम किसी को मुंह दिखाने लायक न रहें। इस तरह की समस्या स्त्रियाँ सदियों से झेलती रही हैं। पुरुषवादी व्यवस्था उसे स्वतंत्र होकर जीवन जीने की इजाजत नहीं देती है क्योंकि स्त्रियाँ घर की इज्जत मानी जाती हैं।

1990 के बाद उपन्यास का कलेवर बदला। उपन्यास ही एक ऐसी विधा है जो मानव जीवन की समस्याओं को बहुआयामी तरीके से अभिव्यक्त करने लगा है। 1990 के दशक में कई घटनाएं घटित हुईं। नव औपनिवेशिक स्थितियां, विस्थापन की समस्या, स्त्री, दलित विमर्श अपनी अस्मिता के लिए खड़ा हुआ। समकालीन उपन्यास अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों के साथ संघर्ष करते हुए अपने सामाजिक सरोकारों का यथार्थ चित्रण करता है। समकालीन उपन्यास अपने समय के सच का अनावरण करता है तथा मानव विरोधी तत्वों के खिलाफ विरोध जाहिर करता है।

भारत के समकालीन परिदृश्य को देखें तो दिल दहला देने वाली घटनाएं हमारे समाज में आज भी मौजूद हैं। भारत का कोई भी ऐसा राज्य नहीं है जहाँ स्त्री-शोषण की घटनाएं आए दिन न घटती हों। दरअसल, पूरे सामाजिक परिदृश्य में स्त्री को दोयम दर्जे का नागरिक माना जाता है। उन्हें एक तरफ घर में माता और लक्ष्मी कहा जाता है लेकिन दूसरी तरफ उनके साथ बलात्कार किया जाता है। पितृसत्तात्मक समाज ऐसी विडम्बना की रचना करता है, जो कहता कुछ है और करता कुछ और। स्त्री की समस्या भारतीय समाज तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसे हम वैश्विक परिदृश्य पर भी देख सकते है। धर्म, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों, विधि-विधानों तथा सामाजिक परंपराओं में स्त्रियों को जबरन बांधा जाता रहा है। वह समाज में दोयम दर्जे की नागरिक रही है। या यूं कहें कि स्त्री हमेशा से पुरुषों के आधीन रही है। इसके पीछे एक बहुत बड़ा कारण सामाजिक संरचना का विधान है। यह सामाजिक संरचना स्त्री को नियंत्रित करती है।

आज स्त्री शिक्षित हुई है, वह पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम कर रही है। समकालीन समय में स्त्री डॉक्टर, वकील, शिक्षक, सैनिक, इंजीनियर आदि बन रही है। कार्यालय में काम करने के साथ ही साथ स्त्री घर में भी अपनी जिम्मेदारी अच्छी तरीके से निभा रही है। कौन सा पद ऐसा है जिस पर आज स्त्री नहीं है? वह बड़े-बड़े कार्यालयों से लेकर राष्ट्रपति के पद पर आसीन है। वह देश चलाने के काम से लेकर वैज्ञानिक कार्यों में भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रही है। फिर भी स्त्री का शोषण कम नहीं हो रहा। यह एक बड़ा प्रश्न बना हुआ है। आज भी देश के हर एक गांव और शहर में कोई न कोई स्त्री बलात्कार की पीड़ा को सह रही है तथा पुरुषवादी मानसिकता की शिकार हो रही है। सिमोन द बोउवार ने 'द सेकेण्ड सेक्स' में इस पितृसत्तात्मक समाज की पोल खोली है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्रियों को भोग की दृष्टि के अलावा और किसी दृष्टि से देखा ही नहीं गया है और अगर मान लिया जाए कि देखा गया है, तो गुलाम के अलावा उन्हें कुछ समझा ही नहीं गया। आधुनिक राष्ट्र-राज्य के दौर में राजनैतिक (आजादी) के बदलते सामाजिक परिदृश्य में स्त्री जीवन की

समस्याएँ स्त्री-लेखन में प्रतिबिंत होती हैं। समकालीन दौर में स्त्री समस्याओं की जटिलता बढ़ गई है। शिक्षा से आई चेतना और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भरता ने स्त्री के 'विकास' की संभावना के नए द्वार खोल दिए हैं। अब स्त्रियों को घर के साथ ही साथ बाहर का भी काम की दोहरी जिम्मेदारी उठानी पड़ती है। स्त्रियों की आजादी के अंतर्विरोधों का विश्लेषण समकालीन हिन्दी उपन्यासों के माध्यम से किया गया है। उदाहरणास्वरूप आज मीडिया सौंदर्य के नये-नये प्रतिमान गढ़ रहा है। सवाल यह है कि नये-नये प्रतिमान सिर्फ स्त्रियों के लिए ही क्यों? पुरुष के लिए क्यों नहीं? क्यों फेयर एन लवली का विज्ञापन एक स्त्री को गोरा होने के लिए दिखाया जाता है ? स्त्री को ही हमेशा सुन्दर होने के लिए प्रेरित क्यों किया जाता है? स्त्री को एक कार्यशील वर्ग और उपभोगता वर्ग के रूप में पहचान कर उदारवाद और बाजारवाद ने मोहरा बनाया है। स्त्री की 'सुपरवुमन' की छवि इसी व्यवस्था के तहत गढ़ी गई है जिसका उदाहरण चयनित उपन्यासों में मिलता है। जहाँ स्त्री तमाम परिस्थितियों में भूमिका-द्वन्द्व के रूप में झेलती है।

अगर हम 50 वर्षों का आंकड़ा उठा कर देखें तो आज भी अनुपात स्त्रियों के विकास के बहुत कम है। स्त्रियाँ भी वर्गों में बंटी हुई हैं। खेतों में काम करने वाली या मजदूर स्त्री शुरू से आजाद रही हैं। वे मेहनतकश तथा अपने पति पर कम निर्भर रहती हैं। इस तरह की स्त्रियाँ अपने घर-परिवार को खुद चलाने में सक्षम होती हैं क्योंकि ये आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होती हैं। इसके विपरीत मध्यवर्गीय स्त्री अपने पति पर परजीवी रहती हैं। आर्थिक रूप से पति या पिता पर निर्भर होती हैं। रूढ़िवादी अंधविश्वास इनके यहां ज्यादा होता है। भारतीय समाज में सामंतवादी और पितृसत्तात्मक व्यवस्था शुरू से अपनी गहरी जड़ें जमाए हुए है जिसमें स्त्रियाँ पारंपरिक बेड़ियों में जकड़ी हुई थीं। वह चारदीवारी में कैद होकर रह गई थी जिसके कारण बाहरी दुनिया की आबो-हवा से अछूती थी। लेकिन आज 21वीं सदी में स्त्री अपनी आवाज को बुलन्द कर रही है। क्या ऐसे समय में लेखकों द्वारा स्त्रियों को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास उसके साथ न्याय कर पा रहा है? इसे देखने और परखने की हमें जरूरत है। आज स्त्री विमर्श का युग है। इस युग में स्त्री को जीवन में थोड़ी सहूलियत मिली है। पहले स्त्री जिस तरह से पितृशाही समाज में गुलाम थी आज वह कुछ हद तक आजाद दिखती हैं। आज स्त्री शिक्षित होकर अपनी पीड़ा को लिख रही है। आज वह शिक्षित, आत्मनिर्भर और अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। अपनी अस्मिता और अस्तित्व की लड़ाई वह स्वयं लड़ रही है और सफल भी हो रही है। वह आज हर क्षेत्र में अपनी पहचान बना रही है। पुरुष किसी न किसी रूप में (पिता, पति, प्रेमी आदि) स्त्री के करीब रहता है तो वह स्त्री मन की पीड़ा को भी अच्छी तरह से समझता है। यही कारण है कि जब स्त्री अस्मिता, स्त्री संघर्ष को केन्द्र में रखकर वर्तमान में कई उपन्यास

लिखे जा रहे हैं तो यह सिर्फ स्त्री द्वारा ही नहीं बल्कि पुरुष उपन्यासकारों द्वारा भी दर्शाया जा रहा है। दरअसल समकालीन समय में स्त्री विमर्श की बात करें तो वह दो ध्रुवों पर टिका हुआ दिखता है। एक ओर तो परंपरा से बंधी स्त्री की छवि दिखाई पड़ती है तो दूसरी ओर होम ब्रेकर यानि अति आधुनिक स्त्री की छवि। वास्तव में पितृसतात्मक समाज ने स्त्री को कभी स्त्री के रूप में रहने ही नहीं दिया। वह हमेशा पुरुष के अधीन बनकर रही है। भूमंडलीकरण के कारण स्त्री की सामाजिक स्थिति में बदलाव आया। अब स्त्री खुले आकाश में सांस लेने लगी है

समकालीन समय में पुरुषों द्वारा जो भी उपन्यास लिखे जा रहे हैं उसमें स्त्री-जीवन के विविध पक्ष जैसे पति- पत्नी के बनते बिगड़ते संबंध को रेखांकित किया जा रहा है। आज स्त्री मुक्ति की बात भी पुरुष उपन्यासकारों के उपन्यासों का प्रमुख मुद्दा है। भूमंडलीकरण ने आज पूरी दुनिया को एक जगह लाकर सीमित कर दिया है। आज के समय में घर बैठे लोग देश-दुनिया की खबरें जान पा रहे हैं। ऐसे समय में स्त्री के जीवन में भी बहुत बड़ा बदलाव आया है। इसे स्त्री हो या पुरुष झुठला नहीं सकता है। कई ऐसे पुरुष उपन्यासकार हैं जो स्त्री-जीवन के हर एक पक्ष पर निरपेक्ष होकर लिख रहे हैं जहाँ उनकी पुरुष मानसिकता हावी नहीं होती। एक महत्वपूर्ण लेखक वही कहलाता है जो अपनी रचना में अपनी विकृत मानसिकता को न परोसे। रचनाकार को हमेशा निष्पक्ष होना चाहिए। इसी संदर्भ में हम विष्णु प्रभाकर कृत 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास को देख सकते हैं। इस उपन्यास में जिस समस्या को रेखांकित किया गया है वह समस्या आज के समाज की एक ज्वलंत समस्या को रेखांकित करता है। आज भी हमारे समाज में बलात्कार की घटनाएं कम नहीं होती। जहाँ स्त्री के शरीर के साथ उसकी आत्मा भी कुचली जाती है। जिस समस्या का निराकरण नहीं हो पा रहा है। समाज आज भी इस समस्या से जूझ रहा है। इस उपन्यास की नायिका बलात्कार से पीड़ित औरतों की मानसिकता पर शोध करती है। जबकि वह खुद बलात्कार के पीड़ा को भुगत चुकी होती है। किस तरह एक स्त्री बलात्कार के बाद अपने मानसिक स्थितियों से जूझती है। कुछ स्त्री आत्महत्या कर लेती है तो कुछ सशक्त होकर अपने जीवन में आगे बढ़ जाती हैं। इस तरह के मुद्दों पर भी पुरुष का कलम चला है। यानी एक पुरुष उपन्यासकार स्त्री के भावनाओं को सही ढंग से अभिव्यक्त कर सकता है लेकिन वह उसका अपना भोगा यथार्थ नहीं होता है। यहीं पर आकर स्त्री और पुरुष लेखन अलग हो जाता है। स्त्री जो भी लिखती है वह उसका भोगा हुआ सत्य होता है। उसमें उसकी अपनी पीड़ा की अनुभूति होती है। दरअसल जब औरत भोगा हुआ सच लिखती है तो उसमें एक अनुभूति की प्रमाणिकता आती है। वह कल्पना का सहारा लेती है पर अनुभूति की ईमानदारी और सच्चाई भोगे हुए सच में ही होती है। उसमें जीवन्तता होती है।

पिछले बीस वर्षों के उपन्यासों का विश्लेषण करें तो हम देख सकते हैं कि सबसे ज्यादा उपन्यास स्त्री मुद्दों पर ही केन्द्रित रहे हैं। कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी' में एक बोल्ड स्त्री की छवि को प्रस्तुत किया गया है। उषा प्रियंवदा की 'रुकोगी नहीं राधिका','पचपन खंभे लाल दीवारें' और 'शेष यात्रा' में रूढ़ियों और परंपराओं के बीच पेंडुलम की तरह झूलती आधुनिक स्त्री की तस्वीर है, जो अपनी अस्मिता की जमीन तलाश रही हैं। मन्नू भंडारी का उपन्यास 'आपका बंटी' हिन्दी साहित्य जगत में मील का पत्थर है। यह उपन्यास अपने समय के स्त्री-जीवन की समस्या को व्यक्त करता है। शकुन के जीवन की त्रासदी के माध्यम से लेखिका सम्पूर्ण स्त्री-जीवन की त्रासदी को दिखाती है। भारतीय समाज की सामाजिक व्यवस्था ऐसी है कि स्त्री-पुरुष वैवाहिक विच्छेद के बारे में सोचते तो हैं लेकिन अपने बच्चे का ख्याल आते ही वे समझौतावादी रवैया अपना लेते हैं। इस तरह 95 प्रतिशत लोगों का अलगाव नहीं हो पाता। फलतः पूरा परिवार घुटन का अनुभव करता है। 'आपका बंटी' में बच्चे के जीवन की त्रासदी के साथ ही साथ शकुन के जीवन की भी त्रासदी व्यक्त हुई है। आधुनिक समय में सामाजिक परिदृश्य बदला है। आज के सामाजिक परिदृश्य में स्त्रियाँ सिर्फ शिक्षित ही नहीं हुईं, बल्कि अपनी पीड़ा को खुद लिख रही हैं। मसलन स्त्री जीवन से संबंधित कई रचनाएं लिखी जा रही हैं जिसमें स्त्री के जीवन का चित्रण मिलता है। दरअसल स्त्रियों के जीवन पर स्त्री और पुरुष दोनों लिख रहे थे लेकिन तब स्त्रियों की संख्या कम मात्रा में थी। एक तरह से देखा जा सकता है कि बीसवीं सदी में स्त्री लेखिकाओं ने लिखना शुरू किया और लिखना शुरू ही नहीं किया बल्कि जब लिखने लगीं तो इतिहास ही रच दी। जिसमें महादेवी वर्मा का नाम लिए बिना आगे बढ़ना कहीं न कहीं स्त्री-जीवन से संबंधित रचना विमर्श से अन्याय करना है। महादेवी वर्मा का गद्य स्त्री-जीवन की समस्या पर केन्द्रित है।

इसके बाद तो कई लेखिकाएं साहित्यिक फलक पर आईं। कृष्णा सोबती ने तो 'मित्रो मरजानी ' लिख कर साहित्यिक जगत में हलचल मचा दिया। ये लेखिकाएं अपने अधिकारों की बात करने लगीं। समाज में पितृसत्ता के चुनौतियों को स्वीकार करने लगीं। एक तरह से अस्सी-नब्बे के हिन्दी साहित्य जगत में स्त्री लेखिकाओं की बाढ़ सी आ गई। इस समय स्त्रियाँ ज्यादा मुखर हुई। गौरतलब है कि बीसवी सदी के अंतिम दशक में लिखी गई रचनाओं में स्त्री अपने को एक नए सिरे से तलाश करती हुई नजर आती है। चाहे कृष्णा सोबती के स्त्री पात्र को लिया जाए या जिस तरह मन्नू भंडारी पारिवारिक विघटन पर लिखती हैं, इस तरह की रचना पहले नहीं दिखाई देती हैं। अब स्त्रियों के पास आत्मदान जैसी अनुभूतियों की कोई जगह नहीं रह गई थी। इन स्त्रियों ने एक नई स्त्री पात्र को जन्म दिया। रिश्ते, परिवार, समाज में अब ये स्त्रियाँ एक नए स्त्री की व्याखा करने लगीं। आज पुरुष की परिधि से स्त्री

कुछ हद तक मुक्त हुई है, वह अपने जीवन को अपने तरह से जीने लगी है। वह पुरुषवादी मानसिकता का प्रतिरोध करने लगी है। उदाहरण के तौर पर 'छिन्नमस्ता' के प्रिया के जीवन को देख सकते हैं। वह विद्रोह कर बिजनेस के लिए लन्दन चली जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि स्त्री उपन्यासकार स्त्री-जीवन की पीड़ा को अपने अनुभव के आधार पर यथार्थ रूप में अपने उपन्यासों में चित्रित कर रही हैं। स्त्री के दुख, पीड़ा को ज्यादा अच्छी तरह से स्त्री रचनाकार लिखने लगीं क्योंकि यह स्त्री का अपना यथार्थ था। इन दशकों में प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, अलका सरावगी, शरद सिंह, मधु कांकरिया, नासिरा शर्मा, मनीषा कुलश्रेष्ठ, अनामिका आदि लेखिकाओं ने अपनी रचनाओं में स्त्री-जीवन को उभारा है। इन्होंने अपने उपन्यासों में एक स्त्री की सिसकती पीड़ा तथा बनती बिगड़ती दुनिया को बहुत ही अच्छे तरीके से अभिव्यक्त किया है। समाज में स्त्री-पुरुष संबंधों को खंगाले तो पहले की तुलना में आज काफी बदलाव आया है जैसे कि सामंती समाज में स्त्री की जो स्थिति थी, वह आज नहीं है। बहुत ज्यादा तो नहीं लेकिन आज स्त्री अपनी पीड़ा लिख रही है। यह भी एक सामाजिक बदलाव है। इस सामाजिक बदलाव से सांस्कृतिक नैतिक मूल्य भी बदलते हुए दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आज स्त्री पुरुष सत्ता से बिना डरे अपनी पीड़ा को रेखांकित करने लगी है। आज स्त्री उपन्यासकारों का लेखन गुणवत्ता की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। स्त्री उपन्यासकार अपनी लीक से हटकर लिखने लगी हैं। सामाजिक रूप से तथा साहित्यिक जगत में यह एक नया बदलाव है। 'मैनेजर पाडेण्य ने 1990 के दशक को 'स्त्री के काल' के नाम से संबोधित किया है। नारीवादी आंदोलन के बाद स्त्री सशक्त तथा चेतन संपन्न हुईं। आजादी के पहले वाले समाज में किसानों की समस्या ही महत्वपूर्ण थी और ज्यादातर उपन्यास किसानों की समस्याओं पर लिखे गए। उसी तरह आजादी के बाद के उपन्यासों में स्त्री की समस्या केन्द्र में आ गई और आज खुलकर स्त्री-जीवन पर लिखा जा रहा है।

प्रभा खेतान 'छिन्नमस्ता' उपन्यास में समाज का काला-चिट्ठा खोलती हैं। वह बेबाक तरीके से सामाजिक मुखौटे को उतारती हैं। जहाँ स्त्री को भोग की वस्तु के सिवा कुछ माना ही नहीं गया है। वैसे हालात में अगर एक स्त्री अपनी रचना के द्वारा सामाजिक मुखौटे के भीतर की परत खोलती है तो यह एक छोटी बात नहीं है। 'आवां' में स्त्री की कोख की समस्या प्रमुख है। 'सेज पर संस्कृत' उपन्यास में जैन-धर्म के खोखलेपन के जरिए, धार्मिक आड़ में शोषित स्त्री की कथा है। 'चाक' में ग्रामीण स्त्री-जीवन की समस्या को उजागर किया गया है। कहना न होगा कि अब सामाजिक परिदृश्य बदल चुका था। सवाल यह उठता है कि ऐसी कितनी स्त्रियाँ हैं? आज भी स्त्री की नियति सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मापदंडों पर ही तय होता है। अतः कह सकते हैं कि जब तक पुरुषों की मानसिकता नहीं बदलेगी तब तक स्त्री उत्थान की बात बेमानी होगी। स्त्री के बिना पुरुष अधूरा होता है उसी तरह स्त्री भी

पुरुष के बिना अधूरी होती है। अगर प्रकृति की बात की जाए तो स्त्री ही सृष्टि का निर्माण करती है। स्त्री और पुरुष के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती । इसलिए सामाजिक परिदृश्य में एक स्त्री को सम्पूर्णता में स्वीकार किया जाना चाहिए तथा एक ऐसे समाज की निर्मिति होनी चाहिए जहाँ स्त्री और पुरुष बराबर हों तथा लैंगिक भेद-भाव न रहे।

समकालीन उपन्यासों में भी स्त्री पुरुष उपन्यासकारों के उपन्यासों में स्त्री-जीवन से संबंधित दृष्टि में अंतर दिखता है। स्त्री और पुरुष दोनों का जीवन अनुभव अलग होता है क्योंकि सामाजिक परिवेश दोनों के अलग होते हैं। स्त्री-जीवन के संबंध में स्त्री और पुरुष उपन्यासकारों का दृष्टि-भेद तो हो ही सकता है । कहीं कहीं स्त्री-पुरुष उपन्यासकार का दृष्टिकोण समान भी होता है । समानता और असमानता दोनों के लेखन में देखी जा सकती है। स्त्रियों का समाज देखने का नजरिया अलग होता है क्योंकि स्त्रियाँ ज्यादातर घर में रहती हैं। यह अलग बात है कि जो स्त्रियाँ पढ़-लिख रही हैं उनके लिए समाज देखने का नजरिया बदला है लेकिन पितृसत्तात्मक समाज स्त्री को उतनी छूट नहीं देता है।

स्त्री जब उपन्यास लिखती है, उपन्यास में स्त्री की आवाज होती है। वह अपनी नजर से राष्ट्र, आधुनिकता और बुद्धिवाद को देखती है। स्त्री के उपन्यास में बाहरी दुनिया के अलावा स्त्री का अपना खास वैयक्तिक परिवेश और अनुभव होता है। जिसे वह खुद भोगती है। स्त्री के लेखन में स्त्री का सच होता है। पुरुष की भाषा और स्त्री की भाषा में अंतर होता है। यह अंतर इसलिए है क्योंकि पुरुष और स्त्री की मानसिकता में संस्कारों का फर्क होता है। पुरुष की मानसिकता पर पितृसत्तात्मक समाज का संस्कार हावी रहता है जिसे बचपने से उसे घुट्टी की तरह पिलाया जाता है। जबकि स्त्री की मानसिकता पर उसके परिवेश का नियंत्रण होता है।

स्त्री-जीवन पर केन्द्रित तथा स्त्रियों द्वारा लिए गए उपन्यास जैसे 'आवा', 'छिन्नमस्ता', 'पिछले पन्नों की औरतें', 'तिनका तिनके पास', 'त्रियाहठ', 'सेज पर संस्कृत', 'कलीकथा वाया बाईपास', 'कुइयांजान', तथा पुरुषों द्वारा स्त्री-जीवन पर लिखे गए उपन्यासों में 'मुझे चांद चाहिए', 'मुन्नी मोबाइल', 'अर्द्धनारिश्वर', 'रेहन पर रग्घू', 'सुन्नर पांडे की पतोह' उपन्यासों में समानता के बिन्दुओं के साथ असमानता के बिन्दु अधिक दिखाई पड़ते हैं। स्त्रियों द्वारा तथा पुरुषों द्वारा लिखे गए उपन्यासों में स्त्री के सामाजिक, आर्थिक तथा दैहिक शोषण को दिखाया गया है। शोषण से लड़ने की प्रवृति भी यहाँ विद्यमान मिलती है। बलात्कार जैसे जघन्य अपराध तथा बलात्कार के पश्चात टूटी हुई मानसिक स्थिति से उबरने की स्थिति तथा खुद को सशक्त कर जीवन की राह में आगे बढ़ने की प्रवृति भी विद्यमान है। घर-परिवार, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी बुनियादी जरूरतों से वंचना को दोनों ने ही अपने

उपन्यासों में व्यक्त किया है। दोनों ने ही स्त्री की मानसिक यातना को व्यक्त किया है तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर चोट की है।

स्त्री तथा पुरुष दृष्टिकोण में कुछ बुनियादी अंतर दिखाई पड़ते हैं। स्त्री उपन्यासकार यथार्थ का नग्न चित्रण करती हैं, शोषण का खुला रूप इनके लेखन में मिलता है। स्त्री लेखन में दैहिक शोषण तथा यौन शोषण केन्द्र में होता है। घर-परिवार से लेकर दफ्तर तक शोषण के विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति इनके उपन्यासों में हुई है। स्त्री उपन्यासकारों ने एक तरह से व्यवस्था को तोड़कर अपने अधिकारों को प्राप्त करना चाहा है वहीं पुरुष उपन्यासकारों ने व्यवस्था के भीतर सुधार की बात की है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1. अनामिका - *तिनका तिनके पास*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
2. अमरकांत - *सुन्नर पांडे की पतोह*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
3. अलका सरावगी - *कलीकथा वाया बाईपास*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
4. काशीनाथ सिंह - *रेहन पर रग्घू*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
5. कृष्णा सोबती - *समय सरगम*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000
6. चित्रा मद्गल – *आवां*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999
7. नासिरा शर्मा - *कुइयांजान* , सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
8. प्रभा खेतान – *छिन्नमस्ता*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
9. प्रदीप सौरभ - *मुन्नी मोबाइल*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
10. मैत्रेयी पुष्पा - *त्रियाहठ,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
11. मधु काँकरिया - *सेज पर संस्कृत*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
12. विष्णु प्रभाकर – *अर्द्धनारिश्वर,* किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992
13. शरद सिंह - *पिछले पन्नें की औरतें*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005
14. सत्यनारायण पटेल - *गाँव भीतर गाँव*, आधार प्रकाशन, पंचकूला हरियाणा, 2015
15 सुरेन्द्र वर्मा - *मुझे चांद चाहिए*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1993

सहायक ग्रंथ

- अनामिका - *स्त्री का मानचित्र*, सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1990
- अनामिका - *स्त्री-मुक्तिः साझा चूल्हा*, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली, संस्करण-2010
- अर्चना वर्मा - *अस्मिता विमर्श का स्त्री-स्वर*, मेघा बुक्स, दिल्ली, संस्करण-2008
- अरविन्द जैन - *औरत होने की सजा*, राजकमल प्रकाशन पेपर बैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-1996
- अरविन्द जैन - *औरत अस्तित्व और अस्मिता*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2001
- अरविन्द जैन - *उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2001
- अरविन्द जैन - *बचपन से बलात्कार*, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004
- अभय कुमार दुबे (सं) - *भारत का भूमंडलीकरण*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007
- आशारानी व्होरा – *नारी शोषण आइने और आयाम*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-1986
- अरविन्द जैन - *स्त्री मुक्ति का सपना*, लीलाधर मंडलोई (संपा.) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009
- ऑयन् वॉट - *उपन्यास का उदय*, (डॉ. धर्मपाल सरोन अनु.) हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, प्रथम संस्करण-1974

- आ. ह. सालुंखे - *हिन्दू संस्कृति और स्त्री*, किशोर दिवेश (अनु.) , संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण-2014
- उमा शुक्ला - *भारतीय नारीः अस्मिता की पहचान*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1994
- उमा चक्रवर्ती - *जाति समाज में पितृसत्ता*, विजय कुमार झा (अनु.) ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011
- एलीन मारगन - *नारी का अवतार*, संवाद प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010
- एंगेल्स - *परिवार, निजी संपत्ति और राज की उत्पत्ति,* पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, सं-2010
- कमला भसीन - *पितृसत्ता क्या है*, जागोरी, मालवीय नगर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1994
- कात्यायनी - *दुर्ग द्वार पर दस्तक*, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण, 2004
- कृष्ण कुमार - *चुड़ी बाजार में लड़की*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2014
- कुमुद शर्मा - *आधी दुनिया का सच*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011
- गीतांजलि श्री (संपा) - *नागपाश में स्त्री*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010
- गोपाल राय - *हिन्दी उपन्यास का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2005
- गोपाल राय - *उपन्यास की संरचना*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012
- गोपा जोशी (डॉ.) - *भारत में स्त्री असमानता एक विमर्श*, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006
- चित्रा मुद्गल - *मेरे साक्षात्कार*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010

- जगदीश्वर चतुर्वेदी - *स्त्रीवादी साहित्य विमर्श*, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000
- जगदीश्वर चतुर्वेदी और सुधा सिंह (संपा) -*स्वाधीनता संग्राम हिन्दी प्रेस और स्त्री का वैकल्पिक क्षेत्र*, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006
- जॉन स्टुअर्ट मिल - *स्त्रियों की पराधीनता*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2002
- जितेन्द्र श्रीवास्तव - *उपन्यास की परिधि*, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2015
- जैनेन्द्र कुमार - *काम, प्रेम और परिवार*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015
- रामचन्द्र तिवारी (डॉ.) - *हिन्दी का गद्य-साहित्य*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-2014
- तेज सिंह - *अंबेडकरवादी स्त्री-चिंतन*, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011
- ताराबाई शिंदे - *स्त्री-पुरुष तुलना,* संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण-2002
- ज्योतिष जोशी - *उपन्यास की समकालीनता*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2007
- .धर्मवीर (डॉ) - *सीमन्तनी उपदेश*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004
- नीरजा माधव - *हिन्दी साहित्य का ओझल नारी इतिहास*, सामायिक बुक्स प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
- परमानन्द श्रीवास्तव - *उपन्यास का पुनर्जन्म*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1995
- रमाबाई (पं.) - *हिन्दू स्त्री का जीवन,* शंभू जोशी (अनु.) संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण-2006
- प्रभाकर सिंह (सं) - *उपन्यासः मूल्यांकन के नये आयाम*, प्रोग्रेसिव बुक सेण्टर, वाराणसी, संस्करण-2014

- प्रभा खेतान - *बाजार के बीचः बाजार के खिलाफ*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004
- प्रभा खेतान - *उपनिवेश में स्त्री,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003
- प्रभा खेतान - *भूमंडलीकरण ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र,* सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं-2014
- बजरंग बिहारी तिवारी - *दलित साहित्य एक अन्तर्यात्रा*, नवारूण प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण-2015
- बिपीन चंद्र - *समकालीन भारत*, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रकाशन, 2011
- बी आर आंबेडकर (डॉ.) - *हिन्दू नारी का उत्थान और पतन,* सर्वाधिकार सुरक्षित (अनु.) सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003
- भगवत शरण उपाध्याय - *खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004
- महादेवी वर्मा – *श्रृंखला की कड़ियाँ*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2008
- मृणाल पाण्डे - *स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति तक*, राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम संस्करण-1987
- मुद्राराक्षस - *स्त्री, दलित और जातीय दंश,* गौतम बुक सेन्टर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2011
- मधुरेश - *हिन्दी उपन्यास का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996
- मधुरेश- *हिन्दी उपन्यास सार्थक की पहचान*, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002

- मेरी वोल्सटन क्राफ्ट - *स्त्री अधिकारों का औचित्य*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2003
- मैत्रेयी पुष्पा - *खुली खिड़कियां*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009
- मैत्रेयी पुष्पा - *सुनो मालिक सुनो*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006
- मैत्रेयी पुष्पा - *मेरे साक्षात्कार*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010
- मैनेजर पाण्डेय (डॉ.) - *साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका*, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्रथम संस्करण-1974
- रमणिका गुप्ता - *स्त्री विमर्शः कलम और कुदाल के बहाने*, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2010
- रमेश कुमारी - *संस्कृति, साहित्य और स्त्री,* अकादमिक प्रतिभा, संस्करण-2008
- रवीन्द्र कुमार पाठक - *जनसंख्या समस्या के स्त्रीपाठ के रास्ते*, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण-2010
- रवीन्द्र कालिया- *प्रेमचंदः दलित एवं स्त्री विषयक विचार*, जितेन्द्र श्रीवास्तव (संपा) भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2012
- रजनी तिलक - *सावित्री बाई फुले*, सेन्टर फॉर ऑल्टरनेटिव दलित मीडिया, नई दिल्ली, संस्करण-2002
- राजकिशोर (संपा) - *स्त्री परंपरा और आधुनिकता*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2010
- राजकिशोर (संपा) - *स्त्री के लिए जगह*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1994
- राधा कुमार - *स्त्री संघर्ष का इतिहास*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2002

- राजेन्द्र यादव- *आदमी की निगाह में औरत* , राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करणण-2013
- रामदरश मिश्र - *हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1968
- रोमिला थापर - *भारत का इतिहास*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007
- रोहिणी अग्रवाल - *समकालीन कथा साहित्य सरहदें और सरोकार*, आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण-2007
- रोहिणी अग्रवाल - *हिन्दी उपन्यास का स्त्री-पाठ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015
- रोहिणी अग्रवाल – *साहित्य का स्त्री-स्वर,* साहित्य भंडार, इलाहाबाद, संस्करण-2015
- रोहिणी अग्रवाल - *स्त्री लेखनः स्वप्न और संकल्प*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011
- राजेन्द्र यादव (संपा) - *पितृसत्ता के नए रूप, प्रभा खेतान*, अभयकुमार दुबे राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2010
- राजकिशोर (संपा) - *नैतिकता के नए सवाल*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006
- राजकिशोर (संपा)- *अश्लीलता का हमला*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1998
- राजेन्द्र यादव- *देहरि भई विदेश*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013
- राजेन्द्र यादव, अरचना वर्मा – *औरतः उत्तरकथा*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002

- रेखा कस्तवार - *स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006
- विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े - *भारतीय विवाह संस्था का इतिहास*, प्रगति पुस्तक प्रकाशन, पुणे, सं-2008
- वीरेंन्द्र कुमार - *हिन्दी उपन्यासों में मार्क्सवादी चेतना*, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1994
- वीरेन्द्र यादव - *उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2009
- वैभव सिंह - *भारतीय उपन्यास और आधुनिकता*, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), प्रथम सं-2012
- शशिकला त्रिपाठी - *उत्तरशती के उपन्यासों में स्त्री*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-2006
- शशिकला राय - *इस्पात में ढलती स्त्री*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008
- शीला झुनझुवाला - *कुछ कही कुछ अनकही*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2012
- संजय गर्ग (डॉ.) - *स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2012
- सरला माहेश्वरी - *नारी प्रश्न,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1998
- संजीव चंदन (संपा) - *चौखट पर स्त्री*, किशन कालजयी अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015

- श्रीराम शर्मा (संपा)- *समकालीन हिन्दी साहित्यः विविध विमर्श*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009
- श्री धरम – *स्त्रीः संघर्ष और सृजन*, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण-2008
- वी. के. अब्दुल जलील - *समकालीन हिन्दी उपन्यास* (समय और संवेदना), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006
- सिमोन द बोउवार - *स्त्री उपेक्षिता,* प्रभा खेतान (अनु.) हिन्दी पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, संस्करण, 2002
- सुमन राजे - *हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2002
- साधना आर्य, निवेदिता मेनन, जिनी लोकनीता (संपा) - *नारीवादी राजनीतिः संघर्ष एवं मुद्दे,* हिन्दी माध्यम कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, संस्करण-2001
- सुमन राजे - *इतिहास में स्त्री*, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2012
- सुधा अरोड़ा - *एक औरत की नोटबुक*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2015
- सुधा सिंह- *ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ*, ग्रंथ शिल्पी, प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008
- हेमलता महिश्वरी - *स्त्री लेखन और समय के सरोकार*, नेहा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2006
- क्षमा शर्मा - *स्त्रीवादी विमर्श समाज और साहित्य*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2002

पत्र-पत्रिकाएँ-

- समकालीन सरोकार (आखिर क्यूँ लिखती हैं स्त्रियाँ), मार्च 2013
- सं-हरिनारायण, कथादेश, मार्च 2013
- जनमत (अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस), मार्च 2013
- सं- राजेन्द्र यादव, हंस, जनवरी- फरवरी, 2000
- सं- राजेन्द्र यादव, हंस, सितम्बर, 2000
- सं-विजय बहादूर सिंह, वागर्थ, नवम्बर 2010
- जनमत, मई 2006 (इतिहास निर्माण और महिलाएं)
- आलोचना, अक्टूबर - दिसंबर 2012
- आजकल, (स्त्री विमर्शः भारतीय संदर्भ में), मार्च 2008
- प्रतिमान, जनवरी - जून 2013
- सृजन संवाद (आलोचना पर विशेष), अंक 11 दिसंबर 2011
- स्त्रीकाल, अंक - 6 अप्रैल, 2009
- आजकल, मार्च 2008
- जनकृति, जनवरी 2015